आर्थिक विकास का कीन्सीय सिद्धान्त

The Keynsian Theory of Economic Development

आर्थिक विकास का केन्सीय सिद्धान्त

Keynsian Theory of Economic Development

मूल लेखक :

कॅनेथ के० कुरीहारा

अनुवादक :

श्री लाल मोहर राय

भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय, की मानक ग्रंथों की
प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशित

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय,
भारत सरकार
1969

प्रथम सस्करण, वर्ष 1969

प्रस्तुत पुस्तक सर्व श्री जार्ज एलिन और अनविन लिमिटिड द्वारा प्रकाशित केनेथ के० कुरीहारा की अंग्रेजी पुस्तक Keynsian Theory of Economic Development के सन् 1961 मे प्रकाशित सस्करण का हिन्दी अनुवाद है तथा इस पुस्तक का अनुवाद और पुनरीक्षण भारत सरकार शिक्षा मंत्रालय की मानक ग्रथो की प्रकाशन योजना के अतर्गत वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के शतप्रतिशत अनुदान से हुआ है।

मूल्य : रु० 4.10 पैसे □ *Price* : Rs. 4.10 Paise

प्रधान प्रकाशन अधिकारी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित तथा राकेश प्रेस, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक-से-अधिक संख्या में तैयार किए जाएँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा-संस्थाओं में एक ही पारिभाषित शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

आर्थिक विकास का केन्सीय सिद्धान्त नामक पुस्तक हिंदी वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक कैनेथ के० कुरीहारा और अनुवादक श्री लाल मोहर राय हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

बाबू राम सक्सेना
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

नई दिल्ली
मार्च, 1969

प्राक्कथन

इस पुस्तक का उद्देश्य सामान्य रूप से आर्थिक विकास एवं विशेष रूप से अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास की तकनीकी सम्भावनाओं एवं सीमाओ का स्पष्टीकरण है। इस विचार-वस्तु को तीव्र बनाने के लिए, इस पुस्तक में आद्योपात हमने स्वेच्छया अल्प-विकसित एव विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की विकास-सम्बन्धी विभिन्न समस्याओ का तुलनात्मक विवेचन किया है। प्रस्तुत सामाजिक एव सांस्कृतिक परिस्थितियो मे, परिचालन की दृष्टि से, आर्थिक विकास के महत्त्वपूर्ण उपकरणो की व्याख्या करना हमारी प्रधान अभिरुचि रही है। तदनुसार, हमने उन माध्य परिवर्त्तियो के बीच के उन सम्बन्धों को चुना है, जिन पर प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय की वृद्धि मुख्य रूप से निर्भर करती है और ऐसी मान्यताओं के आधार पर विश्लेषण के योग्य सरल और उपादेय परिणाम निकल सकता है। इसके लिए, विभिन्न अध्यायो को, जो यद्यपि अपने-आप मे अपूर्ण हैं, इस रूप मे नियोजित किया है कि ये सयुक्त रूप से एक सैद्धान्तिक समग्रता की स्थापना कर सकें और अल्प-विकसित देशों के औद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्यक्रम की पूरी योजना के निर्माण मे सहायक हो सकें।

अभिस्वीकृति के तौर पर इस पुस्तक के शीर्षक मे व्यक्त केन्सीय ढाँचे के उल्लेख के प्रति हम अपने पूर्व-स्नेह को कई आधार पर न्यायोचित ठहरा सकते है। प्रथमतः, और समसामयिक रूप मे यह पुस्तक आ० एफ० हैरोड तथा श्रीमती जोन रॉबिन्सन का, जिन्होने, जैसा कि केन्स के पारगत शिष्यों से कोई भी आशा कर सकता है, केन्स के अल्पकालीन सिद्धान्त को दीर्घकालिक तथा गत्यात्मक बनाने के लिए बहुत कुछ किया है, बहुत अधिक ऋणी है। यह पुस्तक विशेष रूप से हैरोड के विकास-सम्बन्धी विश्लेषण के लिए मार्ग तैयार करने वाले उपकरणों तथा अल्प-विकसित देशों मे केन्सीय गत्यात्मकता के सम्भावित प्रयोगो के सम्बन्ध मे श्रीमती जोन रॉबिन्सन के चुनौतीपूर्ण सुझाव के बगैर नही लिखी गयी होती,* किन्तु जैसा कि पाठक

---

* श्रीमती रॉबिन्सन का सुझाव इनके "मि० हैरोड्स डायनेमिक्स" इकानामिक जनरल (मार्च, 1940) मे पाया जाएगा। श्रीमती रॉबिन्सन की नयी पुस्तक "दि एकुमुलेशन ऑफ कैपिटल" हमें प्राप्त होने के पूर्व इस पुस्तक का बड़ा भाग तैयार हो चुका था। फिर भी इनकी नयी पुस्तक के सम्बन्ध मे मेरी विलम्बित

आगे चल कर देखेंगे, हमें इनकी रचनाओं में प्रयुक्त विश्लेपण के विशिष्ट उपकरणों से असहमति प्रकट करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं रही है। यद्यपि यह पुस्तक श्री हैरोड तथा श्रीमती रॉबिन्सन की केन्सीयोत्तर भावना से लिखी गई है। तथापि इसके शीर्षक में 'केन्सीयन्त्र' शब्द का प्रयोग इसे अन्य पुस्तकों से विशिष्ट बनाने के लिए किया गया है, जो स्पष्ट रूप से नव संस्थापकीय, "मार्क्सियन" या "शुम्पीटेरियन" है।

द्वितीयतः, अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के प्रति केन्स के तकनीकी, बहुराष्ट्रीय निर्दलीय रुख द्वारा प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त उसकी दूर दृष्टि के प्रति यह रचना अपनी प्रारम्भिक अवधारणा तथा आधारभूत प्रेरणा के लिए आभारनत है। यह एक अपूर्व दूरदृष्टि है, जो पुनर्निर्माण तथा विकास के निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के सामान्य सिद्धान्तों में, जिनका केन्स बौद्धिक शिल्पी माना जाता था, स्थायी रूप से समाविष्ट है। तृतीयतः, फलमूलक विश्लेपण और नीति के लक्ष्य के रूप में आर्थिक विकास के लिए एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता जान पड़ती है, जो "केन्सीय सक्रियावाद" के अनुरूप हो, जिसे ए० सी० पीगू ने एक ऐसे आदर्श-निर्माण की संज्ञा दी है, जो पूर्वानुमानों की सहायता एवं नीति-सम्बन्धी मार्ग-निर्देशन के लिए सांख्यिकीय माप के हेतु ग्रहणशील तथ्यों के साथ निकटता रखता। चतुर्थतः, केन्स के नाम से सम्बद्ध राष्ट्रीय आय-विश्लेपण और राष्ट्रीय आर्थिक राजकौशल (statesman ship) ने परम्पराओं से बहुत अधिक अपसरण के बगैर अस्थायी समर्थ मांग की समस्या को मुख्यतः समाधान योग्य बना दिया है। इससे प्रत्येक मिश्रित राजकीय-सह-निजी अर्थ-व्यवस्था अब विश्वासपूर्वक तकनीकी सीमाओं के अन्तर्गत, किन्तु अस्थायित्व के द्वारा विस्थिति होने की अनिवार्यता के भय के बगैर प्रगति के लक्ष्य की दर को प्राप्त करने तथा उसे स्थिर बनाये रखने की दीर्घकालीन समस्या का समाधान निकाल सकती है।

अन्ततः, सामान्य सिद्धान्त (जेनरल थियरी) के अन्तिम अध्याय में वर्णित केन्स का सामाजिक दर्शन आर्थिक विकास के उस प्रतिफल, जो मानव मूल्यों के प्रति चेतनता से ओत-प्रोत, द्रुतगति से औद्योगिक विकास के लिए अत्यधिक उत्साह पर सुदृढ़ रूप से आधृत है, के मार्ग दर्शन के हेतु अपरिहार्य प्रकाश-गृह के रूप में जान पड़ता है। यह रूप एक ऐसे विश्वव्यापी आर्थिक विकास का प्रतिरूप है, जिसे केन्स ने द्वितीय युद्ध के बाद स्थापित होने वाले राष्ट्रों के नये प्रजातन्त्र के लिए सोचा था।

कई अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी स्वयं हमारे चिन्तन को यदि प्रभावित नहीं

प्रतिक्रिया इस पुस्तक के चौथे अध्याय में प्राप्त होगी। हैरोड की सुप्रसिद्ध पुस्तक "टूवार्ड्स ए डायनेमिक इकॉनोमिक्स" के सम्बन्ध में चर्चा की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है।

किया है, तो उत्तेजित अवश्य किया है, जैसा कि पाठक इस पुस्तक के आरम्भिक अध्याय मे वर्णित पूर्वाधिकारियो तथा अन्त मे दी गई सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची से अनुमान लगा सकते है। फिर भी, हम कुछ व्यक्तियों के प्रति, जो केन्स के विचारो के विस्तार तथा उनके अमल मे लाए जाने के हाल के हमारे प्रयास मे व्यक्तिगत रूप से सहायक रहे है, विशेप तौर से सम्मान व्यक्त करना चाहते हैं। हम कोलम्बिया-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर विलियम भाइकरे की तकनीकी ब्योरे पर सतर्क एव उपयोगी आलोचनाओ के लिए पूर्ववत् बहुत अधिक ऋणी है। रजर-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ब्रोडस माइकेल ने अलेग्जेन्डर हैमिल्टन के नेतृत्व मे अमेरिका के प्रारम्भिक विकास की शिक्षा-प्रद गाथाओ द्वारा हमारी कल्पना को प्रज्वलित किया है। जबकि प्रोफेसर राबर्ट अलेग्जेन्डर ने सिद्धान्तो के सभी स्तरों पर लैटिन अमेरिका की विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के आनुभविक आंकड़े हमारे लिए प्रस्तुत किये हैं। इओआ स्टेट कॉलेज के प्रोफेसर गरहार्ड टिंटनर ने बहुत सारी तकनीकी बातो की आलोचना से मुझे लाभान्वित किया है। कोयटा विश्वविद्यालय के आर्थिक विकास-अनुसधान-केन्द्र तथा ओसाका विश्वविद्यालय के सामाजिक एवं आर्थिक अनुसन्धान संस्थान के क्रमश: प्रो० हिडाओ ओया तथा सिन्ची इचीमूरा ने जापान की औद्योगिक प्रगति के अपने आत्मीय ज्ञान के आधार पर हमे बहुमूल्य सुझाव दिया है। सदा की तरह, ग्रिनेल कॉलेज के प्रेसिडेन्ट हावर्ड वोवेन ने मुझे उचित प्रोत्साहन प्रदान किया है। मेरी पत्नी, 'के' ने उस प्रकार की सहायता एव सहानुभूति दी है, जिसकी आवश्यकता हर-एक लेखक को गम्भीर रचनाओ के विक्षुब्ध श्रम मे बहुत अधिक होती है।

इन सभी मित्रों एवं सहयोगियो के हम बहुत अनुगृहीत हैं, किन्तु फिर भी, पाठकों द्वारा इस पुस्तक में पाये जाने वाले किसी भी अवगुण के लिए इनमें से किसी को भी उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता है। अपने लेखो को समग्र अथवा आंशिक रूप मे पुनः उद्धृत करने की अनुमति के लिए निम्नलिखित पत्रिकाओ के सम्पादकों के प्रति हम अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहते है : 'दि इंडियन जनरल ऑफ इकॉनामिक्स,' 'दि इंडियन इकॉनामिक जनरल,' 'दि मेट्रोकोनामिका,' 'दि फाइनान्सेज पब्लिक्स' (नीदरलैंड्स), 'दि इकॉनामिक स्टडीज क्वार्टर्ली' (जापान) तथा 'दि इकॉनामिक वीकली' (भारत)।

रजर-विश्वविद्यालय

केनेथ के० कुहीहारा

विषय-सूची

अध्याय 1

संस्थापक एवं संस्थापकोत्तर पूर्वाधिकारी

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त की अन्य शाखाओं की तरह आर्थिक विकास के आधुनिक सिद्धान्त का भी अपना एक अनन्य इतिहास है, जो एक साथ ही वर्तमान विकास के सिद्धान्त-निर्माण का अनुदर्शी तथा अति यथार्थवादी आदर्श-निर्माण का अग्रदर्शी है। इस क्षेत्र-विशेष में आर्थिक विचारधारा के आत्मनिष्ठ इतिहास से विभिन्न परिस्थितियों में आर्थिक विकास के वस्तु-निष्ठ इतिहास का एक समीचीन एवं समानपूर्ण नैकट्य है। अपेक्षाकृत एक व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए इस प्रारम्भिक अध्याय में ऐतिहासिक दृष्टि से विषमजातीय, किन्तु मूलतः समजातीय मानव-समुदायों के आर्थिक विकास की प्रकृति एवं कारणों के सम्बन्ध में संस्थापक एवं संस्थापकोत्तर विचारधाराओं की रूपरेखा प्रस्तुत की जाएगी। आर्थिक विकास के विशिष्ट क्षेत्र में समकालीन विचारधारा एवं कार्यक्रम-निर्धारण पर संस्थापक एवं संस्थापकोत्तर प्रभावों को इंगित करने के लिए पूर्वाधिकारियों का निम्नविवृत रूप में चुनाव किया गया है।

संस्थापक अंतर्दृष्टि एवं अग्रदृष्टि

आदम स्मिथ (1723-1790)

यह केवल संयोग की बात नहीं है कि आदम स्मिथ, जो न केवल ग्रेट-ब्रिटेन जैसे पहले से ही सर्वाधिक उन्नत औद्योगिक राष्ट्र में संस्थापक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, अपितु आर्थिक प्रगति की सामान्य प्रकृति एवं पूंजीवादी विकास के विशिष्ट कारणों की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले प्रथम व्यक्ति भी थे। इनमें पहले की सामान्यता दूसरे की विशिष्टता से अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि समसामयिक विकासवादी सिद्धान्त के प्रतिपादक आर्थिक प्रगति के सैद्धांतिक लक्ष्यार्थों का स्वागत या तिरस्कार करने की अपेक्षा, इसकी प्राविधिक शर्तों की परिपूर्त्ति में अधिक रुचि रखते हैं। इस सम्बन्ध में आदम स्मिथ की प्रधान त्रुटि यह थी कि वे सब समयों तथा स्थानों के लिए संगत स्थायी तत्वों तथा उन तत्वों के बीच, जो सीमित 'वैयक्तिक पूंजीवाद' पर लागू हो सकते हैं, स्पष्टरूप से विभेद नहीं कर सके।

अतएव, उनकी अबंध-नीति, अधिकतम प्रतियोगिता, मुक्त व्यापार, वैयक्तिक तथा सार्वजनिक हितों में सामंजस्य लाने वाला उपक्रमी तथा वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय सद्गुण के रूप में मितव्ययिता, आधुनिक सैद्धांतिकों के लिए विशुद्ध पूंजीवाद के मार्ग

पर आर्थिक विकास के उचित निर्देश-सयंत्र के रूप में कार्य करती है। फिर भी आदम स्मिथ के 'वेल्थ आफ नेशन्स' को किसी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में सम्बद्ध किये बगैर समसामयिक समाजों के आर्थिक विकास के लिए अनुपयुक्त बतलाना भूल होगी। क्योंकि अन्य बातों के साथ-साथ इस ग्रंथ में इस सामान्य प्रस्ताव की भी चर्चा की गई है कि राष्ट्रीय सम्पत्ति में अभिवृद्धि निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है

(क) प्राविधिक श्रम-विभाजन से आबद्ध श्रम की उत्पादन-क्षमता, तथा (ख) सास्थानिक तौर पर निर्धारित मितव्यय से आबद्ध पूंजी-सचय। इस प्रस्ताव की व्यापक मान्यता को कोई चुनौती नही दे सकता। फिर भी राष्ट्रीय सम्पत्ति की स्वचालित एव अबाध वृद्धि को अनुक्रमबद्ध करने वाली तकनीकी प्रगति और पूंजी-सचय जिस अदृश्य शक्ति द्वारा सुनिश्चित होता है, उस पर आदम स्मिथ की निर्भरता के सम्बन्ध मे अधिकाश व्यक्ति सदेह व्यक्त कर सकते है। आदम स्मिथ का यह प्रस्ताव केन्स के इस अनुदर्शन की प्रत्याशा है कि पूर्व-पूंजीवादी युग मे प्रगति की दर की धीमी गति इन दो अवरोधक कारणों का परिणाम थी : (क) प्रमुख प्राविधिक उन्नति की अनुपस्थिति तथा (ख) पूंजी-सचय का अभाव। इस प्रकार आदम-स्मिथ को राष्ट्रों के औद्योगीकरण मे पूंजी की मात्रा एव गुण के निर्णायक महत्व पर पुरोगामी जोर देने का श्रेय दिया जा सकता है।

थॉमस रावर्ट माल्थस (1766-1835)

आदम स्मिथ की तरह, किन्तु डेविड रिकार्डो (जिनका सम्बन्ध मुख्यतः एक दी हुई निपज के वितरण मे था) के प्रतिकूल, केम्ब्रिज के अर्थशास्त्रियों मे अग्रगण्य रावर्ट माल्थस का ध्यान निपज के परिमाण एव सम्पत्ति मे वृद्धि के तात्कालिक कारणों की ओर पहले से ही स्थिर हो चुका था। फिर भी अनियमित गति (आधुनिक भाषा मे चक्रीय विकास) से सम्बद्ध आर्थिक विकास की प्राविधिक सम्भावना के अव-लोकन मे माल्यस का स्मिथ से मतभेद था। मतभेद इस बात पर था कि अब और कहाँ बचत के सचय, जिस पर आर्थिक प्रगति मुख्य रूप से निर्भर करती है, को इतनी तीव्र गति से बढ़ाया जाय, जिससे कि उपभोग्य माग मे कमी हो जाय और उत्पादन-सम्बन्धी सामान्य प्रेरणा क्षीण हो जाय। सक्षेप मे वैसे समाज, जिसकी समर्थ माग का आचरण 'से' के बाजार नियम के अनुकूल नही होता, सम्पत्ति के अस्थिर एवं अशात वृद्धि के सम्बन्ध मे माल्थस का ऐसा ही विचार है। यह विचार माल्थस की पुस्तक 'प्रिंसिपुल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी' मे व्यक्त किया गया है। सामान्यत इस विचार की जानकारी मुख्य रूप से केन्स के प्रयत्नों मे ही हो पाई।[1]

1. (क) देखें जे० एम० केन्स, एसेज इन परसुएशन, रूपर्ट हार्ट डेविस, लंदन, 1952 पृ० 360।
   (ख) देखें, 'एसेज इन बायग्रफी' केन्स द्वारा वर्णित माल्थस की आकर्षक एव प्रभाव-शाली जीवनी, होराइजन प्रेस, न्यूयार्क, 1951 पृ० स० 81-124।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण से माल्थस की एक अधिक आकर्षक अन्य रचना 'ऐन एसे ओन दि प्रिन्सिपुल्स ऑफ पापुलेशन एज इट एफेक्ट्स दि फ्युचर इम्प्रूवमेन्ट आफ सोसाइटी' है। इस पुस्तक में माल्थस ने अत्यन्त आश्चर्य-चकित कर देने वाला यह विचार प्रस्तुत किया कि वैसी परिस्थितियों में, जहाँ जन-संख्या की वृद्धि अनियंत्रित तथा पूँजी का संचय अवंध नीति से होता है, वहाँ पूँजी अथवा जीवन-निर्वाह के साधनों की अपेक्षा जनसंख्या में अधिक दर से वृद्धि होती है। यहाँ माल्थस का विचार मार्क्स के 'औद्योगिक आरक्षित सेना' के सिद्धान्त (संरचनात्मक अपूर्ण रोजगारी) का पूर्वानुमान है; क्योंकि मार्क्स का यह विचार विना किसी तात्पर्य का नहीं है। वस्तुतः, जैसा कि केन्स ने वतलाया है,[1] यह विचार माल्थस के इस निजी सिद्धान्त से निकटतम सादृश्य रखता है, जिसके अनुसार पूँजीवादी समाज में समर्थ माँग निपज का साथ देने में असफल हो सकती है। फिर भी, मार्क्स के ठीक विपरीत माल्थस का यह विचार था कि निर्वंध-नीति पर आधृत पूँजी-निर्माण की व्यवस्था को समाप्त करने के वजाय जन्म-दर का युक्तिपूर्ण नियंत्रण जनाधिक्य की तथाकथित समस्या का उचित निदान है। केन्स के अनुसार माल्थस पहला अर्थशास्त्री था, जिसने, दीर्घकालीन आर्थिक विश्लेषण के लिए इस वात को (केन्स की भाषा में) 'जोरदार महत्त्व' दिया था कि प्रदत्त आधार के वदले जनसंख्या के गत्यात्मक प्रतिपादन को एक परिवर्तनशील आधार माना जाय। इस प्रकार का प्रतिपादन जनाधिक्य से पीड़ित अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है।

फ्रेडरिक लिस्ट (1789-1846)

अपने समय की औद्योगिक दृष्टि से अविकसित जर्मनी का प्रतिनिधित्व करते हुए, फ्रेडरिक लिस्ट सामान्य रूप से आर्थिक राष्ट्रीयता तथा विशिष्ट रूप से संरक्षण-वाद के आधार पर औद्योगीकरण का प्रधान समर्थक वन गया। आज भी उसके आर्थिक-विकास के सिद्धान्त को आधुनिक अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों, जो राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से विकसित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों के प्रभुत्व में हैं, का प्रवल समर्थन प्राप्त है।[2]

अपनी पुस्तक 'दास नेशनल सिस्टम दर पोलिटिश्चेन ओकानामी' (Das National System der politischen Okonomie) में लिस्ट ने आर्थिक विकास के सिद्धान्त में एक नये तत्व का समावेश किया। उसने देशी शिशु-उद्योगों के विकास को विशिष्ट रूप से प्रोत्साहन देने के लिए तव तक संरक्षणात्मक 'टेरिफ' प्रदान करने

1. केन्स, वहीं, 107-108।
2. आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाओं पर लिस्ट के प्रभाव के लिए देखें **'नाइवेल्स डे विडा वाई देसारोलो इकानोमिको'** (आर्थिक विकास पर एक परिसंवाद) मेक्सिको-विश्वविद्यालय के नेशनल स्कूल आफ इकानॉमिक्स में 1953।

की नीति को सैद्धातिक औचित्य प्रदान किया, जब तक कि ये तुलनात्मक लाभ के आधार पर विदेशी उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना न कर सकें। लिस्ट के सरक्षणवाद के आधार पर औद्योगीकरण के सिद्धान्त ने, उसके बौद्धिक शिशु, हेनरी सी० केरे [1] के माध्यम से अमेरिका के निर्माणकारी उद्योगों के आश्रित विकास में पुरोगामी महत्त्व का कार्य किया।

यद्यपि लिस्ट ने संरक्षित उद्योगों के आत्मघाती सीमात उद्योग बनने के खतरे के विरुद्ध कोई सुदृढ सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की, फिर भी उसने नये राष्ट्रों के आर्थिक विकास में निर्णायक प्रेरणात्मक शक्ति के रूप में राष्ट्रीयता के तत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया। यह एक ऐसा तत्व है, जिसकी अवहेलना आदम-स्मिथ तथा मुक्त व्यापार के अन्य समर्थकों ने की थी और जिन्होंने विश्वव्यापी पूर्ण रोजगारी और पूर्ण विकास के अस्तित्व को मौन रूप में स्वीकार कर लिया था। अपूर्ण विकास एवं मुक्त व्यापार की असगतता-सम्बन्धी अपनी मौलिक अन्तर्दृष्टि के कारण लिस्ट का अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के इतिहास में उसी प्रकार अनन्य स्थान है, जिस प्रकार अपूर्ण रोजगार एव मुक्त व्यापार की असगतता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के कारण केन्स का। सरक्षण की विशेष कार्यान्विति सम्बन्धी प्राविधिक त्रुटियों को बढा-चढाकर उस स्तर तक नहीं ले जाना चाहिए, जहाँ लिस्ट का व्यापक योगदान ही गुम हो जाय।

कार्ल मार्क्स (1818-1883)

आर्थिक विकास के सिद्धान्त के क्षेत्र में मार्क्स की ये तीन महत्वपूर्ण देन हैं; यथा व्यापक रूप में इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करना, अपेक्षाकृत सकुचित रूप में पूंजीवादी विकास की प्रेरणात्मक शक्तियों की व्याख्या करना तथा आयोजित विकास-रूपी एक वैकल्पिक मार्ग प्रस्तुत करना। जैसा कि एक लेखक का कहना है कि सामाजिक एव आर्थिक विकास के हेतु अंकलित सिद्धान्त के प्रतिपादन-सम्बन्धी कार्ल मार्क्स के प्रयास की महत्त्वाकाक्षा उन सभी वस्तुओं से बढी-चढी थी, जिनके लिए सस्थापक अर्थशास्त्रियों ने उद्योग किया था।[2]

अपनी पुस्तक 'क्रिटिक ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी' के प्राक्कथन में मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास के भौतिक अवधारण की रूप-रेखा प्रस्तुत की, जिसके अनुसार

---

1. मेरे सहयोगी प्रो० थ्रोदस माईकेल ने मुझे यह सूचना दी कि लिस्ट हेनरी केरे के पिता मैथ्यु केरे के घनिष्ठ मित्र थे। मैथ्यु केरे ने संरचनात्मक 'टैरिफ' के द्वारा अमेरिका के औद्योगीकरण में लिस्ट, जो उस समय अमेरिका आये थे, का बौद्धिक समर्थन प्राप्त किया।
2. देखे, टी० हेवलेमो का 'ए स्टडी इन दि थियरी आफ इकानामिक इवोल्युशन', नार्थ हालैंड पब्लिशिंग कम्पनी, अमस्टरडम, 1954, पृ० 12।

आर्थिक संस्थाएँ सामाजिक विकास का परिणाम होते हुए भी स्वयं सामाजिक विकास की गति को प्रभावित करने में सक्षम हैं। शायद इसी विचारधारा से शुम्पीटर को आर्थिक विश्लेषण के लिए ऐतिहासिक घटनाओं एवं सामाजिक संस्थाओं के बहिर्जनित समष्टि की जगह अंतर्जनित परिवर्त्तनों के रूप में व्याख्या की प्रेरणा मिली थी।[1] सामान्यतः यही दृष्टिकोण व्यापक रूप से समकालीन रचनाओं के अंतर-अनुशासनीय उपागमों में पाया जाता है।[2] अपनी प्रमुख कृति 'कैपिटल' में मार्क्स ने इस बात की व्याख्या की है कि पूँजीवादी विकास की विक्षुब्ध प्रक्रिया इन तत्त्वों पर निर्भर करती है : (क) मजदूरों के उपभोग के व्यय पर मुनाफाखोरों की बचतें, (ख) मुनाफे के लिए प्रतियोगिता से प्रेरित, किन्तु अपूर्ण उपभोग तथा अत्यधिक विनियोग के परिणामस्वरूप विनियोग की सुविधाओं में ह्रास से अवरोधित नयी पूँजी में उस बचत का विनियोग, तथा (ग) श्रमिकों की समाजशास्त्रीय आधार पर निर्धारित संख्या एवं प्रविधि द्वारा निर्धारित उत्पादकता।[3] पूँजीवादी विकास का यह मार्क्सवादी सिद्धान्त कई आधुनिक दीर्घकालीन सिद्धान्तों का पूर्वानुमान करता है, जैसे केन्स एवं हेन्सन के स्थिरता के सिद्धान्त[4], डोमर एवं हैरोड का गत्यात्मक सिद्धान्त[5], शुम्पीटर केलेकी,

---

1. मार्क्स के रीति-विधान की व्याख्या को शुम्पीटर द्वारा मौन रूप से मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में देखें—'**कैपिटलिज्म, सोसलिज्म एंड डेमोक्रेसी**, हारपर ऐंड ब्रदर्स न्यूयार्क, 1942 तथा '**टेन ग्रेट इकनामिस्ट्स: फ्राम मार्क्स टू केन्स**' आक्सफोर्ड, न्यूयार्क, 1954।

2. जैसा कि हम शिकागो-विश्वविद्यालय के "**इकानामिक डेवलपमेंट ऐंड कलचरल चेन्जेज**' के पृष्ठों में पाते हैं।

3. आधुनिक मार्क्सवादी व्याख्या के लिए देखें पी० स्वीजी का '**दि थियरी ऑफ कैपिटलिस्ट डेवलपमेंट**', ऑक्सफोर्ड, न्यूयार्क, 1944।

4. देखें जे० एम० केन्स का '**सम इकानामिक कन्सीक्युनेशेज ऑफ ए डिक्लाइनिंग पापुलेशन इयूगेनिक्स रिव्यू**', अप्रैल, 1937, ए० एच० हैन्सन का इकानामिक प्रोग्रेस एंड डिक्लाइनिंग पोपुलेशन ग्रोथ, '**अमेरिकन इकानामिक रिव्यु**' मार्च, 1939।

5. देखें आर० एफ० हैरोड का '**टवार्ड्स ए डाइनिमिक इकानामिक्स**' मैकमिलन, लंदन, 1948, इ० डी० डोमर '**इक्सपैन्शन एंड इम्पलायमेंट**', **अमेरिकन इकानामिक रिव्यू** मार्च, 1947।

कालडोर एवं गोडवीन का चक्रीय विकास का सिद्धान्त[1], तथा श्रीमती जॉन रोबिन्सन का संरचनात्मक अपूर्ण रोजगार का सिद्धांत[2]।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि आयोजित विकास के सम्बन्ध मे मार्क्स द्वारा उसकी गौण रचनाओ मे व्यक्त किये गए विचारो के विकास का प्रभाव ही सोवियत रूस तथा चीन की मुख्य भूमि जैसे देशो के वास्तविक आर्थिक विकास पर अत्यधिक पड़ा है। आयोजित विकास के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचार उन पिछड़े देशों को भी अधिक जँचते है, जो अत्यधिक राष्ट्रीय प्रयास तथा विकसित राष्ट्रों से अनावश्यक विलगाव के जोखिम पर तीव्र गति से औद्योगीकरण चाहते है।[3] अब यह देखना है कि भावी पीढी अपेक्षाकृत किस भावना से कमोवेश सबक ग्रहण करती है—मार्क्स की उस भावना से, जिसके अनुसार आयोजित विकास[4] के हेतु उत्पादन के साधनों पर राजकीय स्वामित्व को एक इतिहास-प्रसिद्ध अनिवार्य शर्त माना जाता है अथवा केन्स की उस भावना से, जिसके अनुसार इन साधनो पर राजकीय नियन्त्रण को आर्थिक दृष्टि से वाछित माना जाता है।[5]

सस्थापकोत्तर सिद्धान्त

जॉन मेनार्ड केन्स (1883—1946)

जो केन्स का नाम केवल अल्पकाल के समर्थन मे उसके इस प्रमुख कथन कि 'दीर्घकाल मे हम सभी मर जाते है' से याद करते है, उन्हे दीर्घकाल के सम्बन्ध

1. जे० ए० शुम्पीटर, **ब्युजिनेस साइकिल्स**, मैग्रयू-हिल न्यूयार्क 1938, एम० कैले की, **'थियरी ऑफ इकानामिक डायनमिक्स'** राइनहार्ट, न्यूयार्क 1951 (विशेषत: छठा खड), एन० कैलडोर 'दि रिलेशन ऑफ इकानामिक ग्रोथ एड साइकलिकल फलकचुएशन' **इकानामिक जरनल**, मार्च, 1954, आर० ए० गोडविन, 'ए मोडल आफ साइकिलकल ग्रोथ, **'दि ब्यूजिनेस साइकिल इन दि पोस्ट-वार वर्ल्ड'** इ० लववर्ग द्वारा सपादित, मैकमिलन लदन, 1955।
2. देखें इनके **केल्कुलेटेड इकानामिक पेपर्स**, केली, न्यूयार्क 1951 मे 'मार्क्स एड केन्स' तथा इनका **'एन एसे इन मार्क्सियन इकानामिक्स'** लदन 1942।
3. देखें, एम० बोनफेबनर का **'इकॉनामिक डेवलटमेंट एंड कल्चरल चेन्ज**, लदन, 1942 'दि अपील ऑफ कनफिमकेशन इन इकानामिक डेवलटमेंट'।
4. मार्क्स के इन परिकल्पित विचारो तथा उसके निश्चित आर्थिक सिद्धान्तों के साराश के लिए देखे ए० रोल का **'ए हिस्ट्री ऑफ इकानामिक थॉट'** (तृतीय सस्करण) का छठा अध्याय पेरनटिश हाल, न्यूयार्क, 1956।
5. इनके स्वामित्व की तुलना मे नियन्त्रण की अभिरुचि के कारणों के लिए **'जनरल थियरी'** की पृष्ठ-संख्या 378-81 देखें।

उसकी देन को जानकर थोड़ा-बहुत आश्चर्य हो सकता है। निश्चय ही, केन्स की सर्वाधिक प्रमुख सैद्धांतिक देन अल्पकालीन आर्थिक विश्लेषण के क्षेत्र में ही है। किन्तु जैसा कि उसकी विभिन्न रचनाओं के पाठक जानते हैं, उसका 'अल्पकाल' भी इतना छोटा नहीं था कि उसे 'दीर्घकाल' में जाने के लिए किसी विशेष प्रकास की आवश्यकता पड़ती। साथ ही, केन्स की अंतर्दृष्टि एवं सिद्धान्त अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से, विशेषत: उनसे, जो सत्तावादी प्रणाली की जगह गणतंत्रवादी प्रणाली से अपना विकास करना चाहती हैं, सामान्यत: माने जाने की अपेक्षा अधिक सम्बद्ध हैं।[1] अत:, आर्थिक विकास के सिद्धान्त के सम्बन्ध में केन्स की क्या देन है? इसका कम-से-कम निम्नलिखित उत्तर है :

केन्स की व्यापक अंतर्दृष्टियों से हम प्रारम्भ करें। अपने 'इकानामिक पोसिबिलिटिज़ ऑफ आवर ग्रैंड चिल्ड्रेन' (1930) शीर्षक लेख में केन्स ने यह सुझाव दिया था कि भविष्य में आर्थिक गति की प्रगति निम्नलिखित बातों पर निर्भर करेगी : (क) जनसंख्या को नियंत्रित करने की हमारी शक्ति, (ख) युद्ध एवं नागरिक मतभेदों को दूर करने का हमारा निश्चय, (ग) विज्ञान से सम्बद्ध सभी बातों को विज्ञान के जिम्मे सुपुर्द करने की हमारी इच्छा, तथा (घ) हमारे उत्पादन एवं उपभोग के बीच की सीमा के द्वारा निर्धारित संचय की गति।[2] इसमें हम आर्थिक प्रगति की मौलिक शर्तों की व्यापक रूप-रेखा पाते हैं, जिसमें एक ओर संस्थापक विचारों के पांडित्य तथा दूसरी ओर समसामयिक लेखकों के जटिल विकास-प्रतिमानों का पूरा-पूरा समावेश है। ऐसी व्यापक अंत:प्रज्ञा अंतर्दृष्टि को क्रियात्मक महत्व देने के कार्य का भार केन्सोत्तर अर्थशास्त्रियों के लिए छोड़ दिया गया। किन्तु जैसा कि हम शीघ्र ही देखेंगे, स्वयं केन्स ने आर्थिक प्रगति की निर्धारित दर से सम्बद्ध मापनीय एवं परीक्षणीय प्राक्कल्पना की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ किया था।

केन्स ने पूँजीवादी विकास का कोई क्रमबद्ध विश्लेषण नहीं किया, किन्तु अपनी पुस्तक **'जेनरल थियरी'** में कई छिट-फुट तथा विषयांतरिक टिप्पणी की, जिनकी तुलना मार्क्स के पूर्ववर्णित विचारों एवं शुम्पीटर के *अनुवर्णित सिद्धान्तों* से करना बहुत ही रोचक होगा। पूँजीवाद के भविष्य की संभावनाओं के सम्बन्ध में यदि मार्क्स मंदी का भविष्यवक्ता था, तो केन्स को तेज़ी का भविष्यवक्ता कहा जा सकता है।

---

1. अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं पर केन्स के सुस्पष्ट प्रभावों की व्याख्या के लिए देखें, जयपुर के दिसम्बर, 1953 ई० के इण्डियन इकानामिक एसोसिएशन का **'केन्सीनियन इकानामिक्स इन रिलेशन टू अंडरडेवलपड कौन्ट्रीज'**। साथ ही, केन्स की 10वीं बरसी के उपलक्ष में प्रकाशित जुलाई 1956 ई० का **'इण्डियन जरनल ऑफ इकानामिक्स'** भी देखें।
2. देखें इनका **'इसेज इन परसुएशन'** पृष्ठ 373।

क्योंकि केन्स ने पूँजीवादी व्यवस्था को तत्त्वत. एक ऐसी व्यवस्था माना है, जिसमे ऐसे सुधार किये जा सकते है, ऐसी तरक्की लाई जा सकती है, जिससे यह मानव-प्रगति के आर्थिक आनन्द के उस गतव्य स्थान की ओर जाने मे बाधक न होकर सहायक हो सके, जहाँ धन का सचय कोई विशेष सामाजिक महत्त्व नहीं रखता तथा आध्यात्मिक एव कलात्मक उन्नति-सम्बन्धी प्रयत्न निर्विरोध गति पा सकता है। इसके ठीक विपरीत मार्क्स (और शुम्पीटर भी) पूँजीवाद को सारभूत रूप मे एक ऐसी रचना मानता है, जो अनुमानत आत्मनाश का बीज रखता हुआ क्षय ग्रस्त होने के लिए और अपने अस्तित्व से रहित होने के लिए वृद्धिशील होता है। फिर भी, केन्स के 'स्थिरता के सिद्धान्त' ने मार्क्स के 'विघटन के सिद्धान्त', प्रतिवल-प्राप्त चिरकालिक अपूर्ण उपभोग, अति उत्पादन, मुनाफे की घटती हुई दीर्घकालिक दर जैसे अतर्जनित तत्त्वो को आधुनिक अभिव्यक्ति दी।[1] किन्तु, इनमे प्रधान व्यावहारिक अतर यह है कि केन्स ने आयोजित राजकीय क्रिया द्वारा अवैधनीतिक पूँजीवाद के सशोधन मे इसके *निदान की खोज की, जबकि मार्क्स ने यह कहकर कि इससे अनिवार्यतः एव* निरपवाद रूप से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के बदले केवल पूँजीवादी वर्ग को ही लाभ होता है, किसी अथवा सभी प्रकार की राजकीय क्रियाओ को दृढता के साथ अस्वीकार किया।

केन्स के अपेक्षाकृत अधिक प्राविधिक पक्ष की ओर ध्यान देने पर हम प्रथमतः एव सर्वोपरि समर्थ माँग के सिद्धान्त को पाते है, जिसके बगैर हैरोड के सिद्धान्त[2] का उद्‌भव सम्भव ही नही था। क्योंकि स्तर के रूप मे यह केन्स के बचत-विनियोग सतुलन की स्थैतिक दशा से, जैसा कि हिक्स ने बतलाया, अनुपात के रूप में हैरोड के बचत-विनियोग सतुलन की गत्यात्मक दशा और फलत', जैसा कि अगले अध्यायो मे व्याख्या की जायगी, हैरोड के 'बाछित विकास-दर' तक जाने की ओर पहला तर्कसगत कदम है। हैरोड का मूल गत्यात्मक लेख[3] दोनो कारणो से ध्यानाकर्षक है, प्रथमतः तो हेरोड को इतनी अधिक कल्पना एव पूर्व दृष्टि प्राप्त थी कि ऐसे समय मे, जबकि सभी समसामयिक लेखक अल्पकालीन विचारो में ही तल्लीन थे, वह अपना ध्यान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दीर्घकालीन विचारो की ओर लगा सका। द्वितीय 'इकानामिक जनरल' के सपादक के रूप मे केन्स ने स्पष्टतया उदारतापूर्वक एवं बौद्धिक

1. तुलना कीजिए, 'पोस्ट-केन्सीयन इकानामिक्स' (के० कुरीहारा द्वारा संपादित), रजर-विश्वविद्यालय प्रेस एव एलेन एंड अनविन, 1954 मे प्रकाशित, एस० सुरु (S Jsuru) का लेख 'केन्स वरसेज मार्क्स . दि मेथोडोलोजी ऑफ एग्रीगेट्स'।
2. देखे, ई, 1949 ई० के इकानामिका मे प्रकाशित इनका 'मि० हैरोड्स डायनमिक थियरी'।
3. देखे, मार्च, 1939 के इकानामिक जरनल मे इनका निबंध 'एन एसे इन डायनमिक थियरी'।

क्षमता का परिचय देते हुए अपने शिष्य के लेख को प्रकाशित कर दिया, जिसमें वचत की माँग के ह्रासमान पहलू, जिस पर केन्स स्वयं जोर देते थे, के विरुद्ध क्षमताकारक पहलुओं पर जोर दिया गया था। हैरोड के विकास-सम्बन्धी आदर्श की ही तरह, डोमर ने भी केन्स के गुणक सिद्धान्त (विनियोग की माँग अथवा आय-प्रभाव) एवं उत्पादकता के संस्थापक सिद्धान्त (विनियोग के सिगमा-प्रभाव) के संश्लेपण का प्रयास किया।[1]

पूर्ति की दी हुई दशाओं में (विशेपत: पूंजी स्थायी स्टॉक के साथ), जब एक वार उत्पादन का स्तर प्रभावकारी माँग के द्वारा निर्धारित होता है तो केन्स के अल्पकालीन सिद्धान्त की ही तरह दूसरा तार्किक प्रश्न यह होता है : यदि पूंजी के स्टॉक में वृद्धि से पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन हो जाय तो उस निपज का क्या होगा ? गत्यात्मक अर्थशास्त्र में इस प्रकार का प्रश्न होता है तथा उसका जवाब भी दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार श्रीमती जॉन रॉविन्सन ने प्रासंगिक ढँग से कहा है कि यह इस विरोधाभास की व्याख्या करता है कि केन्स की **'जनरल थियरी'** का रूप स्थैतिक होते हुए भी इसने गत्यात्मक समस्याओं के विश्लेपण के लिए मार्ग तैयार किया है।[2] इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीमती रॉविन्सन[3] के साथ-साथ नर्स्के[4] ने गत्यात्मक अर्थशास्त्र को अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की दिशा में मोड़ दिया। दोनों ने ही विकासशील अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विनियोग-सम्वन्धी मांग एवं पूंजी-निर्माण के कारणात्मक महत्त्व पर जोर दिया। अब भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पूंजी में अभिवृद्धि, जैसा कि संस्थापक अर्थशास्त्रियों का विचार था, उपभोग में कमी के वगैर नहीं हो सकती अथवा जैसा कि केन्स ने कहा है, उपभोग में साथ-साथ वृद्धि के वगैर असम्भव है, अथवा जैसा कि नर्स्के[5] का विचार है उपभोग में बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के भी सम्भव है।

केन्स का राष्ट्रीय आय-सम्बन्धी विश्लेपण विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करने का न्यूनतम आधार है। साथ ही यह वचत, उपभोग, विनियोग, रोजगार तथा परि-

---

1. देखें डोमर-का वहीं।
2. द्रष्टव्य **'दि रेट ऑफ इंटरेस्ट एंड अदर एसेज'** लंदन, 1952 के प्राक्कथन में।
3. आर० नर्स्के, **प्रोब्लेम्स ऑफ कैपिटल फारमेशन इन अंडरडेवलप्ड कौन्ट्रीज'** ब्लेकवेल, ओक्सफोर्ड, 1953।
4. जे० रॉविन्सन-का मार्च, 1949 के **'इकानामिक जरनल में मि० हॉरोड्स डायनामिक्स'** तथा **'दि रेट आफ इंटररेस्ट'** इत्यादि।
5. नर्स्के के विचारों की विस्तारपूर्वक व्याख्या सम्भाव्य वचत के रूप में छिपी हुई वेरोज़गारी के सम्बन्ध में की जाएगी। नर केके 'संतुलित विकास' के सिद्धान्त के व्यापक मूल्यांकन के लिए 11वां अध्याय देखें।

चालन की दृष्टि से अधिक विकास के महत्त्वपूर्ण अन्य परिवर्तियों के अनुमान का प्राविधिक आधार है। यहा इस साधारण बात की चर्चा केवल इसलिए की गई है कि कभी-कभी व्यवहार मे मनुष्य इसकी अपेक्षा करते है तथा यह जानने की कोशिश भी नही करते कि राष्ट्रीय आय की गणना के सैद्धातिक आधार का उद्गम क्या है ?

वास्तव मे, कोई भी व्यक्ति परिचालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तरीके से आर्थिक विकास की चर्चा केन्स के 'जनरल थियरी' मे उद्धृत मात्रा एव फलनीय सम्बन्ध की चर्चा किये बगैर नही कर सकता। किन्तु, जैसा कि हैरोड ने कहा है दीर्घ-कालीन विश्लेषण मे इन परिवर्तीगणो को जनसख्या, प्रविधि तथा साधन जैसी मौलिक शर्तो से पूर्ण होना अनिवार्य है। साथ ही, केन्स की राष्ट्रीय आय का विश्लेषण इस बात की सतत याद दिलाता है कि बिना किसी सिद्धान्त अथवा स्वीकार्य प्राक्कल्पना के, जिससे कि राष्ट्रीय आय के अवयवो (उपभोग एव विनियोग) की प्रवृत्ति की सार्थक व्याख्या मे सुगमता हो और विशेषत जिससे प्राविधिक सीमाओ के अन्दर वास्तविक अर्द्ध-विकसित देशो के सफल औद्योगीकरण को निर्देश मिल सके, किसी साख्यिकीय सामग्री का सग्रह एव माप-सम्बन्धी प्रविधि की सूक्ष्मता बहुत उपयोगी सिद्ध नही हुआ करती।

केन्स की अन्तिम महत्वपूर्ण देन पुनर्निर्माण एव विकासार्थ, विश्व-बैंक की स्थापना के विचारो से सम्बद्ध है। हैरोड ने केन्स के जीवन-वृत्तान्त मे इसकी बडे ही रोचक ढंग से व्याख्या की है।[1] यहाँ केन्स ने मार्क्स एव उसके अनुयायियों के इस विचार का कि आर्थिक क्षेत्र मे विकसित पूँजीवादी राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विषमागता के आधार पर स्थायी रूप से पिछडे राष्ट्रो का शोषण करते है,[2] पूरी तरह से खंडन किया है। वास्तव मे, केन्स अन्तर्राष्ट्रीय समागीकरण को विश्व-व्यापी समृद्धि एवं स्थायी विश्व-शाति का साधन मानता था। वह विश्व के सपन्न सदस्य-राष्ट्रो की बचत की संभावनाओ को विपन्न राष्ट्रो की विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए विश्व-बैंक को एक प्रधान साधन समझता था। इस सम्बन्ध मे बैंक के ऋण की विस्तृत कार्यवाही नही, जिसमे समय-समय पर सुधार एव परिवर्तन की आव-श्यकता हो सकती है, बल्कि पुनर्निर्माण एव विकास के विशिष्ट उद्देश्यो के लिए विश्व-बैंक का विचार ही मौलिक एव महत्वपूर्ण दोनो है। इस विचार का श्रेय केन्स की साहसिक कल्पना एव वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीयता को है। सामान्य रूप से विभिन्न

---

1. देखें, इनका 'दि लाइफ आफ जान मेनार्ड केन्स' हरकार्ट, ब्रेस एव कम्पनी, न्यूयार्क, 1951।
2. देखें, सितम्बर 1952 के 'सोशल रिसर्च' मे ई० हेमन का 'मार्क्सिज्म एंड अंडर-डेवलप्ड कंट्रीज'।

राष्ट्रों के भविष्य के आचरण पर तथा विशिष्ट रूप से अल्प-विकसित राष्ट्रों के भावी आर्थिक विकास पर इसके महत्त्वपूर्ण प्रभाव की आशा की जाती है ।[1]

जोसेफ ए० शुम्पीटर (1883-1950)

शुम्पीटर पहला आधुनिक अर्थशास्त्री था, जिसने आर्थिक विकास को आर्थिक विश्लेषण के एक विशिष्ट क्षेत्र का रूप दिया । ऐसा उसने 1911 ई० में जर्मन भाषा में प्रकाशित तत्कालीन बहुत कम प्रसारित पुस्तक 'दि थियरी आफ इकनामिक डेवलपमेंट' में किया । २३ वर्षों के बाद इस पुस्तक के अंग्रेजी-संस्करण के प्रकाशन का भी बहुत ही कम प्रभाव पड़ा; क्योंकि उस समय मंदी एवं बड़े पैमाने पर बेरोजगारी जैसी गम्भीर अल्पकालीन समस्याओं में उलझे रहने के कारण विश्व को दीर्घकालीन समस्याओं की ओर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने का अवसर नहीं था । केवल वर्तमान युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण एवं विकास, जो चक्रीय समस्याओं में ह्रास के कारण[2] ही सम्भव हुआ है, के समय में अर्थशास्त्रियों ने शुम्पीटर के आर्थिक विकास के सिद्धान्त की ओर नये दृष्टिकोण से देखना आरम्भ किया है । किन्तु शुम्पीटर के सिद्धान्त[3] के सैद्धांतिक एवं संस्थागत अधिस्वरों ने इसके प्राविधिक महत्त्व को कम तथा इसकी व्यावहारिक प्रयोज्यता को सीमित बना दिया है ।

शुम्पीटर के अनुसार साहसी (नयी रीति चलाने वाला), नवीन क्रिया एवं साख की अस्थिर अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप पूँजीवाद का विकास झटके से होता है । अतः, अपने सफल निष्पत्तियों जैसे सामूहिक उत्पादन, सामूहिक शिक्षा एवं वृहत् व्यापार तथा इसके आवश्यक सहगामियों—जैसे राजकीय नियमन, बौद्धिक रोष तथा श्रमिक संघवाद के परिणामस्वरूप यह निश्चय ही समाजवाद के किसी-न किसी रूप के समक्ष अपने को अर्पित कर देगा । यहाँ शुम्पीटर मार्क्स के पूँजीवाद के अवश्यंभावी विघटन की धारणा से सहमत है ।[4] यद्यपि शुम्पीटर इसके लिए पूँजीवाद की सफलता को उत्तरदायी मानते हैं, मार्क्स इसके लिए इसकी असफलता को उत्तरदायी ठहराते हैं । जो भी हो, ऐतिहासिक आर्थिक विकास के संस्थागत वास्तविक व्याख्यात्मक

---

1. देखें, यूनाइटेड नेशन्स का न्यूयार्क, 1951 में प्रकाशित **'मेयर्स फॉर दि इकानामिक डेवलपमेंट आफ अंडर डेवलप्ड कंट्रीज'** । साथ ही, इस पुस्तक का परिशिष्ट भी देखें ।
2. इस ह्रास के कुछ कारणों के लिए देखें, पूर्व उद्धृत **'दि ब्यूजीनेस साईकिल इन दि पोस्ट वार वर्ल्ड'** ।
3. विशेषतः, जैसा कि उसके बाद पुस्तक **'कैपिटलिज्म, सोसलिम एवं डेमोक्रेसी'** में विस्तृत किया गया है ।
4. मई, 1950 ई० के **'अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू'** में शुम्पीटर का अन्तिम संदेश देखें ।

परिवर्त्तों के रूप में साहसी, नवीन क्रिया एवं साख के वर्णात्मक महत्त्व को कम ही लोग अस्वीकार कर सकते हैं। क्योंकि निजी उपक्रम एवं जोखिम उठाने का अभाव, नवीन क्रिया में पटुता की अनुपस्थिति तथा बैंकिंग की सुविधाओं एव पूँजी बाजार की आदिम अवस्था आज भी अल्प-विकसित बाजार सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्थाओं की सामान्य संस्थागत विशेषताएँ हैं।

किन्तु आज की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के युग में शुम्पीटर द्वारा केवल निजी उद्यमकर्त्ता के रूप में नवीन क्रियाकारक की व्याख्या को निर्विवाद रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[1] किन्तु जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, इससे भी अधिक विवादास्पद उसकी नवीन क्रिया-सम्बन्धी अत्यधिक आशावादी धारणा है। यदि नवीन क्रिया उत्पादन की सुधरी हुई प्रविधि का रूप धारण करती है, तो इससे पूँजी के वर्तमान कोष में बिना किसी परिवर्त्तन के ही श्रम की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो सकती है। श्रम की उत्पादन-क्षमता में इस प्रकार की वृद्धि का पूँजी-विपन्न अर्थ-व्यवस्थाओं में निश्चय ही स्वागत होगा। किन्तु यदि पूँजी-विपन्न अर्थ-व्यवस्था की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हो रही हो, तो ऐसी स्थिति में पूँजी के दिये हुए कोण की तुलना में श्रम की कम आवश्यकता वाली प्रविधियों को अपनाने में बेरोजगारी की समस्या में भी वृद्धि होगी। किन्तु, इसके विपरीत यदि नवीन क्रिया विस्तारित संयत्र एवं उपकरण का रूप धारण करती है, तो इसका लाभ यह होता है कि इससे उत्पादन की प्रविधि में बिना किसी आवश्यक परिवर्त्तन के ही श्रम की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होती है। किन्तु तब संभव है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में नये संयत्र एव उपकरण-सम्बन्धी नवीन क्रिया-निवेश के लिए पर्याप्त मात्रा में बचत नहीं हो। और पुन. चूँकि नवीन क्रिया-निवेश लाभ की निजी प्रत्याशा तथा पूँजी प्रयोग की प्राविधिक स्थिति पर निर्भर करता है, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए इस प्रकार का निवेश तीव्र आर्थिक विकास के लिए पूँजी-सचय का विश्वस्त साधन नहीं भी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि लाभ की विविधता एव प्रविधि की गत्यात्मकता सदा इस प्रकार की नहीं होती, जो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में वांछित मात्रा में नवीन क्रिया-निवेश को प्रोत्साहित करे।[2]

निजी साख के महत्त्व पर शुम्पीटर द्वारा दिया गया जोर पूँजीवाद के विकास में बैंक-साख एवं निगम ऋण-इक्विटी, वित्त-व्यवस्था के ऐतिहासिक महत्त्व को उचित रूप में प्रतिबिम्बित करता है। फिर भी, यह केवल इस प्रकार के मौद्रिक साधनों

---

1. देखें, डब्लू० ए० लीवीस की एलेन एंड अनवीन, लंदन, 1955 द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'दि थियरी आफ इकानामिक ग्रोथ'।
2. देखें, ए० जोशिदा की 'शुम्पटेरियन सिस्टम एवं मोनोपली' तथा जून, 1957 के 'इकानामिक स्टडीज क्वार्टली' में प्रकाशित के शिवयामा का 'मोनोपली एंड इकानामिक डेवेलपमेंट'।

(यानी उत्पादन में से उपभोग घटाने पर प्राप्त वास्तविक बचत) के वास्तविक आधार को दुर्बोध ही नहीं बनाता, वरन् राजकीय साख, घाटे की वित्त-व्यवस्था, बजट की बचतें तथा सरकार के अन्य राजकोषीय कार्यों को भी पृथक् कर देता है। साथ ही, यह कहना कि बैंकिंग की सुविधाओं में विकास से औद्योगीकरण में सहायता मिलती है, स्वयं सिद्ध ही है। क्योंकि इसका तात्पर्य केवल संस्थापकों के इस विचार को दुहराना है कि मुद्रा एवं बैंकिंग-सम्बन्धी संस्थाएँ वस्तु-विनिमय-व्यवस्था से विनिमय व्यवस्था के संक्रमण में शीघ्रतापूर्वक पहुंचती हैं। वास्तव में, विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करने में इस बात का सुझाव—कि किस प्रकार राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति से निपज में वृद्धि की दर में वृद्धि होगी अथवा किस प्रकार एक दिये हुए दर पर निपज में वृद्धि के स्थायित्व को प्रोत्साहित किया जा सकता है, अधिक लाभदायक होगा।

इसके बावजूद, आर्थिक विचारधारा के इतिहास में शुम्पीटर का नाम प्रविधि की गत्यात्मकता पर, दोनों सामान्य आर्थिक विकास के एकमात्र सर्वाधिक महत्व-पूर्ण कारण एवं विशिष्ट रूप से चक्रीय विकास की प्रमुख व्याख्या के रूप में अन्य अर्थ-शास्त्रियों की अपेक्षा अधिक जोर देने के कारण स्मरणीय होगा। संस्थानिक कारणों पर अधिक जोर देने का कारण, शुम्पीटर के आर्थिक विकास का सिद्धान्त, उसके अभिप्राय के विरुद्ध, उन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को अधिक आकर्षक लगेगा, जो परम्परा से अलग होने के लिए उग्र रूप में तैयार हैं।

अध्याय 2

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की संरचना

किसी भी आचरण-सम्बन्धी विश्लेषण के लिए सर्वप्रथम संरचनात्मक विश्लेषण अनिवार्य है। सभी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में सर्वनिष्ठ मौलिक समस्याओं का गहन ज्ञान प्राप्त करने के लिए अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की संरचनात्मक विशेषताओं तथा इसके निर्धारक तत्त्वों का विवेचन अनिवार्य है। किन्तु इस सम्बन्ध में हम केवल उन्हीं विशेषताओं तथा निर्धारक तत्त्वों का वर्णन करेंगे, जो परिचालन की दृष्टि से अति सार्थक एवं आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस पर्यवेक्षण-सम्बन्धी अध्याय में विचार-वस्तु को तीक्ष्ण करने के लिए हम अल्प-विकसित एवं विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की विषमताओं की तुलना करने चलेंगे।

अल्प आर्थिक विकास के सूचक

प्रति व्यक्ति न्यून वास्तविक आय

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को निश्चित करने के लिए चाहे जितने भी अन्य सूचकों की चर्चा की जाय, शायद एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचक प्रति-व्यक्ति न्यून वास्तविक आय है। 'प्रति-व्यक्ति' विशेषक वाक्यांश एक अन्यथा अनादर्शी सूचक में कल्याण का अंश जोड़ देता है, क्योंकि इससे शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था एक ऐसे समुदाय का प्रतिनिधित्व भी करती है, जिसकी भौतिक समृद्धि प्रति-व्यक्ति उपभोग के रूप में सदियों से प्रगतिहीन रही है। साथ ही यह इस बात की ओर भी संकेत करता है कि कोई अर्थ-व्यवस्था अनिवार्यतः केवल इसलिए अल्प-विकसित नहीं हो सकती कि उसकी प्रजनन की प्रवृत्ति उसकी उत्पादन-क्षमता से अधिक बलवती है, वरन् सम्भवतः इसलिए भी कि उसकी उत्पादन-क्षमता प्रजनन की प्रवृत्ति की अपेक्षा अधिक कमजोर है। अतएव, 'प्रति-व्यक्ति' विशेषक अल्प-जनसंख्या वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ-साथ जनाधिक्य वाली अधिक सामान्य स्थिति को भी संभाल सकता है।[1] जहाँ

---

1. प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को $y = Y_r/P$ के रूप में परिमापित किया जाता है, जिसमें y औसत आय, Y_r वास्तविक राष्ट्रीय आय एवं P जनसंख्या का आकार है। अतएव प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय आर्थिक विकास की अपेक्षा आर्थिक प्रगति का अच्छा माप है। यह विभेद इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि ऐसी स्थिति में जबकि जनसंख्या में वृद्धि उपज में वृद्धि से अधिक होती है, जिसमें कि प्रति-व्यक्ति स्थिति पहले से भी खराब है, कोई आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती है।

तक उपर्युक्त सूचक में सन्निहित 'वास्तविक राष्ट्रीय आय,[1] का प्रश्न है, इससे निपज के भौतिक परिमाण एवं उसके मौद्रिक मूल्य के बीच जो अन्तर है, उसे जानने में सहायता मिलती है। उत्पादित एवं उपभुक्त भौतिक पदार्थों के रूप में उत्पादकता एवं कल्याण का वास्तविक माप उत्पादन का भौतिक परिमाण होता है, न कि उसका मौद्रिक मूल्य। साथ ही वास्तविक आय की धारणा हमें मौद्रिक लाभदायकता को भौतिक उत्पादकता का प्रतिनिधि मान लेने की निकटदर्शी भूल से बचाती है। यह एक ऐसी भूल है, जिससे अनुमानतः उत्पादक साधनों का भारी अपनिर्देशन हो सकता है, जो दीर्घकालीन आर्थिक विकास के लिए संभवतः अहितकर है।

अपर्याप्त प्राकृतिक साधन

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का एक अन्य परिचालन-सम्बन्धी सूचक जनसंख्या[2] के आकार के अनुरूप अपर्याप्त प्राकृतिक साधन है। यह अपुनरुत्पादनीय एवं क्षयशील भौतिक सम्पत्ति, विशेषतः प्रति संतुलन टेक्नोलॉजी की अनुपस्थिति में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं मानव कल्याणकारी जान पड़ता है कि संस्थापक अर्थशास्त्रियों ने भूमि को, पुनरुत्पादनीय पूँजी और श्रम के समकक्ष, उत्पादन के एक पृथक् साधन का रूप दिया था। इन संस्थापक अर्थशास्त्रियों में कुछ तीव्र गति से बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में सम्पूर्ण भूमि की लोचहीनता से इतना अधिक प्रभावित हुए कि वे इस शोक-पूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे कि क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम की निरंतर क्रियाशीलता से जीवन-मान अवनत रहेगा। यद्यपि टेक्नोलॉजी की दृष्टि से विकसित अर्थ-व्यवस्थाएं विशालकाय उत्पादन की मितव्ययिताओं से अत्यधिक लाभान्वित अवश्य हुई हैं, किन्तु टेक्नोलॉजी की दृष्टि से पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाएँ, जिनकी जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है तथा जिनमें प्राकृतिक साधनों का अभाव है, अभी तक विभिन्न ढंग से क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम के निर्मम परिचालन के प्रभाव में रहे हैं।

अपवादस्वरूप कुछ देशों को छोड़कर वास्तविक रूप में अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को जनाधिक्य की समस्या का सामना करना पड़ता है;

---

1. वास्तविक राष्ट्रीय आय को $Yr = Ym/P(t)$ के रूप में व्यक्त किया जाता है, जिसमें Ym मौद्रिक आय तथा t समय में $P(t)$ औसत मूल्य (चुने हुए आधार-काल की तुलना में) हैं। दीर्घकालीन विश्लेषण के लिए वास्तविक आय का आचरण ही महत्त्वपूर्ण है।
2. देखें, डब्लू० एस० एण्ड ई० एस० वार्यटिस्की, **वर्ल्ड पापुलेशन एण्ड प्रोडक्शन**, ट्वेन्टीयेथ सेन्चुरी फंड, न्यूयार्क, 1953।

क्योकि इनमे मुख्य प्राकृतिक साधनो[1] (जैसे कृष्य-भूमि, कोयला, तेल तथा लोहे का भण्डार एव वन) का प्रति-व्यक्ति औसत परिमाण इतना कम रहता है कि इनसे इनके ठोस औद्योगीकरण एव 'अपेक्षाधिक जनसख्या' की समस्या के समाधान मे कोई सहायता नही मिलती। किन्तु इस सम्बन्ध मे विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि कोई देश प्रचुर मात्रा मे प्राकृतिक साधनो के होते हुए भी इन्हे विकसित करने के लिए आवश्यक टेक्नोलॉजी तथा पूंजी के अभाव मे साधन-विहीन देश की ही तरह निर्धन होगा। फिर भी प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता स्वय टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति की एक अनुकूलतम शर्त है। इस प्रकार विचार करने से, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था से सम्भवत' जनाधिक्य वाले राष्ट्र का भी केवल इसलिए बोध हो सकता है कि आज की अल्प-विकसित, विशेषतः टेक्नोलॉजी के दृष्टिकोण से पिछडी हुई, अर्थ-व्यवस्थाओ मे प्राकृतिक साधनो का अभाव माल्थस की चेतावनी के उपदेशात्मक महत्व पर जोर देता है।

अपर्याप्त पूंजीगत साधन

स्थूल पूंजी की अपर्याप्तता अल्प-विकसित देशो की एक ऐसी प्रमुख विशेषता है कि कभी-कभी इन्हे केवल 'पूंजी-विपन्न' अर्थ-व्यवस्था की सज्ञा भी दी जाती है। इतना ही नही, आर्थिक विकास मे पूंजी का योगदान इतना अधिक महत्वपूर्ण होता है कि कुछ लेखक अन्य तथ्यो[2] पर बहुत कम ध्यान देते है। चूंकि किसी निश्चित समय मे वर्तमान स्थूल पूंजी का कोष विगत बचत एव विनियोग का परिणाम होता है, अतएव यह कहा जा सकता है कि अपेक्षाकृत अल्प पूंजी के कोषवाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था निम्न बचत एव निम्न विनियोग वाले समुदाय का भी प्रतिनिधित्व करती है। इस निम्न बचत एव निम्न विनियोग वाली स्थिति के लिए

1. किसी अर्थ-व्यवस्था मे कृषि-योग्य भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनो की जितनी ही अधिक प्रचुरता रहती है, वह उतना ही अधिक घरेलू निर्माण उद्योगो के विकास द्वारा खाद्य-पदार्थों के बदले अन्य वस्तुओ का निर्यात कर माल्थस के जनाधिक्य की समस्या के समाधान के योग्य होता है। ग्रेट-ब्रिटेन पहले ऐसा ही करता था और मुख्य चीन आजकल ऐसा ही करने का प्रयास कर रहा है। किन्तु, यदि किसी देश मे बढती हुई जनसख्या की तुलना मे कृषि-योग्य भूमि एव अन्य प्राकृतिक साधन दोनो का अभाव है, उसके लिए माल्थस द्वारा वर्णित समस्या और भी गभीर हो जाती है। अत्यधिक औद्योगिक राष्ट्र होते हुए भी जापान के साथ यही बात पाई जाती है। यदि प्राकृतिक साधनों का अभाव नही होता, तो जापान पश्चिमी अर्थ-व्यवस्थाओ से सम्भवत. कम विकसित नहीं होता।
2. उदाहरण के लिए देखे, आर० नर्क्स की पुस्तक 'प्रोब्लेम्स ऑफ कैपिटल फारमेशन इन अंडरडेवलप्ड कॉन्ट्रीज'।

निम्न पारिवारिक आय, मितव्ययी मध्यम वर्ग की स्वल्पता, पूँजी-बाजार एवं बचत वाली अन्य संस्थाओं का दोषपूर्ण संगठन, सम्पन्न वर्ग द्वारा प्रदर्शन, उपभोग तथा बचत की आदत को प्रभावित करने वाले अन्य तथ्यों को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि पूँजी की अपर्याप्त पूर्ति के माप के रूप में अल्प बचत सभी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की एक सर्वनिष्ठ समस्या है। किन्तु पूँजी की माँग (विनियोग के पूर्व) केवल अल्प-विकसित अर्थव्यवस्थाओं की ही समस्या नहीं है।

यदि यह मान लिया जाय कि समाज में जितनी बचत होती है, ठीक उतनी ही रकम का विनियोग होता है, तो समाज की पूँजी का स्टाक बढ़ रहा है, स्थायी है अथवा ह्रासमान है, इस आधार पर आर्थिक विकास के तीन प्रतिरूप बतलाये जा सकते हैं।[1] इस प्रकार यदि समाज अपने शुद्ध उत्पादन से कम का उपभोग करता है, जिससे पूँजी के वर्तमान कोष अथवा शुद्ध विनियोग[2] में वृद्धि हो रही हो तो इसे प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती है। पुनः यदि समाज अपने शुद्ध उत्पादन का पूरा-पूरा उपभोग करता है, जिससे शुद्ध विनियोग शून्य के बराबर होता है, तो इसे स्थैतिक अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है। अंततः, यदि समाज अपने शुद्ध उत्पादन से भी अधिक का उपभोग करता है जिससे शुद्ध विनियोग ऋणात्मक होता है, यानी प्रतिस्थापन के बगैर ही पूँजी के कोष में कमी आ रही हो तो इसे *ह्रास-मान अर्थ-व्यवस्था कहा जा सकता है।* अतएव, *यदि किसी देश के पास* पूँजी का सतत-प्रवाही कोष अल्प मात्रा में हो तो इससे तीव्र आर्थिक विकास के विरुद्ध परिकल्पना विरचित होती है।

---

1. इन प्रतिरूपों को प्रतीकात्मक रूप में निम्नांकित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

   प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था : $(dy/dt) > o$ कारण कि $(dk/dt) > o, (y > c, s = l > o)$।

   स्थैतिक अर्थ-व्यवस्था : $(dy/dt) = o$ कारण कि $(dk/dt) = o, (y = c, s = l = o)$।

   ह्रासमान अर्थ-व्यवस्था : $(dy/dt) < o$ कारण कि $(dk/dt) < o, (y < c, s = l < o)$।

   यहाँ पर y विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति, k वास्तविक पूँजी, c उपभोग, s बचत, l विशुद्ध विनियोग तथा t समय है।

2. एस० कुजेन्ट्स के अनुसार वर्तमान समय में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में शुद्ध विनियोग की दर राष्ट्रीय उत्पत्ति के 3 प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक तथा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में 10 से 15 प्रतिशत तक होती है। (देखें, मार्च, 1955 ई० के **'अमेरिकन इकानॉमिक रिव्यू'** में इनका 'इकानॉमिक ग्रोथ एण्ड इनकम इन इक्यूलिटी।')

टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी पिछड़ापन

औसत उत्पादन व्यय अथवा उत्पादन से सम्बद्ध श्रम या पूंजी के ऊँचे अनुपात के रूप मे मापने पर पिछडी हुई टेक्नोलॉजी की स्थिति मे एक और भी परिचालन-सम्बन्धी सूचक अवलोकित हो सकता है। साधारणत टेक्नोलॉजी की दृष्टि से अग्रवर्ती अर्थ-व्यवस्थाओ की अपेक्षा टेक्नोलॉजी की दृष्टि से मद पडी हुई अर्थ-व्यवस्थाओ मे उत्पादन की सपूर्ण शुद्ध लागत (यानी एक निश्चित मात्रा मे उत्पादन के लिए पूंजी, श्रम एव अन्य साधनो का आगत) अधिक होती है। इसी वास्तविक अर्थ मे उत्पादन के मौद्रिक व्यय मे सम्मिलित अल्प-मौद्रिक मजदूरी के बावजूद, बडे पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिता के परिणामस्वरूप एक अग्रवर्ती अर्थ-व्यवस्था अल्प लागत क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करती है।

साथ ही टेक्नोलॉजी की दृष्टि से पिछडी हुई अर्थ-व्यवस्था मे साधनो का मूल्य (मजदूरी, ब्याज इत्यादि) स्थायी दिया हुआ होने पर, सम्भवत नियमित तथा औसत[1] रूप से उच्च श्रम-निपज अनुपात तथा उच्च पूंजी-निपज अनुपात पाये जाते हैं। इससे बहुधा श्रम एव पूंजी दोनो की अल्प-उत्पादकता का बोध होता है। टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी पिछडापन अकुशल एव अप्रशिक्षित श्रमिको के रूप मे परिलक्षित होता है। अतएव, पूंजीगत साधनो के एक दिये हुए कोष के साथ तकनीक की दृष्टि से अपेक्षाकृत प्रशिक्षित श्रमिको की तुलना मे निपज की प्रति इकाई पर अधिक श्रमिको की आवश्यकता पडती है। अत. टेक्नोलॉजी की दृष्टि से पिछडापन के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के श्रम-निपज अनुपात मे वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। टेक्नोलॉजी की पिछडी हुई स्थिति के परिणामस्वरूप ही एक निश्चित मात्रा मे राष्ट्रीय निपज के उत्पादन मे अधिक पूंजीगत साधनो की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, यदि अपर्याप्त तकनीकी ज्ञान के परिणामस्वरूप श्रम की उत्पादन क्षमता Y/N मे पूंजी एव श्रम के अनुपात K/N की अपेक्षा कम अनुपात मे वृद्धि होती है, तो पूंजी-निपज अनुपात मे $K/Y = (KN)/(YN)$ के माध्यम से वृद्धि होगी।[2] टेक्नोलॉजिकल पिछड़ापन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के पूंजी-निपज अनुपात को बढाने मे कम-से-कम एक महत्वपूर्ण कारण है। इस प्रवृत्ति के प्रत्यावर्तन मे लोचपूर्ण साधनो के मूल्य पर किस हद तक निर्भर किया जा सकता है, अभी तक वर्णनाधीन है।

संरचनात्मक अपूर्ण रोजगार

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की एक अन्य विशेषता संरचनात्मक अपूर्ण

---

1. विस्तृत विवेचन के लिए इस पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय देखे।
2. विवादास्पद अशो के लिए पाँचवें अध्याय के उपखड नीति 'प्राचल के रूप पूंजी-निपज अनुपात' देखे।

रोज़गार है। इस प्रकार की बेरोज़गारी समर्थ माँग के पर्याप्त रहने पर भी पूँजीगत साधनों के पूर्ण उपयोग के बावजूद इनकी अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न होती है। यहाँ उपलब्ध श्रम (जनसंख्या में वृद्धि द्वारा शासित वर्तमान श्रम-संख्या), नियुक्त श्रम (श्रम-संख्या का वह भाग जो पूँजी के दिए हुए कोष पर, समर्थ मांग में परिवर्तन के अनुसार वास्तव में नियुक्त है) तथा अपेक्षित श्रम (श्रम का अधिकतम संभावी परिमाण जो समर्थ मांग के दिये हुए आकार के आधार पर वर्तमान उपकरणों के पूर्णरूपेण उपयोग करने पर रोजगार में लगाया जा सकता है और जो पूँजीगत साधनों एवं पूँजी की उत्पादन-क्षमता में परिवर्तन के अनुसार परिवर्तनशील है) में अन्तर करना लाभदायक होगा। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में नियमित तथा औसत रूप से अपेक्षित श्रम की अपेक्षा उपलब्ध श्रम का आधिक्य रहता है और इन दोनों का अन्तर संरचनात्मक अपूर्ण रोज़गार का माप है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में संरचनात्मक अपूर्ण रोज़गार की विद्यमानता मुख्यत: बढ़ती हुई श्रम-संख्या की तुलना में पूँजी के दीर्घकालिक अभाव का परिणाम है। इसके विपरीत, विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में बड़े पैमाने पर बेरोजगारी मुख्यत: दी हुई जनसंख्या एवं पूँजी के कोष दोनों की तुलना में समर्थ माँग में चक्रीय कमी के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। सरसरी तौर पर निम्नलिखित उदाहरण लाभदायक हो सकता है। जैसा कि पहले प्रासंगिक ढंग से इसे परिभाषित किया गया है : मान लें कि N = उपलब्ध श्रम, Ne = नियुक्त श्रम एवं Nr = अपेक्षित श्रम हैं। अब मोटे तौर पर बेरोजगारी के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण सम्भव है— (क) किसी देश में सम्पूर्ण बेरोज़गारी $= N - Ne$; (ख) किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में संरचनात्मक अपूर्ण रोजगार $= N - Nr$; तथा (ग) किसी विकसित अर्थ-व्यवस्था में चक्रीय बेरोजगारी $= Nr - Ne$। तो भी जैसा कि आगे के एक अध्याय में वर्णन किया गया है, एक वास्तविक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में एक ही समय सम्भवत: दोनों प्रकार की बेरोजगारी पाई जा सकती है। अपेक्षित श्रम की तुलना में उपलब्ध श्रम के आधिक्य का तात्पर्य यह है कि पूँजी का वर्तमान कोष, पूर्ण रूप से प्रयुक्त होने पर भी सम्पूर्ण उपलब्ध श्रम को उत्पादक रोजगार में लगाने के लिए अपर्याप्त है। दूसरी ओर नियुक्त श्रम (Ne) की तुलना अपेक्षित श्रम (Nr) के आधिक्य का तात्पर्य यह है कि उपलब्ध श्रम का वास्तविक नियुक्त अंश पूँजी के वर्तमान कोष के पूर्ण रूप से प्रयुक्त होने पर (जबकि समर्थ माँग पर्याप्त है) जितने नियुक्त श्रम की आवश्यकता पड़ेगी, उससे कम है। इन विभिन्न प्रकार की बेरोजगारियों के विस्तृत एवं गत्यात्मक विश्लेषण को अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की दुहरी बेरोज-गारी के अध्ययन (छठे अध्याय) तक के लिए स्थगित करना पड़ेगा।

आय की अत्यधिक असमानता

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का दूसरा परिचालन-सम्बन्धी चिह्न अत्यधिक

मात्रा मे आय की असमानता है। इसे लॉरेन्ज वक्र के अर्थ मे समता की पूर्ण रेखा से विचलन के रूप मे मापा जा सकता है। एक प्रारूपिक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए लॉरेन्ज वक्र को एक प्रारूपिक विकसित अर्थ-व्यवस्था के वक्र की तुलना मे 45° की रेखा के बहुत दूर पृथक् रहने की आशा की जाती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विकसित देशो की तुलना मे अल्पविकसित देशो मे न्यूनतम आय वाली 10 प्रतिशत जनसख्या की आय कुल आय के 10 प्रतिशत से बहुत कम होती है। यह इस सामान्य विचार कि अधिकाश अल्प-विकसित देशो मे सम्पन्नता एव विपन्नता के बीच बहुत विस्तृत खाई पाई जाती है, से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जिससे इनमे मध्यम वर्ग वस्तुत पाया ही नही जाता। निश्चय ही अपवादस्वरूप कुछ हालतो मे राजनीतिक सिद्धान्त अथवा मानवतावादी दर्शन के परिणामस्वरूप आय की अत्यधिक असमानता को रहने नही दिया जाता है। किन्तु इन अपवादो से इस मौलिक तथ्य कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की अपेक्षा समग्र रूप से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ तथा किसी अर्थ-व्यवस्था के औद्योगिक परिपक्वता[1] की अपेक्षा औद्योगीकरण की प्रक्रिया की स्थिति मे आय की असमानता अधिक पाई जाती है, कोई परिवर्तन नही होता। इसके दो सामान्य कारणो का यहा उल्लेख किया जा सकता है।

प्रथमतः, औद्योगीकरण की स्थिति मे अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ, अनिच्छा-पूर्वक ही सही, पूंजी-सग्रह[2] की गति को तीव्र बनाने के लिए उच्च मात्रा मे आय की विषमता को बनाये रखने के प्रबल आर्थिक दबाव के अतर्गत रहती हैं। निर्धन व्यक्तियो की अपेक्षा धनवानो की सीमात बचत की प्रवृत्ति साधारणतया अधिक होती है। अतएव, जिस समाज मे औसत पारिवारिक आय से बहुत उच्च या बहुत निम्न आय वाले परिवारो का अनुपात जितना ही अधिक होगा, उसकी सीमात बचत की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक होगी और इसलिए पूंजी की पूर्ति भी अधिक होगी। अब आय मे अत्यधिक असमानता आर्थिक विकास मे वास्तव मे सहायक होती है या नही यह दूसरी बात है। द्वितीय, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे वास्तविक आय का स्तर तथा इसमे वृद्धि की दर इतनी निम्न होती है कि इन प्रगतिशील करारोपण, सामजिक बीमा, श्रमिक सघवाद, सामूहिक शिक्षा, बडे पैमाने पर उत्पादन, एकाधिकार-विरोधी अधिनियम और व्यावसायिक गतिशीलता जैसी समकारी शक्तियो को

---

1. कुछ पूर्वकालिक तथा वर्तमान अनुभवाश्रित आंकडो के लिए एस० कुज्नेट्स की पूर्व उद्धृत पुस्तक **'इकानामिक ग्रोथ एण्ड इनकम इन इक्यूलिटी'** देखे।
2. यह दबाव उन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ में नही पाया जाता, जिनमे स्वय सरकार बचत करने वाले मुख्य अभिकरण के रूप मे कार्य करती है तथा उन अर्थ-व्यवस्थाओ मे जो मुक्त रूप मे तथा जो सुगमतापूर्वक विदेशी पूंजी प्राप्त कर सकती हैं, कम मात्रा मे पाया जाता है।

बड़े एवं वृद्धिशील पैमाने पर विकसित करने के लिए आवश्यक आर्थिक आधार का अभाव रहता है। क्योंकि जब तक स्वयं राष्ट्रीय आय के आकार में वृद्धि नहीं की जाएगी, तब तक किसी विशेष आय वर्ग के हिस्से को केवल दूसरे वर्ग की आय को कम करके ही बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार समकारी शक्तियों के प्रभावपूर्ण उपयोग के लिए स्थान रह जाता है।

बाह्य ऋणग्रस्तता

विदेशी व्यापार सम्बन्धोंवाली विवृत व्यवस्था समझी जाने वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की अंतिम विशेषता उसकी दीर्घकालीन ऋणी की स्थिति है। किसी भी देश की निरन्तर बाह्य ऋणग्रस्तता मूलतः उस देश की प्रबल आयात-सम्बन्धी आवश्यकताओं की तुलना में दुर्बल निर्यात-क्षमता को परिलक्षित करती है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की दीर्घकालीन ऋण की स्थिति की व्याख्या निम्नांकित रूप में की जा सकती है—$B = P + M - E$। जिसमें B शुद्ध विदेशी उधार, P पूंजीगत खाते में शुद्ध विदेशी भुगतान, M वास्तविक आयात तथा E वास्तविक निर्यात हैं। यह समीकरण यह बतलाता है कि आयात में वृद्धि अथवा निर्यात में कमी के परिणाम स्वरूप शुद्ध विदेशी उधार में वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि शुद्ध विदेशी भुगतान में वृद्धि होने से और भी उधार लेने की आवश्यकता पड़ेगी, जब तक कि इस प्रकार की वृद्धि निर्यात में समवृद्धि अथवा आयात में समह्रास के द्वारा विस्थित न हो जाय। इस प्रकार विचार करने पर यह कोई संयोग की बात नहीं जान पड़ती कि इस समय की अधिकांश विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को अपने औद्योगीकरण की प्रक्रिया में तथाकथित ऋणी की स्थिति से गुजरना पड़ा हो। इस दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रथम महायुद्ध के पूर्व तक एक ऋणी राष्ट्र था।

यदि भूत में कोई अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था दीर्घकालिक ऋणी राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती थी, तो क्या ऐसा कोई कारण है, जिससे कि भविष्य में भी वह ऐसे राष्ट्र का ही प्रतिनिधित्व करती रहे। प्रयोग के तौर पर इसके कई उत्तर दिये जा सकते हैं। एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ टेक्नोलॉजी की दृष्टि से उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओं से इतनी पिछड़ी होती हैं कि उन्हें विश्व-बाजार में प्रतियोगिता के चलते क्षति उठानी पड़ती है। फलतः वे अपने को आयात-आधिक्य के लिए सुग्राही बना लेती हैं, जिससे उन्हें विदेशों से निरन्तर उधार लेना पड़ता है। इसका दूसरा उत्तर यह है कि आजकल की अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएं बाह्य भुगतान की अल्पकालीन समस्या की अपेक्षा विदेशी आधार के दीर्घकालीन आशय अथवा अपने आर्थिक विकास के सम्बन्ध में अधिक चिंतित रहती हैं और स्वर्ण के विक्रय अथवा विदेशी अनुदान के द्वारा निर्यात से अधिक आयात का वित्त-प्रबंधन अधिक-से-अधिक अल्पकाल में ही सम्भव है। दीर्घकाल में अधिकांश अल्प-

विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए यह सम्भव नही है । अतः आज यह सर्वत्र स्वीकार किया जाता है कि अल्प-विकसित देशो मे आर्थिक विकास को अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी के मुक्त प्रवाह के संयोग पर नही छोड़कर उन्हे पुनर्निर्माण तथा विकास-सम्बन्धी विश्व बैंक एव अन्य सस्थाओ, जिनका उद्देश्य उदार शर्तों एव तकनीकी आधार पर दीर्घ-कालीन विकास-सम्बन्धी ऋण देना है, द्वारा आयोजित तरीके से सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार के आयोजित बहुराष्ट्रीय ऋण के लेन-देन का लाभ यह है कि इससे पूंजी-सम्पन्न राष्ट्रो को साम्राज्यवादी के विशेष नाम से सम्बोधित हुए बगैर विदेशी ऋण देने का प्रोत्साहन मिलता है तथा पूंजी-विपन्न राष्ट्रो का परम्परागत राजनीतिक बंधनों के *भय से मुक्त होकर तथा अत्यधिक राष्ट्रीय मितव्ययिता की आवश्यकता के बगैर ही* विदेशो से उधार लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है।

उपर्युक्त रूपरेखा द्वारा एक प्रारूपिक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था एव प्रारूपिक विकसित अर्थ-व्यवस्था मे विभेद करने के लिए कुछ लाभदायक अभिलक्षणो का पता लग जाता है, यद्यपि कि इनमे से कुछ वास्तविक रूप मे अविकसित अर्थ-व्यवस्थाएं दोनो की बीच की सीमारेखा पर अवस्थित होती है ।

विकास के सरचनात्मक निर्धारक तत्व

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की मापनीय अभिव्यक्तियों को देख लेने के पश्चात् अब हम इन अभिव्यक्तियों के अधःस्थ कारणात्मक तत्वों का एक आम ढाचा तैयार कर सकते है । इसका एकमात्र उद्देश्य किसी भी आधुनिक समाज मे आर्थिक विकास के प्रतिरूप तथा गति को प्रभावित करने वाले कुछ तकनीकी कारणो की सामान्य प्रकृति एव महत्व के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक पर्यवेक्षण करना है । जिन आधार-भूत निर्धारक तत्वों की यहा पर व्याख्या की जायेगी, वे विकसित तथा अल्प-विकसित दोनो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ मे, यद्यपि स्पष्टत. अधिक या कम बल के साथ, लागू होते है ।

श्रम-संख्या

एक 'सवृत' व्यवस्था समझी जाने वाली किसी भी अर्थ-व्यवस्था की वास्तविक आय मूलतः श्रम-सख्या, पूंजी के कोष तथा टेक्नोलॉजिकल प्रगति के तकनीकी सम्बन्ध पर निर्भर करती है । पूंजी के कोष तथा टेक्नोलॉजी की स्थिति को दिया हुआ मानकर हम आर्थिक विकास मे श्रम के महत्व पर अपना ध्यान दे सकते है । इसे सोदाहरण स्पष्ट करने के लिए मान लिया जाय कि Y=राष्ट्रीय निपज, N=श्रम सख्या और H=श्रम की औसत उत्पादकता है । तो हमे निम्नांकित तुल्यांक प्राप्त होते है —

(1) राष्ट्रीय निपज : $Y = H.N$

(2) श्रम-संख्या : $N = Y/H$

(3) श्रम की उत्पादन-क्षमता : $H = Y/N$

यहां Y पूर्ण रोज़गार से संभाव्य निपज, N पूर्ण नियुक्ति रहने पर श्रम की संख्या तथा H टेक्नोलॉजी द्वारा निर्धारित कुल निपज एवं कुल श्रम[1] का अनुपात है।

उपर्युक्त तुल्यांकों से स्पष्ट है कि यदि स्थिर श्रम की उत्पादन-क्षमता की तुलना में नियुक्त श्रम-संख्या में वृद्धि हो अथवा यदि स्थिर श्रम-संख्या की तुलना में श्रम की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो, तो राष्ट्रीय निपज में वृद्धि हो सकती है। यदि श्रम एवं निपज का अनुपात प्राविधिक दृष्टि से निश्चित हो, तो हमें श्रम-संख्या में वृद्धि के साथ-साथ निपज में वृद्धि का सहजतम उदाहरण मिलता है। किन्तु श्रमिकों की संख्या में वृद्धि, खाने वालों की संख्या में वृद्धि कर जटिल स्थिति उत्पन्न कर देती है। क्योंकि यदि सम्पूर्ण जनसंख्या (केवल श्रमिकों संख्या ही नहीं) में सम्पूर्ण निपज से तीव्र गति से वृद्धि होती है, तो श्रमिकों की संख्या में वृद्धि के चलते कुल निपज में वृद्धि के परिणामस्वरूप भी प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय के रूप में आर्थिक प्रगति नहीं होगी। इसका तात्पर्य यह है कि आर्थिक प्रगति के लिए उपज में वृद्धि के साथ-साथ श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता (H) में भी वृद्धि अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि यदि संस्कृति द्वारा निर्धारित (जैसे काम एवं अवकाश के बीच चुनाव) कुल जनसंख्या का वह अंश, जो कार्य करने के लिए तत्पर तथा इच्छुक है, दिया हुआ है तो राष्ट्रीय निपज में वृद्धि की गति अन्य बातों के साथ-साथ नियुक्त श्रम की मात्रा एवं गुण, यानी उत्पादन-क्षमता पर निर्भर करती है।

वास्तविक पूंजी का कोष

आर्थिक विकास का दूसरा महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व वास्तविक पूंजी की उपलब्ध मात्रा है। वर्तमान संदर्भ में 'पूंजी' शब्द से उन मानव-कृत उत्पादन के भौतिक

1. उदाहरण के लिए, मान लिया कि Y=40 मिलियन डालर (स्थिर मूल्य पर) N=40 मिलियन श्रमिक एवं प्रति वर्ष प्रति श्रम की इकाई कुल मनुष्य घंटे 2000 (प्रति वर्ष 50 सप्ताह और प्रति सप्ताह 40 घंटे की मान्यता पर)। तब $Y/N = 40{,}000/40 \times 2{,}000 = 4/8 = 0{\cdot}5$/ यदि प्रति सप्ताह औसत काम के घंटे 40 से अधिक थे तो प्रति मनुष्य घंटे (H) निपज 0·5 से भी कम होगा। साथ ही, वास्तविक वेरोजगारी N के मूल्य कमी ला देगी और इस प्रकार Y के मूल्य में भी जब तक कि H में वृद्धि द्वारा उसकी विस्थिति नहीं हो जाती।

साधनो का बोध होता है, जो साधारणत. भौतिक उपभोग[1] से शुद्ध उत्पादन के अधिक हो जाने के फलस्वरूप, यानी घनात्मक वास्तविक बचत एव निर्बल निवेश के परिणामस्वरूप समुपस्थित होते है। राष्ट्रो के औद्योगीकरण मे पूंजी-सचय का ऐतिहासिक दृष्टि से अपूर्वतया इतना निर्णयात्मक स्थान रहा है कि इसने यदि इनकी सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को नही, तो कम-से-कम इनकी उत्पादन-प्रणाली को 'पूंजीवादी' या 'चक्करदार' नाम से विख्यात कर दिया है। पूंजी के कोप-परिवर्तन के प्रभाव के पृथक्करण के लिए, श्रम की पूर्ति को स्थिर मान लेना सुविधाजनक होगा।

अब निम्नलिखित सम्बन्धों पर विचार करना सम्भव होता है :—

(4) राष्ट्रीय निपज : $Y = fK$

(5) पूंजी का कोप . $K = Y/f$

(6) पूंजी की उत्पादिता $f = Y/K$

यहा पर K वास्तविक पूंजी तथा f पूंजी औसत उत्पादिता है। (4) से (6) तक उपर्युक्त सम्बन्ध वास्तविक पूंजी या पूंजी की उत्पादिता अथवा दोनो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप निपज मे वृद्धि की सैद्धान्तिक सम्भावना को स्पष्ट करते है। यदि पूंजी की उत्पादिता (f) को प्राविधिक रूप से दिया हुआ मान लिया जाय, तो निपज मे वृद्धि का एक तरीका पूंजी के वास्तविक कोप मे वृद्धि है।[1] अब स्वाभाविक प्रश्न यह होता है कि क्यो किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे पूंजी के कोप मे 5 प्रतिशत की दर से तथा किसी विकसित अर्थ-व्यवस्था मे 15 प्रतिशत की दर से वृद्धि होती है। इस प्रश्न का सर्वोत्तम तरीके से जवाब बचत की प्रवृत्ति, जो पूंजी की पूर्ति का प्रतिनिधित्व करती है तथा विनियोग की प्रवृत्ति जो पूंजी की मॉग का प्रतिनिधित्व करती है, के सदर्भ मे पृथक्-पृथक् रूप से दिया जा सकता है। पूंजी की मॉग एव पूर्ति के आम निर्धारक तत्त्व सर्वज्ञात है, किन्तु विशेषत अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे ऐच्छिक बचत की न्यूनता को सपूरित करने में बलात् बचत (उदाहरण के लिए बजट के आधिक्य, विनिधान की प्राथमिकता, मितव्ययिता-नियतन, अनिवार्य

---

1. कुछ लोग शुद्ध विनियोग की धारणा को विस्तृत बनाने के लिए इसके अन्तर्गत स्वास्थ्य एव सफाई के कार्यक्रम द्वारा श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि, निरक्षरता को कम करने के लिए शिक्षा की सुविधाओ मे विस्तार तथा प्राविधिक प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि पर व्यय को भी रखना उचित समझते है। उदाहरण के लिए देखिए, ट्वंटियेथ सेनचुरी फड द्वारा 1955 ई० मे प्रकाशित एन० एस० बुचानन एवं एच० एस० एलिस की पुस्तक **एप्रोचेज टू इकानामिक डवलपमेंट**। किन्तु हम लोगो के अर्थ मे इस प्रकार के व्यय से प्रत्यक्ष रूप मे पूंजी-संचय नही होता।

बचत-पत्र-कार्यक्रम, अंतःप्रशासनीय उधार तथा विदेशी विनिमय नियंत्रण) के द्वारा तथा निजी निवेश को पूरित करने में सरकारी निवेश की संभावनाओं को स्वीकार करना चाहिए।

टेक्नोलॉजिकल अग्रवर्त्तिता

टेक्नोलॉजी अंतिम आंतरिक निर्धारक तत्त्व है, जिसकी व्याख्या इस प्रारंभिक पर्यवेक्षण में की जायगी। व्यावहारिक अर्थपूर्ण ढंग से टेक्नोलॉजी की व्याख्या करने के लिए इसकी अभिव्यक्ति श्रम-निपज अनुपात तथा पूंजी-निपज अनुपात जैसे कुछ प्राविधिक प्राचलों के रूप में सुविधाजनक होगी। इन दोनों गुणकों में से किसी में ह्रास का तात्पर्य आर्थिक क्षेत्र में टेक्नोलॉजिकल प्रगति होगा; क्योंकि श्रम-निपज अनुपात अथवा पूँजी-निपज अनुपात में ह्रास से श्रम अथवा पूँजी की औसत उत्पादकता में वृद्धि का बोध होता है। इसे (3) तथा (6) समीकरणों के पुनःसूत्रीकरण के द्वारा निम्नांकित प्रकार से दिखलाया जा सकता है :—

(7) $(1/H) = (N/Y)$ (श्रम-निपज अनुपात)

(8) $1/f) = (K/Y)$ (पूंजी निपज अनुपात)

अन्य बातों के समान रहने पर, श्रम-निपज अनुपात में ह्रास (श्रम की उत्पादकता में वृद्धि) अथवा पूंजी-निपज अनुपात में ह्रास (पूंजी की उत्पादकता में वृद्धि) के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय निपज में वृद्धि होती है। अब इस अवसर पर एक दिलचस्प प्रश्न यह होता है कि किन शक्तियों के परिणामस्वरूप निम्नतर श्रम-निपज अनुपात तथा पूँजी-निपज अनुपात से श्रम एवं पूँजी की उच्चतर उत्पादकता का बोध होता है ? विशुद्ध टेक्नोलॉजिकल शब्दों में इस प्रश्न का जवाब देना अधिक आकर्षक जान पड़ता है, किन्तु मानवीय प्रयोजनों, बाजारगत दशाएँ, आयोजित क्रियाएँ तथा अन्य अन्योन्याश्रयी शक्तियों को ध्यान में रखते हुए इस आकर्षण का संवरण अनिवार्य हो जाता है। तदनुसार, श्रम-निपज अनुपात में दीर्घकालिक ह्रास के लिए अत्यधिक श्रम-विभाजन, श्रम के बदले अन्य साधनों के प्रतिस्थापन के लिए तकनीकी एवं वित्तीय सुविधा, श्रम बचाने के साधनों का अधिकाधिक अंगीकरण मजदूरी की उच्च गति, जनसंख्या की मन्द वृद्धि आदि शक्तियों के सम्मिश्रण को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। जहाँ तक पूंजी-निपज अनुपात में दीर्घकालिक ह्रास को प्रभावित करने वाली टेक्नोलॉजिकल तथा अन्य शक्तियों का सम्बन्ध है, पूंजी बचाने वाले अन्वेषण तथा नवीन क्रियाएँ, पूँजी की अधिक टिकाऊपन वाली संरचना, ऊँची दीर्घकालीन व्याज की दर, अधिक पूँजी प्रधान से कम पूँजी प्रधान उद्योगों की ओर संरचनात्मक-स्थानान्तरण तथा अन्य उत्पादक साधनों के बदले पूंजी के प्रतिस्थापन की दीर्घकालीन लोच विशेष रूप से उल्लेखनीय है। टेक्नोलॉजिकल प्राचलों में ये दीर्घकालिक परिवर्तन या तो, जैसा कि मार्क्स और शुम्पीटर का विचार

है, प्रधानतया स्वतंत्र प्रकृति के हो सकते हैं, या जैसा कि परम्परागत विश्लेषण से स्पष्ट है, मुख्यतः अभिप्रेरित प्रकृति (बाजारगत दशाओं, जिनमें सापेक्ष साधनों के मूल्य भी सम्मिलित हैं) के हो सकते हैं।

बाह्य निर्धारक

आन्तरिक विकास के दो आधारभूत मौलिक निर्धारक तत्त्व किसी राष्ट्र के निर्यात की क्षमता तथा पूँजी के आयात-सम्बन्धी उसकी योग्यता एवं इच्छा हैं। इनमें पहला निर्धारक दीर्घकाल में निर्णायक होता है, क्योंकि लगातार आयात आधिक्यों (यानी राष्ट्रीय निपज में शुद्ध योग) के भुगतान की योग्यता अन्ततोगत्वा किसी राष्ट्र की उस क्षमता पर निर्भर करती है, जिसके कारण वह प्रतियोगात्मक लाभदायक व्यय से दूसरे राष्ट्रों द्वारा अपेक्षित वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन एवं निर्यात कर सकता है। दूसरा निर्धारक किसी राष्ट्र के औद्योगीकरण की प्रारम्भिक स्थिति में, जबकि आवश्यक आयात के भुगतान के लिए उसकी निर्यात की क्षमता तकनीकी दृष्टि से सीमित होती है, विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता है।

आधुनिक विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार के परिवर्तियों का घरेलू आय एवं घरेलू उत्पादकता पर विरोधात्मक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि निर्यात का घरेलू आय पर स्फीतिक, किन्तु घरेलू उत्पादकता पर अवस्फीतिक प्रभाव पड़ता है जबकि आयात का घरेलू आय पर अवस्फीतिक तथा घरेलू उत्पादकता पर स्फीतिक प्रभाव पड़ता है। अतएव, विशेषतः ऐसी स्थिति में, जब हम स्फीति एवं असंतुलन के बगैर स्थायी विकास को प्राप्त करने एवं बनाये रखने की सम्भावनाओं में अभिरुचि रखते हैं, तब हमें विदेशी व्यापार के दोनों, गुणक एवं उत्पादकता प्रभाव, की जाँच करना महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार की विस्तारपूर्वक जाँच आगे चलकर की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, यदि अर्थ-व्यवस्था को बगैर निरन्तर मुद्रास्फीति एवं असंतुलन की हलचल के दीर्घकालिक विकास की ओर अग्रसर होना है, तो विदेशी व्यापार का गुणक-प्रभाव उसके उत्पादकता प्रभाव का अवश्य ही अतिक्रमण करेगा। आधुनिक विश्लेषण से हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि पूर्ण रोजगार सम्बन्धी-संस्थापक मान्यता को अवश्य छोड़ देना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण रोजगार एवं अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में संतुलन की प्रक्रिया को समझाने के लिए आय, न कि मूल्य-यन्त्र, का अध्ययन अनिवार्य है। इसका तात्पर्य यह है कि आधुनिक परि-स्थितियों में व्यापार की शर्तों एवं मूल्य लोच की परम्परावादी पूर्वधारणा की जगह आयात की सीमांत प्रवृत्ति, निर्यात-आय अनुपात, आयात-आय अनुपात, निर्यात-प्रधान तथा आयात-प्रधान घरेलू उद्योगों की उत्पादकता तथा अन्य गैर-मूल्य-सम्बन्धी कारणों के अधिकाधिक विश्लेषण पर जोर दिया जाएगा।

विदेशी ऋण का, चाहे यह प्रतिकूल-भुगतान-संतुलन का परिणाम हो अथवा पूँजी के स्वतःप्रेरित आयात का, दीर्घकालिक महत्त्व इस बात में है कि ऋणी देश ऋण के रूप में प्राप्त रकम का उत्पादक तरीके से प्रयोग करें, जिससे कि उसकी घरेलू वास्तविक आय में उसके ऋण के वास्तविक दायित्व से अधिक वृद्धि हो। राष्ट्र अपने आयात के आधिक्य को इस प्रकार पूरा कर सकते हैं या नहीं, यह केवल उनके आयात की प्रवृत्ति पर नहीं, वरन् अन्य राष्ट्रों के विदेशों को उधार देने की इच्छा पर निर्भर करता है। किन्तु ऋणी राष्ट्र इस प्रकार अपने उत्पादक साधनों को विकसित करने में सफल हो जाते हैं, तो जैसा कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं वित्त के इतिहास से स्पष्ट है, वे अंततः घाटेवाला एवं ऋणी राष्ट्र नहीं रहकर आधिक्य वाला एवं ऋणदाता राष्ट्र बन जाएँगे। जहाँ तक अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था वाले राष्ट्रों का सम्बन्ध है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के प्रवाह से वे ऋणदाता एवं उधार देने वाले राष्ट्रों के रूप में नहीं, वरन् ऋणी एवं उधार लेने वाले राष्ट्र के रूप में ही लाभान्वित होंगे।

दूसरी ओर विदेशी उधारदान का दीर्घकालीन महत्त्व विदेशी अर्जक परिसंपत्ति के व्यूह बनाने की सम्भावना में है, जिससे इनके शुद्ध अर्जक से अंततः आयात-आधिक्य की प्रप्ति की जा सके। इस सम्भावना को एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के ऋणदाता की स्थिति $L=E-M+R$ के रूप में व्यक्त करके स्पष्ट किया जा सकता है। इसके L शुद्ध विदेशी उधारदान, R पूँजी खाते में शुद्ध विदेशी प्राप्तियाँ और E तथा M पहले की ही तरह क्रमशः वास्तविक निर्यात तथा आयात हैं। यह समीकरण यह बतलाता है कि यदि शुद्ध विदेशी प्राप्तियाँ बहुत कम हैं, जैसा कि विदेशी उधारदान की प्रारंभिक स्थिति में संभवतः होता है, तो विदेशी उधारदानों में वृद्धि के लिए निर्यात-आधिक्य की प्राप्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा मौलिक रास्ता नहीं है। यदि विदेशी उधारदान में इस प्रकार वृद्धि हो जाती है, तो ऋणदाता राष्ट्र, आगे या पीछे, पूँजी-खाते में विदेशों से अधिक रकम अर्जन करेगा (यानी R में वृद्धि होगी)। पुनः जैसा कि उपर्युक्त समीकरण से स्पष्ट है, यदि पूँजीगत खाते में शुद्ध विदेशी प्राप्तियाँ विदेशों में प्रचलित उधारदान से अधिक है, यानी $R > L$ हैं, तो आयात निर्यात से अधिक हो सकता है, यानी $M > E$। इस सम्बन्ध में यह कल्पना करना कोई कठिन काम नहीं है कि यदि ग्रेट ब्रिटेन प्रथम युद्ध के पूर्व तक विश्व का महान् ऋणदाता राष्ट्र नहीं होता, तो उसके औद्योगिक विकास का स्वरूप सम्भवतः कुछ दूसरा ही होता। यदि ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्र, जिन्होंने द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप अपनी विदेशी सम्पूर्ण अथवा अधिकांश अर्जक सम्पत्ति को खो दिया है, इस प्रकार की विदेशी सम्पत्ति को पुनः संचित करना चाहते हैं, तो उनके लिए लगातार निर्यात-आधिक्य प्राप्त करना एवं उसे बनाये रखना तथा व्यापाराधिक्य के बराबर अथवा कम रकम विदेशों में उधार देना अधिकाधिक मात्रा में आवश्यक होगा। इसके

परिणामस्वरूप प्रचलित उधारदान के अतिरिक्त पूंजीगत खाते में जो विदेशी प्राप्तियां होगी, उन्हें आवश्यकता पड़ने पर आयात-आधिक्य को पूरा करने में प्रयोग किया जा जा सकता है।

इस रूपरेखा के बाद, अब हम लोग अधिक उचित रीति से, गम्भीरतापूर्वक एवं व्यवहृत रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण तरीके से आर्थिक विकास की प्रकृति एव प्रक्रिया का विश्लेषण करें।

अध्याय 3

विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति

विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करने के लिए, सर्वप्रथम निर्देश के किसी केन्द्रीय मानक, यानी निर्देश के सामान्य आधार के रूप में आर्थिक विकास के किसी आदर्श अभिसूचक की आवश्यकता होती है। अतएव, इस अध्याय में विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति की धारणा एवं निर्धारण की गवेषणा की जायगी। विकास की दर के इस लक्ष्य को एक बार स्पष्ट रूप से परिभाषित और निश्चित कर लेने के बाद इसे केवल परिष्कृत एवं कार्यान्वित करना ही रह जाता है। इस अध्याय में विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति की व्याख्या स्पष्टतः निम्नलिखित संदर्भ में की जायगी—(क) जीवन-मान एवं जनसंख्या की वृद्धि में सम्बन्ध, तथा (ख) बढ़ती हुई जनसंख्या की आर्थिक आवश्यकताओं एवं विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी सम्भावनाओं के बावजूद प्रगति की आदर्श गति को प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिए आवश्यक पूंजी-संचय की गति।

जनसंख्या की वृद्धि एवं जीवन-मान

किसी भी अर्थ-व्यवस्था में जनसंख्या एक ही साथ उपयोगिता-संतुष्टि का अंतिम विषय तथा उपयोगिता-निर्माण की एक मौलिक शर्त है। जनसंख्या की यह दुहरी विशेषता उपभोक्ता एवं उत्पादक के रूप में आर्थिक मनुष्य के दुहरे कार्य में निहित है। उपभोग करने वाली जनता के रूप में जनसंख्या उच्चतम जीवन-मान की आकांक्षा रखती है। कार्यकारी शक्ति के रूप में जनसंख्या इच्छित उच्च जीवन-मान को प्राप्त करने के लिए उसका आर्थिक आधार प्रस्तुत करती है। अतएव, उपभोक्ता के कल्याण एवं श्रम की उत्पादकता दोनों के दृष्टिकोण से जनसंख्या की वृद्धि एवं जीवन-मान के सम्बन्ध का विश्लेषण अनिवार्य है।

नियोजनीय जनसंख्या

पहले इस वृहत् प्रश्न, कि क्यों समय एवं स्थान के साथ-साथ (क) जनसंख्या की वृद्धि की दर, तथा (ख) दी हुई कुल जनसंख्या एवं नियोजनीय जनसंख्या के अनुपात में अंतर पाया जाता है, के कारणों की व्याख्या से प्रारंभ किया जाए। जन-संख्या के आकार में 'प्राकृतिक वृद्धि' (आप्रवास और उत्प्रवास को छोड़कर) जन्म-दर के मृत्यु-दर से अधिक होने पर निर्भर करती है। ये उपर्युक्त दरें स्वयं आर्थिक तथा

गैर-आर्थिक कारणों के सम्मिश्रण से प्रभावित होती है। जन्म-दर को प्रभावित करने वाले तत्त्वों में जनसंख्या-विशेषज्ञ साधारणत. निम्नलिखित का उल्लेख करते हैं. विवाह की औसत आयु, प्रसूति-विद्या की स्थिति, संतति-निग्रह का ज्ञान एव प्रयोग, गुप्त तथा प्रकट गर्भपात, सरकार द्वारा पारिवारिक सहायता, पारिवारिक बहुजननता, प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय, पारिवारिक आय पर करो का बोझ एव बच्चों के लिए भविष्य मे आर्थिक अवसर। जहाँ तक मृत्यु-दर का प्रश्न है, यह निम्नलिखित तत्त्वों से प्रभावित होती है—जनसख्या के घनत्व की मात्रा (स्वायत्त साधनों की तुलना मे जनसख्या), चिकित्सा-विज्ञान एव जन स्वास्थ्य-विज्ञान की स्थिति, युद्धों की आवृत्ति (अतर्राष्ट्रीय तथा गृह-युद्ध), प्राकृतिक आपदाएँ, महामारी, अकाल और स्वास्थ्य-बीमा की पद्धति।

यद्यपि जनांकिकीय निर्धारक अनेक है, तथापि अर्थशास्त्र की दृष्टि से जन-संख्या मे वृद्धि की अर्थपूर्ण व्याख्या इस सरल मान्यता मे पाई जा सकती है कि जनसख्या मे वृद्धि की दर निम्नलिखित रूप लेती है —

$$\frac{\triangle P}{P}=B\left(\frac{P}{K}\right)-D\left(\frac{P}{C}\right), \qquad (1)$$

जिसमे $\triangle P/P$ जनसख्या मे वृद्धि की दर है, B जन्म की दर, D मृत्यु की दर, K/P प्रति-व्यक्ति पूँजी का कोष, C/P प्रति-व्यक्ति उपभोग के साधन, $B\ (P/K)$ प्रजनन की क्षमता जो इस मान्यता पर आधृत है कि जन्म-दर मे प्रति-व्यक्ति पूँजी के कोष के ठीक विपरीत परिवर्तन होता है। (पूँजीगत साधनों तथा पूँजीगत उत्पादो की मात्रा जितनी ही अधिक होगी, उतना ही अधिक एक औसत परिवार का झुकाव 'बच्चे के बजाय एक नई मोटर' को पसद करने की ओर होगा) और $D\ (P/C)$ जनसख्या का घनत्व है, जो इस मान्यता पर आधृत है कि मृत्यु-दर मे प्रति-व्यक्ति उपभोग के साधनों के ठीक विपरीत परिवर्तन होता है।

अब इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि कुल जनसख्या का एक निश्चित भाग क्यों सदा कार्य करने के लिए तत्पर एवं इच्छुक रहता है ? इसका उत्तर विभिन्न सामाजिक एव आर्थिक कारको पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित कारकों का उल्लेख किया जा सकता है। समुदाय का श्रम एवं विश्राम के बीच चयन, पारिवारिक एवं शैक्षणिक व्यवस्थाएँ, सामाजिक स्तरण, सम्पत्ति-सम्बन्ध, बच्चों एवं स्त्रियों के श्रम पर वैधानिक प्रतिबंध, कार्य करने के लिए प्रोत्साहन, उत्तराधिकार, एवं मृत्यु-दर और जलवायु-सम्बन्धी स्थिति। इन्हीं कारको के परिणामस्वरूप किसी एक अर्थ-व्यवस्था मे श्रम-शक्ति कुल जनसंख्या का सामान्यतः आधी तो किसी दूसरी मे एक-तिहाई हो सकती है। साधारणतः जो अर्थ-व्यवस्था जितनी ही अधिक औद्योगीकृत होती है, वहाँ की श्रम-शक्ति कुल जनसंख्या के अनुपात मे उतनी ही कम

होती है। क्योंकि एक अत्यधिक औद्योगीकृत समाज एक कम औद्योगीकृत समाज की अपेक्षा एक बड़े अवकाश-प्राप्त वर्ग के भरण-पोषण में समर्थ होता है।

सरलता के लिए इन सभी अधःस्थ प्रभावों को एक गुणक के रूप में लिया जाय जो श्रम एवं विश्राम के बीच समाज के चुनाव का मापन करता हो। इस प्रकार का गुणक नियोजनीय श्रम-शक्ति को कुल जनसंख्या से सम्बद्ध करता है। यदि समाज का श्रम एवं विश्राम के बीच चुनाव नियोजनीय श्रम-शक्ति (N) एवं कुल जनसंख्या (P) के बीच एक स्थायी अनुपात (α) निश्चित करता है, तो $N/P = \alpha =$ स्थायी होता है। इस सम्बन्ध से श्रम-संख्या की वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्ति होती है—

$$\frac{\Delta N}{N} = \frac{\alpha \Delta P}{N} = \frac{\alpha \Delta P}{\Delta P} = \frac{\Delta P}{P} \qquad (2)$$

समीकरण (2) के द्वारा निर्धारित श्रम-संख्या में वृद्धि की दर ही विकास की श्रेष्ठतम सामाजिक गति-रूपी भवन के निर्माण के विश्लेषणात्मक कार्य करती है। यदि जनसंख्या का आकार समीकरण (1) में बतलाये गये तरीके से निर्धारित होता हो, तथा समीकरण (2) के अनुसार श्रम-शक्ति एवं कुल जनसंख्या का अनुपात स्थायी हो, तो श्रम-संख्या के आकार में जनसंख्या में वृद्धि की दर के अनुसार ही वृद्धि होगी। जनसंख्या द्वारा आकांक्षित जीवन-मान नामक एक और विश्लेषणात्मक आधार है। अब इस दूसरे आधार की व्याख्या की जाय।

प्राप्य जीवन-स्तर

जीवन-स्तर साधारणतः प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय से मापा जाता है, किन्तु यहाँ इसकी व्याख्या एक सीमित अर्थ में की जा सकती है। चूँकि अन्तिम विश्लेषण में, प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय श्रम की औसत उत्पादकता पर निर्भर करती है, अतः जीवन-स्तर से प्रति-परिवार के 'कमासुत' की वास्तविक आय का बोध होता है। श्रम की उत्पादकता का यह दुहरा कार्य इस बात को दुहराने से कि श्रम की उत्पादकता ($H = Y/N$) श्रम की औसत आय का भी प्रतिनिधित्व करती है, से सुगमतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है। इन दोनों की वास्तविक अनुरूपता किसी मूर्त्त समाज की सांस्थानिक व्यवस्था पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रत्येक स्थान तथा समय में श्रम की औसत उत्पादकता 'कमासुत' की उच्च अथवा निम्न जीवन-स्तर की चरम तकनीकी औचित्य को निर्धारित करती है।

व्यवहारतः, उच्च जीवन-स्तर की आकांक्षा का तात्पर्य, उत्पादन के तरीकों में इस प्रकार की उन्नति की आकांक्षा करना है, जिससे श्रम की प्रति इकाई निपज, यानी श्रम की औसत उत्पादकता में वृद्धि हो। टैक्नोलॉजी की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था, मूलतः, अपने प्राद्यौगिक पिछड़ेपन को दूर कर ही यथार्थ रूप में उच्च जीवन-स्तर की आकांक्षा कर सकती है। मान लिया कि इस प्रकार की कोई

अर्थ-व्यवस्था अपनी प्राद्योगिक प्रगति के द्वारा, श्रम की औसत उत्पत्ति में निम्न-लिखित दर से वृद्धि कर सकती है—

$$\frac{\Delta H}{H}=h \qquad (3)$$

जिसमें H पूर्ण नियुक्त श्रम एव निपज के अनुपात को स्पष्ट करता है। तब h 7 O का तात्पर्य बढ़ता हुआ जीवन-स्तर, h ∠ O का घटता हुआ जीवन-स्तर तथा h=O का स्थायी जीवन-स्तर से है। जीवन-स्तर के ये तीनों ढांचे उत्पादन मे वृद्धि की दर एव जनसंख्या मे वृद्धि की दर मे अन्तर पर निर्भर करते है। इस प्रकार, प्राप्य जीवन-स्तर जनसख्या एव उत्पादकता पर निर्भर करता है। अब हम लोग 'विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति' की सकल्पना को सुलझाने की स्थिति मे है।

सामाजिक श्रेष्ठतम गति की संकल्पना

पूर्ववर्त्ती विवरण को ध्यान मे रखते हुए वास्तविक आय मे वृद्धि की दर को, जिसे सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठतम समझा जाता है, एक बढ़ती हुई जनसख्या की पूर्ण रोजगार एव बढते हुए जीवन-स्तर की आत्मनिष्ठ इच्छा को प्रतिबिम्बित करने के बावजूद, कोकेजन (Cockaigne) के प्रमाण देने की आवश्यकता नही होती। क्योकि वर्त्तमान सदर्भ मे, विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति वर्द्धमान श्रम-सख्या की पूर्ण रोज़गारी एव श्रम की उत्पादकता की बढती हुई प्रवृत्ति के अनुरूप निपज मे वृद्धि की अधिकतम गति का निर्देश करती है। इस प्रकार की अधिकतम विकास की प्राप्ति एव इसे बनाये रखना पूंजी-सचय के समान दर की विद्यमानता पर निर्भर करता है। इसके परिणामस्वरूप श्रम की पूर्ण रोज़गारी की आकाक्षा एव पूंजी के बचत की आकाक्षा मे एक प्रकार के सम्भावित संघर्ष का आभास होता है। इस प्रकार के आशय के सम्बन्ध मे आगे चलकर व्याख्या की जायगी। इस बीच, प्रथम सन्निकट मान के रूप मे[1] "हम लोग विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर को नियोज्य श्रम-

---

1. मान लिया कि Y=HN, जिसमे Y शुद्ध राष्ट्रीय निपज, H श्रम की औसत उत्पादकता एवं N श्रम की सख्या है। इससे यह स्पष्ट होता है कि $\Delta Y=H\Delta N+N\Delta H$। पुन $y=\Delta Y/Y$, $h=\Delta H/H$ तथा $n=\Delta N/N$ मानने पर निम्नलिखित प्राप्त होता है :—

$$Y(1+y)=H(1+h)\,N(1+n)$$
$$Y+yY=(H+hH)\,(N+nN)$$
$$=HN+HnN+hHN+hHnN$$
$$y=(nHN/Y)+(hHN/Y)+(hnNH/Y)$$

H संख्या में वृद्धि की दर एवं श्रम की उत्पादकता में वृद्धि के योग के रूप में मान सकते हैं :

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \frac{\triangle N}{\triangle N} + \frac{\triangle H}{H} \qquad (4)$$

जिसमें $\triangle Y/Y$ निपज में वृद्धि की अधिकतम दर है, जो उपर्युक्त वर्णित जनसंख्या में वृद्धि एवं तकनीकी प्रगति के अनुरूप है। समीकरण (4) से यह स्पष्ट होता है कि प्रति इकाई निपज के नियुक्त श्रम की मात्रा को कम करने के लिए श्रम की उत्पादकता ($\triangle H/H$) की दर के ऊँची होने तथा उत्पादक रोजगार में खप जाने योग्य श्रम-संख्या($\triangle N/N$) में वृद्धि की दर के ऊँची होने पर प्राप्य अधिकतम लक्ष्य की दर भी ऊँची होगी।

$Gm = \triangle Y/Y, n = \triangle N/N$ तथा $h = \triangle H/H$ मानकर समीकरण (4) में अंतर्ग्रस्त परिमाणों की सोदाहरण व्याख्या निम्नांकित प्रकार से की जा सकती है :

यदि $n = 0{\cdot}01$, $h = 0{\cdot}04$, तो $Gm = 0{\cdot}05$
(विकसित अर्थ व्यवस्था)

यदि $n = 0{\cdot}015$, $h = 0{\cdot}02$, तो $Gm = 0{\cdot}035$
(मध्यवर्ती अर्थ-व्यवस्था)

यदि $n = 0{\cdot}02$, $h = 0\ 005$, तो $Gm = 0{\cdot}025$
(अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि कोई अर्थ-व्यवस्था श्रम की उत्पादकता में वृद्धि की दर (h) को अधिकाधिक बनाकर तथा श्रम-संख्या में वृद्धि की दर (n) को न्यूनतम बनाकर वास्तविक रूप में विकास की ऊँची दर को लक्ष्य के रूप में अपना सकती है। किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए इसका आशय यह है कि यदि इसकी श्रम-संख्या दो प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है, तो जनसंख्या की वृद्धि के अनुरूप, विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की तरह 5 प्रतिशत की वृद्धि की ऊँची दर को प्राप्त करने के लिए एकमात्र उपाय श्रम की उत्पादकता में $\frac{1}{2}$ प्रतिशत की जगह तीन प्रतिशत की वृद्धि है। इससे हम उत्पादन एवं जनसंख्या के सम्बन्ध पर पहुंचते हैं, जिसका अन्तर जीवन-स्तर को निर्धारित करता है।

उत्पादन बनाम जनसंख्या

समीकरण (4) से यह महत्त्वपूर्ण आशय स्पष्ट होता है कि प्रति 'कमासुत' के जीवन-स्तर Standard of living per "bread-winner") में दीर्घकालिक सुधार के

इसमें से अंतिम पद h n को उपेक्षित लघु प्राप्ति समझकर छोड़ने पर $y = n + h$ होता है, जो हम लोगों के विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति की धारणा $y = Gm$ का प्रतिनिधित्व करता है।

लिए श्रम-सख्या मे वृद्धि की दर से निपज मे अधिक वृद्धि अनिवार्य है। यह आशय निम्नलिखित परिवर्तित समीकरण से स्पष्ट हो जाता है :

$$\frac{\Delta H}{H} = \frac{\Delta Y}{Y} - \frac{\Delta N}{N}, \qquad (5)$$

जिसमे जैसा कि पहले बतलाया गया है, $\Delta H/H$ गत्यात्मक परिस्थिति मे जीवन-स्तर का माप है। समीकरण (5) को जीवन-स्तर की तीनों प्रवृत्तियों के रूप मे *निम्नांकित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है* .

यदि Gm — n O, तो h O (बढ़ता हुआ जीवन-स्तर)
यदि Gm — n = O, तो h = O (स्थायी जीवन-स्तर)
यदि Gm — n O, तो h O (गिरता हुआ जीवन-स्तर)

इन उदाहरणो मे यह स्पष्ट है कि जीवन-स्तर (प्रति परिवार पोषण करने वाले) मे दीर्घकालिक सुधार निपज मे वृद्धि की दर (Gm) को बढ़ाकर या जनसख्या की वृद्धि की दर (n) को कम करके या दोनो के द्वारा किया जा सकता है। साथ ही ये जनसख्या की वृद्धि एव उत्पादन मे वृद्धि के सम्बन्ध मे कुछ कठिन प्रश्नो को भी प्रस्तुत करते है जो दीर्घकालिक जीवन-स्तर को निर्धारित करते है।

उदाहरण के लिए, यदि कोई अर्थ व्यवस्था $h_{t+1} > (Gm-n)_t$ के रूप मे *कालगत विषमता की तरह, चालू निपज एव जनसख्या की प्रवृत्तियो द्वारा निर्धारित* जीवनस्तर की अपेक्षा अधिक ऊचे जीवन-स्तर की आकाक्षा करती है, तो इसे जनसख्या की वृद्धि की दर को कम करने तथा उत्पादन मे वृद्धि की दर को बढ़ाने के बीच चुनाव की व्यावहारिक कठिनाई का सामना करना पडता है।[1] इस सदर्भ मे हमे

1 यो ही विश्व-जनसख्या-सम्मेलन (इटली, अगस्त, 1954) मे सम्भवत. आशावादी एव निराशावादी विचार धाराओ के बीच ध्रुवात विरोध था। निराशावादी विचारधारा के लोग यह भयानक आशका व्यक्त करते थे कि न्यूक्लीय विज्ञान की महान आशाओ के बावजूद विश्व की जनसंख्या मे कदाचित इसके साधनो से अधिक वृद्धि होगी। इसके विपरीत आशावादी विचारधारा के लोग केवल यह तर्क देते थे कि यदि आपके जूते आपको तग कर रहे है, तो छोटे जूतों के उपयुक्त बनाने के लिए अपने *अगूठे को काटने के मूर्खतापूर्ण उपाय के बावजूद, अपने बड़े* पैरो के लिए बडे जूते ही क्यो न खरीदे जाए ? [देखे, जापान, मार्च, 1955 ई० के रीरन जैकू (Riron Keizaigaku) (इकॉनामिक स्टडिज़ क्वाटर्ली) मे प्रकाशित एम० टाची एव के० अकमासु का ए रिपोर्ट ऑन दि वर्ल्ड पापुलेशन कानफेंस।] निराशावादी विचारधारा के लिए देखें, मई, 1955 ई० के रिव्यू ऑफ इकानामिक्स एण्ड स्टेटिक्स मे एच० एच० विलार्ड का 'सम नोट्स ऑन पोपुलेशन एव लिविंग लेवुल्स'।

जनाधिक्य की समस्या के निदान के सम्बन्ध में माल्थस एवं मार्क्स के बीच संस्थापक विवाद की बात याद आती है। केन्स ने भी इस मतभेद की ओर संकेत किया था।[1] माल्थस-मार्क्स-विवाद के सम्बन्ध में केन्स की पूर्व उद्धृत टिप्पणी को ध्यान में रखते हुए अधिक अनुभूतिपूर्ण तरीका यह जान पड़ता है कि जनसंख्या की समस्या पर, विशेषतः जीवन-स्तर के संकुचित अर्थ में, दो ओर से आक्रमण करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, इसके लिए अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए तथा जनसंख्या की वृद्धि की दर को नियंत्रित करने के लिए दीर्घकालीन प्रयास करना चाहिए।

हैरोड के विकास की प्राकृतिक दर

अब यहां हैरोड के विकास की प्राकृतिक दर की तुलना विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति से लाभदायक जान पड़ती है। हैरोड ने अपनी प्राकृतिक दर की परिभाषा इस प्रकार से दी है : "प्राकृतिक दर प्रगति की वह दर है, जिसे जनसंख्या की वृद्धि एवं टेक्नोलॉजिकल प्रगति सम्भव बनाती है तथा जो निपज की उस रेखा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके प्रत्येक बिन्दु पर सभी प्रकार के उत्पादकों को यह संतोष होता है कि वे श्रम एवं विश्राम के बीच उचित संतुलन स्थापित कर रहे हैं।"[2] इसके अतिरिक्त, वह अपने प्राकृतिक दर की धारणा से अनैच्छिक बेरोज़गारी को अलग कर देते हैं जिससे प्राकृतिक दर से बढ़ने वाली अर्थ-व्यवस्था में सदा पूर्ण रोज़गार की स्थिति रहती है। अंततः, हैरोड यह सुझाव देते हैं कि दीर्घकाल में विकास की कोई भी दर प्राकृतिक दर से अधिक नहीं हो सकती। इसलिए, श्रीमती जॉन रॉबिन्सन ने इसे 'अधिकत साध्य' विकास की दर की संज्ञा दी है।[3]

हैरोड ने एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था का विचार किया है जिसमें विकास की प्राकृतिक दर (यानी जनसंख्या की वृद्धि एवं टेक्नोलॉजिकल प्रगति के अनुरूप दर) में

---

1. केन्स एसेज इन बायग्राफी, पृ० 107-8।
2. **डायनमिक इकानामिक्स**, पृष्ठ 87
3. देखें इनकी **"दी रेट आफ इंटरेस्ट"** एवं अन्य, पृष्ठ 160। डब्लू० फेलनर इस महत्व को बिल्कुल भूल जाते हैं, जब वे इस बात की शिकायत करते हैं कि हैरोड के अर्थ में विकास की प्राकृतिक दर कोई निश्चित परिमाण नहीं हैं; क्योंकि विकास की कोई इस प्रकार की अनन्य दर नहीं है, जिसे प्राकृतिक कारण सम्भव बनाते हों। (देखें फेलनर का मैकमिलन, न्यूयार्क, 1951 ई० में प्रकाशित **मनी, ट्रेड एण्ड इकानामिक ग्रोथ** में 'दि कैपिटल आउट-पुट रेशियो इन डायनमिक इकानामिक्स'। तथापि, फेलनर की आपत्ति हैरोड के प्राकृतिक दर की अस्पष्ट प्रकृति से है। यदि हैरोड ने अपने विकास के प्राकृतिक दर का निर्धारण स्पष्टतः अधिक निश्चित प्राकृतिक कारणों के सम्बन्ध में किया होता, तो इसकी अधिकांश अस्पष्ट प्रकृति दूर हो गई होती।

विकास की प्रमाणित दर से कम होने की प्रवृति पाई जाती है। विकास की प्रमाणित दर वह दर है, जो बचाने वालो की इच्छा एवं विनियोक्ताओं के लाभ के परियोजन के अनुरूप होती है और, तब वे इसके लिए निदान प्रस्तावित करते है। दूसरे शब्दों मे वे एक ऐसी विकसित अर्थ-व्यवस्था का वर्णन करते है, जिसमे पूंजी-संग्रह जनसख्या मे वृद्धि की अपेक्षा अधिक बढता है, जिससे दीर्घकालिक स्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हैरोड के प्राकृतिक दर की धारणा विकसित पूंजीवादी की व्यवस्था की दीर्घकालिक अस्थिरता (विशेषत अधोमुखी) के कारणों के विश्लेपण का एक महत्वपूर्ण अस्त्र है। "श्रीमती रॉबिन्सन ने प्राकृतिक दर के प्रयोग को इस आधार पर चुनौती दी है कि हैरोड द्वारा अवेच्छित स्थिति के ठीक विपरीत अधिक/सार्वलौकिक स्थिति वह है, जिसमे जनसख्या की वृद्धि मे पूंजी के सग्रह से अधिक होने की प्रवृत्ति पाई जाती है"।[1]

प्रयोग के प्रश्न के अतिरिक्त भी हैरोड के प्राकृतिक दर की धारणा स्वयं कई कारणो से सदिग्धात्मक है। प्रथमत उनके अनुसार यह अशत जनसख्या की वृद्धि पर निर्भर करती है जबकि श्रम एव विश्राम के बीच समुदाय के चुनाव की ओर उनका सकेत सम्पूर्ण जनसख्या के बदले श्रमसख्या का सुझाव देता है। इस पिछली स्थिति मे भी हैरोड को श्रम-सख्या मे वृद्धि का निर्धारण ऊपर दिये गये समीकरण (2) के आधार पर करना पडता। दूसरा, हैरोड तकनीकी सुधारो की प्रकृति एव प्रभाव, जिन पर उसकी प्राकृतिक दर अशत निर्भर करती है, को अनिर्दिष्ट ही छोड देते है। श्रम बचाने वाले आविष्कारो को मनमाने ढग से पूंजी बचाने वाले तकनीकों[2] के समानार्थक रूप मे परिभाषित कर, हैरोड एक स्थायी श्रम-निपज अनुपात एव एक स्थायी पूंजी-निपज अनुपात का अनुध्यान करते हुए जान पडते है। इस प्रकार वे कहते है कि "मेरी धारणा यह नही है कि आविष्कार पूर्व परिभाषित अर्थ मे प्रधानतः श्रम बचाने वाले होते है।"[3] किन्तु, केवल उन्ही आविष्कारो को, जो पूंजी

---

1. इस प्रकार, श्रीमती रॉबिन्सन स्पष्टत एक पूंजी-विपन्न विश्व को ध्यान मे रखते हुए हैरोड के एक-पक्षीय प्रयोग की आलोचना करती है। इनके अनुसार "कोई भी समुदाय, जिसकी एकमात्र समस्या यह है कि उसके पास आवश्यकता के लिए सभी प्रकार से पर्याप्त पूंजी है, को वास्तव मे अधिक चिन्ता नही करनी पडती। अतएव, हमे भी इनकी कठिनाइयो को याद कर कष्ट नही उठाना चाहिए।" (देखें इनकी 'दी रेट ऑफ इन्टरेस्ट, एव अन्य, पृष्ठ 161)। फिर भी श्रीमती रॉबिन्सन हैरोड के प्राकृतिक दर की धारणा से असहमत नही होकर केवल इसके प्रयोग से असहमत है।
2. डायनामिक इकानामिक्स, पृष्ठ 26-7।
3. पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 28।

प्रयोग करने वाले होते हैं, श्रम बचाने वाला समझना एक निरर्थक पुनरुक्ति है।[1] इसका कारण यह है कि हैरोड के श्रम बचाने वाले आविष्कारों की परिभाषा की आशय के ठीक विपरीत, निपज की प्रति-इकाई अधिक पूँजी के प्रयोग के बगैर भी निपज की प्रति-इकाई श्रम में कमी हो सकती है, या दूसरे शब्दों में, प्रति-इकाई श्रम के निपज में वृद्धि हो सकती है। इस विरोधी विचार का कारण यह है कि श्रम बचाने वाली तकनीकी प्रगति के परिणामस्वरूप निपज में सदा वृद्धि होती है और इस प्रकार अपने हर (y) में वृद्धि के द्वारा यह पूंजी-निपज अनुपात (K/Y) को घटा देता है। इस प्रकार हमें केवल पूँजी प्रयोग करने वाले तकनीक से ही श्रम-बचाने वाले तकनीक को उपस्थित नहीं करना चाहिए।

फिर भी, यदि पूँजी-निपज अनुपात में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के बावजूद श्रम-निपज अनुपात को तकनीक की दृष्टि से स्थायी माना जाय, जिससे कि $N/Y = B =$ स्थिर हो, तो निपज में श्रम-संख्या में वृद्धि की दर से ही वृद्धि होनी चाहिए यानी

$$Gn = \frac{\Delta Y}{Y} = \frac{\Delta N/B}{N/B} = \frac{\Delta N}{N} = n. \qquad (6)$$

इस प्रकार समीकरण (6) द्वारा दिया गया Gn बढ़ती हुई श्रम-संख्या को पूर्णतया नियुक्त रखने के लिए आवश्यक हैरोड के विकास की प्राकृतिक दर की धारणा के बिल्कुल सन्निकट जान पड़ता है।

किन्तु यदि Gn हैरोड के प्राकृतिक दर के सन्निकट है तो यह हमारे अर्थ में 'सामाजिक श्रेष्ठतम दर' से कम है। क्योंकि, यद्यपि हैरोड की प्राकृतिक दर पूर्ण रोजगार की गारंटी प्रदान करती है, तथापि यह बढ़ते हुए दीर्घकालिक जीवन-स्तर (प्रति परिवार पोषण करने वाले के) को स्वीकार नहीं करती। जीवन-स्तर का प्रतिनिधित्व करने वाले एक सुस्पष्ट परिवर्त्ती के निषेध का प्रधान कारण हैरोड की स्थायी श्रम-निपज अनुपात की मान्यता है। किन्तु यदि श्रम-निपज में दीर्घकाल में $Ht = Ho\ (1+h)t$, के अनुसार कमी होती है (यानी यदि श्रम की औसत उत्पादकता में वृद्धि हो रही है) तो अन्यथा-अवश्यंभावी तकनीक मूलक बेरोजगारी को दूर करने तथा जीवन-स्तर में दीर्घकालिक सुधार के लिए समीकरण (4) के अनुसार निपज में Gm की दर से वृद्धि अनिवार्य है। तकनीकी प्रगति को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने वाली श्रम की उत्पादकता में वृद्धि की दर (h) की प्रस्तावना से हैरोड की प्राकृतिक दर हमारे सामाजिक श्रेष्ठतम गति की दर के समरूप हो जाती है। इससे

1. इस आलोचना के सम्बन्ध में देखें सन् 1954 ई० के ओसाका युनिवर्सिटी इन्स्टीच्यूट ऑफ सोशल एण्ड इकानामिक रिसर्च के 'स्टडिज इन ग्रोथ इकानामिक्स' (वाई० टाकता द्वारा संपादित) में वाई० टाकता का 'ए रिफ्लीकशन आन ग्रोथ रेट्स।'

Gn = Gm के हो जाता है। अस्पष्ट रूप में व्यक्त किए जाने के बावजूद हैरोड के विकास की प्राकृतिक दर की धारणा जनसंख्या एवं तकनीकी जैसे महत्वपूर्ण तत्वों के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्रदान करने तथा उसके प्रामाणिक दर के साथ-साथ, वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालिक अस्थायित्व के सम्बन्ध में प्रकाश डालने के लिए महत्वपूर्ण है।

अपेक्षित पूंजी-सचय

यद्यपि विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर हमें जनसंख्या के पूर्णतर रोजगार एवं अच्छे जीवन की आकांक्षाओं के अनुरूप प्रगति की दिशा को बतलाती है, फिर भी यह स्वयं इस बात को स्पष्ट नहीं करती कि इस प्रकार की प्रगति वास्तव में प्राप्त की जा सकती है तथा इसे लगातार बनाये रखा जा सकता है अथवा नहीं। अब इस स्थान पर अपेक्षित पूंजी सचय के सम्बन्ध में विचार करना अनिवार्य है। यदि समीकरण (4) द्वारा व्यक्त विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर समाजशास्त्रीय एवं तकनीकी ढंग से दी हुई हो, तो पूंजी सचय की अपेक्षित दर को निर्धारित करना सम्भव एवं आवश्यक है। यह आवश्यक इसलिए है कि बढ़ती हुई श्रम-सख्या को सज्जित करने तथा वृद्धिमान जीवन-स्तर को प्राप्त करने के लिए पूंजी के बढ़ते हुए कोष की आवश्यकता होती है। यह सम्भव इसलिए है कि अपेक्षित (मांगी हुई) वास्तविक पूंजी की मात्रा का निपज से कुछ निश्चित सम्बन्ध होता है। यदि सामाजिक श्रेष्ठतम विकास के लिए आवश्यक पूंजी-सचय की दर निर्धारित हो जाती है, तो अगला तार्किक प्रश्न यह हो सकता है कि क्या इस दर[1] तथा वांछित उपभोग के सभावित त्याग पर जनसंख्या बचत की पूर्ति करने के लिए योग्य एवं इच्छुक है अथवा नहीं।

अपेक्षित निवेश-अनुपात

सामाजिक श्रेष्ठतम विकास के लिए आवश्यक पूंजी में वृद्धि की दर को निर्धारित करने के लिए पहले पूंजी-निपज के अनुपात को स्पष्ट करना आवश्यक है। वास्तविक पूंजी के लिए K तथा निपज के लिए Y मानने पर एक निश्चित मात्रा में निपज के उत्पादन के लिए अपेक्षित वास्तविक पूंजी की मात्रा को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है $K = by$, जिसमें b पूंजी-निपज अनुपात है, जिसमें

---

1. अपने "डायनमिक इकानामिक्स" (पृ० 87) में हैरोड इसी प्रकार का प्रश्न करते हैं। इस प्रश्न का उनका अपना उत्तर यह है कि निपज में वृद्धि की प्राकृतिक दर के अनुरूप विनियोग की दर बचाने वालों की इच्छाओं के अनुरूप हो भी सकती है अथवा नहीं भी। अतएव, वे GnCr = अथवा s के लिखते हैं जिसमें Gn प्राकृतिक दर, Cr अपेक्षित पूंजी-निपज अनुपात तथा s बचत अनुपात हैं।

तकनीकी प्रगति एवं/अथवा सापेक्ष साधन मूल्य में परिवर्तन के परिणामस्वरूप परिवर्तन होता है। उपर्युक्त सम्बन्ध से यह स्पष्ट होता है कि यदि सामाजिक श्रेष्ठतम निपज में ΔY से वृद्धि होती है तो पूंजी में भी निश्चय ही $\Delta K = b\Delta Y + Y\Delta b$ मात्रा के बराबर वृद्धि होगी। इसमें $Y\Delta b$ निपज के किसी भी स्तर और इस लिए अपेक्षित अतिरिक्त वास्तविक पूंजी की मात्रा पर परिवर्तनीय पूंजी-निपज अनुपात के सम्भावित प्रभाव को व्यक्त करता है। विकल्पत: हम यह भी कह सकते हैं कि सामाजिक श्रेष्ठतम निपज $\Delta Y = \Delta K/b + Y\Delta b/b$ मात्रा तक विस्तार-क्षम्य है। अतएव यदि किसी अर्थ-व्यवस्था को Gm की दर से, यानी सामाजिक श्रेष्ठतम दर से बढ़ना है, तो पूंजी में भी निश्चित रूप से Gm की दर से ही वृद्धि होनी चाहिए। क्योंकि $K = bY$ से तथा सरलता के लिए $Y\Delta b$ पद को छोड़ देने से निम्नलिखित प्राप्त होता है—

$$\frac{\Delta K}{K} = \frac{b\Delta K}{K} = \frac{b\Delta Y}{bY} = \frac{\Delta Y}{Y} = Gm, \qquad (7)$$

जिसमें $\Delta K/K$ पूंजी में वृद्धि की अपेक्षित दर है, जो बचतकारों की अभिवृद्धि से सम्बद्ध नहीं भी हो सकती है।

समीकरण (7) के द्वारा दिये गये पूंजी में वृद्धि की अपेक्षित दर को सुपरिचित बचत एवं विनियोग सिद्धान्त के अनुरूप बनाने के लिए $\Delta K/K = Y$ मानकर उपर्युक्त दर को अपेक्षित विनियोग अनुपात के रूप में सुगमता-पूर्वक निम्न लिखित प्रकार से दिखलाया जा सकता है—

$$\frac{I^r}{Y} = \frac{\Delta K}{Y} = \frac{YK}{Y} = Yb = Gmb, \qquad (8)$$

जिसमें I^r/Y अपेक्षित विनियोग अनुपात को व्यक्त करता है। यदि अपेक्षित विनियोग अनुपात समीकरण (8) के द्वारा दिया गया हो, तो जनसंख्या को निश्चय ही वास्तविक आय की इसी दर से बचत करनी चाहिये, यानी —

$$S^r = \frac{I^r}{Y} = Gmb, \qquad (9)$$

जिसमें s^r अपेक्षित बचत-अनुपात को व्यक्त करता है। s^r को सामाजिक श्रेष्ठतम विकास के लिए आवश्यक वास्तविक पूंजी की पूर्त्ति का मापक मानकर समीकरण (7) से (9) के परिचालन-सम्बन्धी महत्व को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

यदि $Gm = 0.05$, $b = 3$, तो $s^r = 0.15$
(विकसित अर्थ-व्यवस्था)

यदि $Gm = 0.035$, $b = 3.5$, तो $s^r = 0.1225$
(मध्यवर्त्ती अर्थ-व्यवस्था)

यदि $Gm = 0.025$, $b = 4$, तो $s^r = 0.10$

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था

उपर्युक्त मॉडलों में सामाजिक श्रेष्ठतम विकास की दर का अलग-अलग मूल्य, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, जनसंख्या एव उत्पादकता में वृद्धि की दर मे विभिन्नता की मान्यता के परिणामस्वरूप है। जहाँ तक पूँजी-निपज अनुपात के मूल्य मे विभिन्नता का सम्बन्ध है, ये इस मान्यता पर आधृत हैं कि आर्थिक विकास की स्थिति जितनी ही उच्चतर होती है, निपज की प्रति-इकाई के लिए अपेक्षित पूँजी की मात्रा उतनी ही कम होती है, या वस्तुत यों कहा जा सकता है कि पूँजी की औसत उत्पादकता उतनी ही अधिक होती है। इन मान्यताओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति प्राप्त करने तथा बनाए रखने के लिए स्थायी तौर पर अपनी शुद्ध राष्ट्रीय निपज का 10 प्रतिशत बचाना पड़ेगा। इसी प्रकार एक विकसित अर्थ-व्यवस्था को स्थायी तौर पर 15 प्रतिशत तथा मध्यवर्ती अर्थ-व्यवस्था को स्थायी तौर पर 12.5 प्रतिशत बचाना पड़ेगा। अब स्वाभाविक प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक प्रकार की अर्थ-व्यवस्था वास्तव मे अपेक्षित दर से बचाती है अथवा नही। इस प्रश्न का उत्तर हम लोग, विशेषत एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे देंगे।

अपेक्षित बनाम वास्तविक बचत अनुपात

यदि अधिकांश आधुनिक अर्थ-व्यवस्थाएँ वास्तव मे अपनी शुद्ध राष्ट्रीय निपज का 3 से 5 प्रतिशत तक बचा सकें तो, जैसा कि प्राप्य आँकड़ों से विदित होता है इनके लिए समीकरण (9) मे दी हुई शर्तों को पूरा करना यथार्थतः बड़ा ही कठिन हो जायगा। मान लें कि किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे श्रम-संख्या मे वृद्धि की दर 2 प्रतिशत तथा श्रम की उत्पादकता मे वृद्धि की दर $\frac{1}{2}$ प्रतिशत है। इससे उस अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य यथार्थ. निपज मे $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत सामाजिक श्रेष्ठतम विकास की दर को प्राप्त करना तथा बनाये रखना हो सकता है, जैसा कि उपर्युक्त $G_m = 0.025$ के उदाहरण में दिया गया है। तब समीकरण (9) के अनुसार अपेक्षित बचत-अनुपात 10 प्रतिशत है। किन्तु यदि सम्बद्ध अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की संस्थानिक एव मनोवैज्ञानिक ग्रथि इस प्रकार की है कि यह केवल 5 प्रतिशत ही वास्तविक बचत कर सकती है, तो वहाँ बचत में $(s^r - s)\, \gamma$ के बराबर कमी होगी। इस में s वास्तविक बचत अनुपात को व्यक्त करता है। जब तक बचत मे यह कमी किसी भी प्रकार पूरी नही की जाती, तब तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था पूँजी के अभाव मे, अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं एवं उत्पादकता के अनुरूप अपनी निपज मे $2\frac{1}{2}$ प्रतिशत वृद्धि की दर को दीर्घकाल मे बनाये रखने को कौन कहे, प्राप्त करने मे भी समर्थ नही हो सकती।

अपेक्षित श्रेष्ठतम विकास की तुलना मे पूँजी के अभाव की समस्या से

पीड़ित अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के समक्ष दो विकल्प हैं—या तो *n* अथवा और *h* में अधोमुखी समयोजन द्वारा अपेक्षित निवेश के अनुपात में कमी या संस्थानिक एवं मनोवैज्ञानिक ग्रंथ में उचित परिवर्तन के द्वारा वास्तविक वचत-अनुपात में वृद्धि। इसके अतिरिक्त संभावनाएँ भी हैं। प्रथमतः, एक विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध वाली विकृत अर्थ-व्यवस्था में पूँजी के आयात द्वारा अपेक्षित एवं वास्तविक वचत अनुपात के अन्तर को समाप्त करने की सैद्धांतिक संभावना सदा रहती है। द्वितीय, वचत-कर्त्ताओं की अभिवृत्ति का विचार किए वगैर, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था उद्योगों के संगठन में सुधार-जैसे साधनों की अत्यधिक गतिशीलता, उपकरों के अत्यधिक मानकीकरण, निपज की अत्यधिक एकरूपता, एवं साधनों की अत्यधिक स्थानापन्नता के द्वारा पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता में वृद्धि (पूँजी की पूर्ति की विपक्षता में) कर सकती है।[1]

पूर्वोक्त विश्लेपण से विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम गति को प्राप्त करने तथा वनाये रखने की तकनीकी संभावनाओं एवं कठिनाइयों के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। चूँकि, जनसंख्या तकनीक एवं पूँजी सभी अपने-अपने विकास के स्वतंत्र नियमों का अनुकरण करते हैं, इसलिए यह मानने का कोई भी कारण नहीं है कि विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर एवं अन्य विकास-दरें, संयोग से अथवा प्रयास के अतिरिक्त, सदा समान होती हैं। ऐसा होने पर इस वात की प्रवल सम्भावना रहती है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पूँजी के अभाव में श्रम की उत्पादन-क्षमता बेकार हो जाती है तथा जीवन-स्तर मन्द पड़ जाता है।

---

1. वचत की पूर्त्ति से पृथक् पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता के विस्तारपूर्वक विवरण के लिए देखें, मेरी पुस्तक **"इण्ट्रोडक्शन टू केन्सीयन डायनमिक्स'** एलेन एण्ड अनविन, लंदन एवं कोलम्विया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क 1956 ई०, पृ० 209।

अध्याय 4

पूंजी-संचय एवं उत्पादन-सामर्थ्य

किसी भी अर्थ-व्यवस्था मे पूंजी-सचय औद्योगीकरण की कुंजी है ; क्योंकि पूंजी ही उत्पादन का एकमात्र ऐसा साधन है, जिसमे अनिश्चित प्रसारणीयता का गुण विद्यमान है। पूंजी का अनन्य गुण ही, औद्योगीकरण के लिए भूमि एव श्रम की अपेक्षा, मुख्य रूप से पूंजी के प्रसार पर निर्भर करने का मूल प्रयोजन है। साथ ही, कोई भी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था पूंजी के सचय का विचार अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि के लिए, न कि समर्थ मांग उत्पन्न करने के लिए करती है। विशेषरूप से हम लोग निपज के विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर को वास्तविक रूप मे प्राप्त करने एव बनाये रखने के सम्बन्ध मे पूंजी-सचय एवं उत्पादन क्षमता के तकनीकी सम्बन्ध पर विचार करेंगे। विचारणीय वस्तु को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए हम लोग हैरोड-डोमर मॉडल, जिसमे उत्पादन-सामर्थ्य एवं समर्थ मांग की परस्पर क्रिया निहित है तथा श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के पूंजी-संचय के सिद्धान्त का भी आलोचनात्मक तरीके से अवलोकन करेंगे।

क्षमता-निर्माण की प्रक्रिया

किसी भी अर्थ-व्यवस्था की सम्भावित उत्पादन-क्षमता टेक्नोलॉजी की दी हुई सीमाओं के अन्तर्गत, वहां पर उपलब्ध सभी उत्पादक साधनों के पूर्ण उपयोग से प्राप्त सभी वस्तुओ तथा सेवाओ की सम्पूर्ण पूर्ति मे निहित होती है। टेक्नोलॉजी मे प्रगति तथा साधनो की खोज से यह बढ सकती है, किन्तु इन प्रभावों को पूंजी अथवा श्रम की उत्पादकता के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। साथ ही, यदि श्रम को दिया हुआ मान लिया जाय, तो उत्पादन-क्षमता पर पूंजी की मात्रा एव गुण के अनन्य फलन के रूप मे विचार किया जा सकता है। ऐसा इस मान्यता पर किया जाता है कि श्रम का अभाव प्राप्त उत्पादक पूंजी के पूर्ण उपयोग मे कोई बड़ी बाधा उपस्थित नही करता है। तब उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि (क) निवेश के अनुपात एवं (ख) निवेश की उत्पादकता के तकनीकी सम्बन्ध पर निर्भर करेगी। अब हमे देखना है कि उत्पादन-क्षमता में वृद्धि इन दोनों के बीच यथार्थत. क्यों और किस प्रकार निश्चित होती है।

पूंजी एवं क्षमता की वृद्धि

यदि समर्थ माँग का दिया हुआ स्तर इतना ऊँचा हो, जिससे कि वर्तमान वास्तविक पूंजी के पूर्ण प्रयोग को न्यायोचित करार दिया जा सके, तो शुद्ध निवेश (1), यानी वास्तविक पूंजी में वृद्धि ($1 = \triangle K$) का तात्पर्य निश्चित रूप से उत्पादन-सामर्थ्य में वृद्धि होगी :

$$\triangle Y' = \sigma \triangle K = \sigma 1, \qquad (1)$$

जिसमें Y' उत्पादन क्षमता, K वास्तविक पूंजी एवं α प्रचलित टेक्नोलॉजी की दर पर निवेश की उत्पादकता है।

निपज की बनावट एवं उद्योग का संगठन दिया हुआ रहने पर, शुद्ध निवेश एवं सामर्थ्य में निम्नांकित प्रकार का सम्बन्ध होता है :

$$\frac{1}{Y'} = \delta \qquad (2)$$

जिसमें δ निवेश-अनुपात जिसका, मूल्य एक अर्थ-व्यवस्था से दूसरी अर्थ-व्यवस्था में तथा आर्थिक विकास के एक स्तर से दूसरे स्तर में अलग-अलग होता है। समीकरण (2) में व्यक्त निवेश-अनुपात—बचत-अनुपात जो बचत की पूर्त्ति का प्रतिनिधित्व करता है, के ठीक विपरीत पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन के सामर्थ्य का प्रतिनिधित्व करता है। इस अन्तर का महत्व थोड़ी देर बाद स्पष्ट किया जायगा।

समीकरण (1) तथा (2) से हमें उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle Y'}{Y} = \sigma \frac{1}{Y'} = \sigma\delta = GK, \qquad (3)$$

जिसमें GK उस दर को बतलाता है, जिसमें शुद्ध निवेश के द्वारा यदि विनियोग -सम्बन्धी वस्तुओं के उद्योगों की पूर्ण क्षमता का प्रयोग किया जाय, तो उत्पादन-क्षमता का प्रसार किया जा सकता है। समीकरण (3) से यह स्पष्ट होता है कि उत्पादन क्षमता में वृद्धि की दर में निवेश-अनुपात (δ) तथा निवेश की क्षमता σ में वृद्धि के ठीक समान अनुपात में परिवर्तित होने की क्षमता है। यहाँ पर निवेश-अनुपात पूंजी के परिमाण तथा निवेश की उत्पादकता-पूंजी के गुण का प्रतिनिधित्व करते हैं। समीकरण (3) से यह भी प्रकट होता है कि पूंजी एवं निपज दोनों में समान दर से एवं घातीय ढंग से निम्नलिखित प्रकार से वृद्धि होती है :

$$Y'(t) = Y'oe\sigma\delta t, \qquad (4)$$

और

$$K(t) = Koe\sigma\delta t \qquad (5)$$

समीकरण (3) के परिचालन-सम्बन्धी महत्व को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

यदि $\delta = 0.05, \sigma = 0.2$, तो $Gk = 0.01$
(अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था)

यदि $\delta = 0.08, \sigma = 0.25$, तो $Gk = 0.02$
(मध्यवर्ती अर्थ-व्यवस्था)

यदि $\delta = 0.12, \sigma = 0.5$, तो $Gk = 0.06$
(विकसित अर्थ-व्यवस्था)

यहाँ σ के मूल्य का अनुपात तीनो प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए मान लिये गये पूँजी-निपज अनुपात के व्युत्क्रम से लगाया गया है। (अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए $K/Y = 5$, मध्यवर्ती अर्थ-व्यवस्था के लिए $K/Y = 4$ तथा विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए $K/Y = 2$ की मान्यता पर $\frac{1}{5} = 0.2$, $\frac{1}{4} = 0.25$ तथा $\frac{1}{2} = 0.5$) । δ के मूल्य का अनुमान इन विभिन्न प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं के बचत-अनुपात के यथासभव अनुरूप भी लगाया जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-क्षमता अधिक विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की अपेक्षा बहुत धीरे-धीरे बढती है। इसका कारण δ, जो पूँजी के परिमाण को व्यक्त करता है, के साथ-ही-साथ σ, जो पूँजी के गुण को व्यक्त करता है, की न्यूनता है। अत अब हमे उन ठोस कारणो की जाच करनी है, जिनके परिणामस्वरूप एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे *निरन्तर निम्न-निवेश* अनुपात तथा निवेश की निम्न उत्पादकता पाई जाती है।

निम्न निवेश-अनुपात

सस्थापक अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया था कि निपज की रचना इतनी समजातीय होती है तथा उद्योग का संगठन इतना समायोजित होता है कि जो कुछ भी उपभोग मे नही आता, यानी बचा लिया जाता है, उसका उपयोग सदा पूँजीगत वस्तुओं मे बिना किसी कठिनाई के किया जाता है। इस सरल मान्यता के आधार पर यह तर्क करना न्याय-संगत जान पड़ता है कि यदि कोई अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था अधिक मितव्ययी होने का प्रयास करे, तो वह पूँजी एवं क्षमता मे विकास की गति को तीव्रतर बना सकती है। किन्तु तब हम इस असगत कि कुछ अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ में बचत की पर्याप्त उच्च औसत प्रवृत्ति के बावजूद इनमे पूँजीगत वस्तुओ के उत्पादन की क्षमता मे कमी होती है, को समझने मे किंकर्तव्य-विमूढ हो जाते है। वास्तव मे, बात यह नही है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ

इतनी अमितव्यापी होती हैं कि ये वास्तविक आय के रूप में कुछ बचा ही नहीं पातीं, वरन् यह कि कुछ तकनीकी कठिनाइयों के चलते, जिन्हें संस्थापक अर्थ-शास्त्रियों ने अपनी मितव्ययिता के द्वारा प्रगति वाले तर्क में मान्यता के रूप में स्वीकार किया था, बचत की इच्छा के बावजूद उत्पादक उपकरणों में न तो ये विनियोग करती हैं और न कर ही सकती हैं।

उपर्युक्त असंगति के कारणों की व्याख्या के लिए संस्थापक मान्यताओं को समाप्त कर वास्तविक विश्व में निपज की विषमजातीय रचना तथा उद्योग की विषमायोजित संगठन को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य है। एक बार ऐसा मान लेने पर, यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तविक आय के रूप में जो कुछ भी बचाया जाता है, वह सम्पूर्ण पूंजीगत माल के लिए उपयुक्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में गैर-उपभोग का आवश्यक रूप से यह आशय नहीं है कि इससे उस प्रकार के मानवीय एवं भौतिक साधनों की उपलब्धि होती है, जिसका प्रयोग शान्त रूप से सुगमता-पूर्वक पूंजीगत मालों के उत्पादन के लिए किया जा सकता हो। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में इसका आशय यह है कि यदि वास्तविक आय के रूप में अधिक बचत के लिए राष्ट्रीय स्तर पर कमर कसकर भी प्रयास किया जाय, तो भी उप-भोक्ता उद्योगों द्वारा मुक्त श्रम, उपकरणों तथा कच्चे पदार्थों की विशिष्टता के परि-णामस्वरूप अधिक पूंजीगत मालों का उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। निपज की रचना जितनी ही विषमजातीय होती है, उत्पादक साधनों की यह विशिष्टता उतनी ही अधिक होती है ; क्योंकि जब तक उपभोक्ता एवं टिकाऊ वस्तुएँ भौतिक रूप में अलगाने योग्य होती हैं, (जैसे गेहूं एवं मशीन, अगर ये वस्तु सूची के रूप में अलगाने योग्य नहीं है), इनके उत्पादन में प्रयुक्त उत्पादन का साधन ऐसी विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं, जो साधारणतः पारस्परिक रूपांतरण की अवज्ञा करती है। इस प्रकार निपज की विषमांगीय रचना, जो एक आधुनिक आर्थिक समाज की प्रधान विशेपता है, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में निवेश अनुपात के वास्तविक बचत-अनुपात से कम होने की असंगत क्रिया की एक मौलिक व्याख्या है। उद्योग का विषमायोजित संगठन इसका एक दूसरा मौलिक कारण है। अब पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता में इस बाद वाली अड़चन पर विचार किया जाय।

एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के औद्योगिक संगठन में निम्नलिखित हठ-धार्मिताएँ एवं कठिनाइयाँ पाई जाती हैं : प्रथमतः, उपभोक्ता वस्तुओं तथा पूंजीगत वस्तुओं अथवा कृषि एवं उद्योग के बीच उत्पादक साधनों की सापेक्षिक अगतिशीलता पाई जाती है। साधनों की इस अगतिशीलता के लिए अप्रभावपूर्ण श्रम-विनिमय व्यवस्थाएँ, परिवहन एवं संचार की अकुशल सुविधाएँ और असंगठित पूंजी-बाज़ार आदि कारण उत्तरदायी हैं। द्वितीय, इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में बहुत सारे छोटे पैमाने के पूंजीगत वस्तुओं के उद्योग होते हैं, जिनमें अप्रचलित और प्रायः

आदिमकालीन सयन्त्र एव उपकरणो का प्रयोग किया जाता है। जनाधिक्य से परि-पूर्ण अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में सस्ते श्रम की उपलब्धि सुप्रवाही संयन्त्रो एवं उपकरणो के सस्थापन को हतोत्साहित करती है, यद्यपि इन की सस्थापना का व्यय आतरिक अथवा वाह्य साधनो से जुटाया जा सकता है। तृतीय, तीव्र घिसावट एव अप्रचलन के परिणामस्वरूप पूंजी की अपरिमित बरबादी होती है। अल्प-विक-सित अर्थ-व्यवस्थाओ मे पूंजी का टिकाऊपन साधारणत. इस प्रकार का होता है कि इनमे विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की तुलना मे ऊँची दर से पुन स्थापन-व्यय की आव-श्यकता पडती है। इसका कारण यह है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे सयन्त्र एव उपकरण साधारणतया इतने पुराने और घिसे हुए सामानो से बने हुए होते है कि कुल नये विनियोग का अधिकाश पुन स्थापन पर ही खर्च किया जाता है, जिससे पूंजी के कोष मे शुद्ध वृद्धि के लिए बहुत कम अथवा कुछ भी शेष नही रह जाता। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे गृहयुद्ध, प्राकृतिक आपदाएँ, बडे-बडे अग्निकाड तथा सग्रह की अपर्याप्त सुविधाओ के परिणाम अत्यधिक पूंजी की बरबादी एव क्षति के कारण भी घिसाई की औसत दर (भौतिक अर्थ मे) अधिक ऊँची होती है। इन्ही कारणो से पूंजीगत माल के उत्पादन की क्षमता बचत की पूर्ति से कम हो सकती है, यानी $S \angle s$ इससे दूसरे प्रकार से यों कहा जा सकता है कि $S \angle s$ असमानता पूंजीगत मालो की पूर्ति की अपेक्षा मांग के आधिक्य को बतलाती है क्योकि sy' पूंजीगत माल की मांग, $(1-s)\gamma'$ उपभोक्ता वस्तुओं की मांग, $S\gamma'$ पूंजीगत माल की पूर्ति तथा $(I-S)\gamma'$ उपभोक्ता वस्तुओ की पूर्ति को बतलाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि $(S-\delta)\gamma'=(1-\delta)\gamma'-(1-\delta)\gamma'$ के। यह इस बात को सूचित करता है कि विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध वाली विकृत अर्थ-व्यवस्था पूंजीगत मालो में कमी को उपभोक्ता वस्तुओं की आतरिक पूर्ति के आधिक्य $(1-S)\gamma'-(1-S)\gamma' 7 0$ के बदले मे इनके आयात के द्वारा पूरा किया जा सकता है। विदेशी व्यापार के अभाव मे $\delta=S$ बनाने के लिए निपज की बनावट और या उद्योग की सरचना को समायोजित करना होगा। किन्तु निपज की बनावट और उद्योग की सरचना की अति अनुकूल मान्यता के आधार पर भी यदि $\delta=S$ के होता है, तो निवेश की निम्न उत्पादकता के परिणामस्वरूप पूंजी की वृद्धि की दर श्रेष्ठतम विकास के उद्देश्य से बहुत ही कम होगी। अब ऐसी परिस्थिति मे हमे अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे निवेश की न्यून उत्पादकता पर विचार करना चाहिए।

निवेश की न्यून उत्पादकता

मोटे तौर पर, मन्द पूंजी-सग्रह एव तकनीकी प्रगति निवेश की उच्च उत्पा-[illegible] को अवरुद्ध करती है। अल्प एव स्थायी पूंजी का कोष पूंजी एव अन्य उत्पा-

दक साधनों की तकनीकी प्रगति को प्रोत्साहित नहीं करता है। वास्तव में, यह कुछ व्यंग्यात्मक प्रतीत होता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए पूंजी के गुण में सुधार करना अनिवार्य होता है, किन्तु पूंजी की मात्रा में तीव्र गति से वृद्धि नहीं होने के कारण यह ऐसा शीघ्रतापूर्वक नहीं कर सकती, जबकि किसी विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए ऐसा आवश्यक नहीं होने पर भी पूंजी की मात्रा में सुगमतापूर्वक वृद्धि के कारण अपनी पूंजी के गुण में तेजी से सुधार कर सकती है। विश्व के सम्पूर्ण अल्प-विकसित हिस्से में उत्पादन के चक्करदार तरीके का अपर्याप्त प्रसारण उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के लिए अपेक्षाकृत अधिक एवं उत्तम पूंजी की विद्यमानता के विरुद्ध एक प्रबल मान्यता है। हस्त-प्रचलित औजारों पर निर्भर करने वाली अर्थ-व्यवस्था एवं संचालित उपकरणों पर निर्भर करने वाली अर्थ-व्यवस्था (जैसे पैरों से चलने वाली द्विचक्रीय गाड़ी बनाम ट्रैक्टर) के बीच उत्पादन-क्षमता के अन्तर की कल्पना करना कठिन कार्य नहीं है। चक्रीयता का स्तर जितना ही ऊँचा होता है, उत्पादन के अन्य साधनों के साथ प्रयुक्त पूंजीगत साधनों की प्रकृति उतनी ही अधिक स्वचालित होने की होती है। अपर्याप्त चक्रीयता स्वयं उच्च ब्याज संरचना अथवा उपभोग के निर्वाह-स्तर का परिणाम हो सकता है। ये दोनों, मार्शल के प्रचलित शब्दों में, प्रतीक्षा के द्वारा पूंजी के अधिकाधिक प्रयोग को निरुत्साहित करते हैं। अतएव तकनीकी पिछड़ापन एवं मन्द पूंजी-संग्रह अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में निवेश की उत्पादकता को न्यून बनाने वाले मौलिक कारण हैं।[1]

डोमर ने कुछ अधिक विशिष्ट कारणों का सुझाव दिया है जिनमें से कुछ अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में लागू होते हैं।[2] वे नये संयंत्रों को लगाये गये प्रति डालर की उत्पादन-क्षमता (इनके संकेतन के अनुसार) से निवेश के संभावित सामाजिक औसत क्षमता के न्यून होने के लिए श्रम की कमी को एकमात्र सर्वाधिक प्रधान कारण मानते हैं। डोमर[2] स्पष्टतः एक ऐसी विकसित अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखते हैं जहाँ जनसंख्या की वृद्धि धीमी अथवा स्थायी है, जिससे कि निपज के सम्बन्ध में श्रम की पूर्ति इतनी लोचदार नहीं होती है कि श्रम के प्रभाव में पुराने संयंत्रों के उत्पादन में और कमी करनी पड़ती है और इस प्रकार यह नये संयंत्रों के उत्पादन में वृद्धि को खिसका देता है। किन्तु एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था, जो स्वभावतः बेकार श्रमिकों से परिपूर्ण होती है, के संदर्भ में हम उसके सर्वाधिक प्रधान कारण को सबसे कम महत्वपूर्ण कारण मान सकते हैं। डोमर के अन्य कारणों—जैसे वह स्थिति जिसमें नये संयंत्र प्रभावोत्पादक माँग के अभाव में पूर्ण क्षमता भर उत्पादन नहीं कर सकते और अन्तिम स्थिति जिसमें जहाँ पर बाजार के लिये नये

1. कुछ अधिक मार्मिक टिप्पणी के लिए जे० रॉबिन्सन के **रेट आफ इन्टरेस्ट, एवं अन्य में नोट्स** आन दि इकानामिक्स आफ टेकनिकल प्रोग्रेस देखें।
2. इ० डी० डोमर का पूर्व उद्धृत "इक्सपैन्सन"।

सयत्रो की प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप पुराने संयंत्र अपना उत्पादन कम कर देते है, कुछ अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे लागू होते हुए पाये जाते है। किन्तु इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ को विशेषरूप से निजी उपक्रम के आधार पर विकसित करने वाली अर्थ-व्यवस्था के रूप मे व्यक्त करना अनिवार्य है क्योकि उन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे जो वृहत एव वृद्धिशील सार्वजनिक निवेश को मुख्य के रूप मे संधारण करती हैं, प्रभावोत्पादक मांग के अभाव के कारण नये सयत्रो के पूर्ण क्षमता से कम बिन्दु पर कार्य करने की सभावना बहुत ही कम पाई जाती है।

इस बात को मानते हुए कि सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए निवेश की उत्पादकता (उनका कुल σ) पुराने सयंत्रो की निपज पर नये सयत्रो के प्रतिकूल प्रभाव से घट जाती है, तो जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ का सम्बन्ध है, स्वय नये सयत्रों मे विनियोग किये गये प्रति डॉलर की उत्पादन-क्षमता (उनका अलग-अलग S) के व्यावहारिक महत्व को कम करना भूल होगी। क्योंकि, किसी अल्प-विकसित *अर्थ-व्यवस्था मे लिए, पिरामिड के प्रकार के नये सयत्रों के निर्माण, चाहे अल्पकाल* मे इनका आय-प्रभाव जो भी हो, का परित्याग औद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए निर्णायक महत्व की बात है। वास्तव मे, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे प्रेक्षित रूप में निम्न उत्पादन-क्षमता के कारणों को, स्वय नये सयंत्रो की प्रकृति एवं भेद के विशेष उल्लेख के बगैर, पूर्णरूप से व्याख्या नही की जा सकती और निवेश अनुपात (δ) जितना ही छोटा होगा, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को उन संयत्रो एवं उपकरणों, जो दीर्घकाल मे उत्पादन-क्षमता (यानी $\sigma = \Delta Y/I$ मे अतनिहित बनावट को) मे प्रसार करते है, के चुनाव मे उतनी ही अधिक सावधानी से काम लेना पड़ेगा।

पूंजी एव उत्पादकता की आवश्यकता

किसी अर्थ-व्यवस्था के वाछित विकास अथवा स्थायित्व से सम्बद्ध किये बगैर, पूंजी के सग्रह अथवा सग्रह का कोई अर्थ नही होता। हैरोड एवं डोमर ने विकसित पूंजीवादी व्यवस्था के सदर्भ मे पूंजी-असग्रह एव दीर्घकालिक स्थायित्व के सम्बन्ध पर उचित रूप से जोर दिया है। किन्तु जहा तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, पूंजी-संग्रह एवं निपज की सामाजिक श्रेष्ठतम वृद्धि के सम्बन्ध पर जोर देना चाहिए। निम्नाकित विश्लेषण के लिए, जैसा कि सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में होता है, हम लोग एक ऐसी स्थिति की सकल्पना करेंगे, जिसमे पूंजी की वृद्धि की दर निपज की सामाजिक श्रेष्ठतम वृद्धि से कम है, यानी $Gk \angle Gm$।

$GK = Gm$ बनाने के लिए, निवेश-अनुपात (α) को बढाना या निवेश की उत्पादकता (σ) को बढाना या दोनों को बढाना आवश्यक है। $Gk = Gm$ तथा $Gk = \alpha\sigma$ से $\alpha' = Gm/\sigma$ एवं $\alpha' = Gm/\alpha$ के रूप मे श्रेष्ठतम निवेश-अनुपात एवं

निवेश की श्रेष्ठतम उत्पादकता प्राप्त होती है। इन बाद वाले रूपों के परिचालन-सम्बन्धी महत्व को निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट किया जा सकता है :

यदि $Gm = 0{\cdot}05, \sigma = 0{\cdot}2,$ तो $\alpha' = 0{\cdot}25$
(श्रेष्ठतम निवेश-अनुपात)

यदि $Gm = 0{\cdot}05, \alpha = 0{\cdot}1,$ तो $\alpha = 0{\cdot}50$
(श्रेष्ठतम उत्पादकता-अनुपात)

इस प्रकार विकास-दर का अधिकतम लक्ष्य 5 प्रतिशत तथा वास्तविक निवेश-उत्पादकता अनुपात के 2 प्रतिशत दिया हुआ होने पर, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को अपने निवेश-अनुपात को 25 प्रतिशत के श्रेष्ठतम अंक तक बढ़ाना पड़ेगा। इसी प्रकार विकास की अधिकतम दर के समान रहने तथा वास्तविक निवेश अनुपात के 10 प्रतिशत दिया हुआ होने पर, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को अपने निवेश-अनुपात को 50 प्रतिशत के श्रेष्ठतम अंक तक बढ़ाना होगा, क्योंकि $Gk = Gm$ की विषमता इस बात का सूचक है कि वास्तविक निवेश-अनुपात एवं निवेश-उत्पादकता अनुपात अपेक्षित सामाजिक श्रेष्ठतम विकास से कम है। इसके अतिरिक्त (σ) अथवा α में वृद्धि का यथार्थवादी प्रयत्न बड़े (σ) अथवा α के विरुद्ध काम करने वाली शक्तियों, जिनकी व्याख्या हम लोग थोड़ी देर पहले कर चुके हैं, को भी ध्यान में रखेगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक श्रेष्ठतम दर की वृद्धि के लिए एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को निम्नलिखित शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं :

$$Gk = \sigma' \alpha' = Gm = n + h, \qquad (6)$$

क्योंकि $Gk \angle Gm$ से स्पष्ट होता हैं कि पूँजी के अभाव के परिणामस्वरूप संरचनात्मक अपूर्ण रोजगार के बगैर बढ़ते हुए जीवन-स्तर के आधार पर प्रगति के आदर्श मार्ग को प्राप्त करने एवं उसे यथावत बनाये रखने के लिए अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में पूँजी में वृद्धि की दर बहुत ही कम है।

हैरोड-डोमर मॉडल पर टिप्पणी

हैरोड एवं डोमर[1] के विकास-सम्बन्धी मॉडल विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को ध्यान में रखकर तैयार किये गये हैं और इसलिए इनकी आलोचना मुख्यतः इन्हीं

1. हैरोड, डायनामिक इकानामिक्स; डोमर का पूर्व उद्धृत **'इक्सपैन्शन एण्ड इम्प्लायमेंट'**।

अर्थ-व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण से की गई है।[1] किन्तु हम लोग इनके मॉडल का मूल्याकन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट रूप से जानने के लिए करेंगे कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए कौनसी चीज प्रासगिक है और कौनसी नही है।

हैरोड की प्रमाणित दर

अपनी प्राकृतिक दर, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है, के अतिरिक्त हैरोड के निर्देश का एक और मापदण्ड विकास की 'प्रमाणित' दर है। इसे ये इस प्रकार परिभाषित करते है : "विकास की प्रमाणित दर प्रगति की वह व्यापक दर है, जो कार्यान्वित करने पर उद्यमकर्त्ताओं को इस मानसिक स्थिति मे छोडती है कि वे समान प्रगति को आगे बढाने के लिए तैयार होते हैं।"[2] हैरोड की प्रमाणित दर (Gw) की यथार्थ प्रवृत्ति को देखने के लिए निम्नलिखित रूपो मे इसे जानना अनिवार्य है :

$$\frac{S}{Yw} = s = \text{स्थिर} \qquad (1')$$

$$\frac{\triangle K}{\triangle Yw} = Cr = \text{स्थिर} \qquad (2')$$

$$\triangle K = 1 = Cr \triangle Yw = sYw, \qquad (3')$$

$$Gw = \frac{\triangle Yw}{Yw} = \frac{s}{Cr}, \quad GwCr = s. \qquad (4')$$

जो इस बात की ओर सकेत करता है कि

$$\frac{\triangle K}{K} = \frac{sYw}{K} = \frac{(s/Cr)K}{K} = \frac{s}{Cr} \qquad (5')$$

यहाँ पर Yw पूँजी के पूर्ण उपयोग से प्राप्त शुद्ध राष्ट्रीय निपज का प्रमाणित स्तर, K पूर्ण उपयोग की स्थिति मे शुद्ध पूँजी का कोष, शुद्ध निवेश, s औसत बचत अनुपात और Cr पूँजी-निपज अनुपात का संतुलन मूल्य (औसत=कल्पित सीमात) या हैरोड के शब्दो मे 'अपेक्षित पूँजी गुणक' है।

---

1. फिर भी श्रीमती जे० रॉबिन्सन एवं आर० आइनर की आलोचनाओं में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए बहुत सी शिक्षाप्रद चीजें है। (देखें जे० रॉबिन्सन का पूर्व उद्धृत मि० हैरोड्स डायनमिक्स एवं 'दि रेट आफ इन्टरेस्ट, इट्स'; आइनार का मार्च 1952 के अमेरिकन इकानामिक रिव्यू में प्रकाशित 'अडर इम्प्लायमेंट-इक्वीलिब्रियम रेट्स ऑफ ग्रोथ'।)

2. डायनामिक इकॉनामिक्स, पृष्ठ 82।

उपर्युक्त पद्धति से यह स्पष्ट होता है कि उद्यमकर्त्ता उतना विनियोग करते हैं, जितना समाज आय की पूर्ण-क्षमता के स्तर पर बचाने को तैयार होता है और यदि निपज में उसी दर से वृद्धि होती है, जिस दर से इस शुद्ध निवेश के परिणाम स्वरूप वास्तविक पूँजी में वृद्धि उसे होने देती है, तो सम्बन्धित अर्थ-व्यवस्था अपनी वास्तविक पूँजी का सदा पूर्ण उपयोग करती रहेगी और Gw की अपरिवर्त्ती दर से प्रगति करती रहेगी। जैसा कि समीकरण (5′) में अंतर्भूत है, बचाने वालों की इच्छा के अनुरूप पूँजी में वृद्धि की अपेक्षित दर भी मालूम होती है। समीकरण (4′) से यह स्पष्ट होता है कि हैरोड की प्रमाणित दर उत्पादन-क्षमता के उस संतुलित मूल्य की ओर संकेत करती है, जो बचत की पूर्ण क्षमता के प्रयोग के लिए पर्याप्त निवेश को प्रेरित करने के उद्देश्य से आवश्यक है, यानी जो अन्यथा अवश्यंभावी बेकार अथवा अतिरिक्त क्षमता के परिणामस्वरूप ऋणात्मक शुद्ध निवेश को घटित होने से रोकती है। अब हम लोग Gw की दर से उन्नति करने वाली अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी हैरोड के मॉडल का मूल्यांकन, विशेषतः अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के दृष्टिकोण से करेंगे।

1. 'प्रमाणित' दर हैरोड द्वारा दिया गया इस मौलिक प्रश्न का उत्तर है कि विकसित पूँजीवादी व्यवस्था के स्थायी विकास को बनाये रखने के लिए कौन-कौन-सी आवश्यक शर्तें हैं। मार्क्स (एवं बाद में शुम्पीटर) ने भी इस प्रश्न को उठाया था तथा इसका उत्तर नैराश्यपूर्ण ढंग से दिया गया था। केन्स ने भी इसे पुनरुजीवित किया था तथा इसका उत्तर आशावादी तरीके से देने का प्रयास किया था। केन्स की ही तरह हैरोड भी एक ऐसे विश्व की संकल्पना करता है, जिसमें बचाने की प्रवृत्ति निवेश की अभिप्रेरणा से अधिक होती है और इसलिए जिसमें चक्रीय अवस्फीति एवं दीर्घकालिक गतिरोध की निरन्तर प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु केन्स के विपरीत हैरोड निम्नलिखित बातों पर जोर देता है (क) उत्पादन क्षमता के प्रभावोत्पादक माँग से अधिक हो जाने का खतरा, (ख) प्रेरित निवेश का प्रबल कार्य और विशेषतः (ग) प्रगतिशील संतुलन की अगतिशीलता। यहां याद रखने योग्य बात यह है कि केन्स का तात्पर्य एक दी हुई उत्पादन-क्षमता की तुलना में प्रभावोत्पादक माँग की अपर्याप्तता से था, जिसकी उत्पत्ति अपर्याप्त स्वतः प्रेरित निवेश की तुलना में बचत की उच्च सीमांत प्रवृत्ति (गुणक के माध्यम) से होती है। साथ ही, बचत एवं विनियोग की समानता से सम्बन्ध केन्स की संतुलन आय केवल स्थैतिक ही नहीं वरन् स्थिर भी है, जब कि हैरोड का संतुलन इस अर्थ में गत्यात्मक एवं अस्थिर दोनों हैं कि परिवर्त्तन की सकारात्मक अचल दर होते हुए भी, अव्यवस्थित हो जाने पर, इसमें स्वयं पूर्व अवस्था में पहुंचने की क्षमता नहीं होती।

इन विभिन्नताओं के बावजूद हैरोड के 'प्रमाणित' दर की धारणा केन्स के प्रभावोत्पादक माँग के सिद्धान्त पर पूर्णरूप से आधृत है। वास्तव में, इसे केन्स के

अपर्याप्त प्रभावोत्पादक माँग एव अनैच्छिक सामूहिक वेरोजगार के सदर्भ के बगैर समझा भी नही जा सकता। इस प्रकार हैरोड चक्रीय अवस्फीति की सभावना की परिकल्पना करते है, जो प्रभावोत्पादक माँग की 'जाच एव त्रुटि' का प्रतिनिधित्व करने वाली विकास की दर (C) के अपेक्षित उत्पादन-क्षमता का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रमाणित दर से निम्न होने के कारण उत्पन्न होती है। इसी प्रकार, वे दीर्घकालिक गतिरोध की सभावना की भी परिकल्पना करते है, जो 'प्रमाणित' दर के जनसख्या एव तकनीकी की वास्तविक प्रवृत्तियो के अनुरूप अधिकतम उत्पादन-क्षमता का प्रतिनिधित्व करने वाली स्वाभाविक दर (Gn) से अधिक होने की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होती है।[1] सक्षेप मे, हैरोड की 'प्रमाणित' दर औद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए पथप्रदर्शक नही होकर चक्रीय-विरोधी एव गतिरोध-विरोधी नीतियो को प्रकट करने के लिए विश्लेषण का अस्त्र है।

2 हैरोड की प्रमाणित दर, आवश्यक रूप से श्रम के पूर्ण रोज़गार की प्रतिभूति (गारटी) न प्रदान कर, पूँजी के पूर्ण उपयोग की प्रतिभूति प्रदान करती है। यदि बचत अनुपात एव पूँजी-निपज-अनुपात स्वेच्छाचारितापूर्वक पूर्ण रोजगार सम्बन्धी आय से सम्बद्ध हो जाते है, तो भी जैसा कि पहले कहा जा चुका है,[2] प्रमाणित दर का तात्पर्य अपर्याप्त प्रभावोत्पादक माँग के परिणामस्वरूप केन्स की वेरोजगारी की समस्या से है। ठीक इसके विपरीत, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ में जिस प्रकार की वेरोजगारी पाई जाती है, उसका निराकरण केवल प्रभावोत्पादक माँग मे वृद्धि के द्वारा उस बिन्दु तक नही किया जा सकता है, जहाँ उपलब्ध पूँजी के पूर्ण उपयोग का औचित्य दीख पड़ता है। कोई भी दूसरा निष्कर्ष हैरोड के इस मौलिक विचार से कि 'केन्सीय रूप मे यह (प्रमाणित दर) बढती हुई अनैच्छिक वेरोज़गारी की सभावना की सकल्पना करता है, से असगत होगा।[3] साथ ही, जैसा कि कुछ लेखको ने प्रयास किया है,[4] हैरोड (और डोमर के प्रतिरूप) की 'प्रमाणित' दर पूर्ण रोज़गार एव पूर्ण क्षमता दोनो पर ध्यान रखने के लिए अलग उत्पादन-फलन (जिसमे श्रम

---

1. देखें, डायनमिक इकॉनामिक्स पृ० 91, साथ ही रजर्स यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा 1955 मे प्रकाशित (आर० ए० सोलो द्वारा सपादित) इकानामिक्स एण्ड दि पब्लिक इन्टरेस्ट मे मेरा निवध ग्रोथ थियरी एण्ड दि प्रोब्लेम्स आफ इकॉनामिक स्टेबिलाइजेशन'।
2. हैरोड इस प्रकार की दर को 'विशिष्ट' प्रमाणित दर कहता है। (देखें, उनकी पूर्व उद्धृत पुस्तक 'एन एसे इन डॉयनमिक थियरी')।
3. डॉयनामिक इकॉनामिक्स, पृ० 87।
4. उदाहरण के लिए देखें, नवम्बर, 1953 ई० मे क्वाटर्ली जरनल ऑफ इकॉनामिक्स मे एच० पिलवीन का 'फुल केपेसिटी वर्सेज फुल इम्पलायमेंट ग्रोथ'।

एवं पूँजी दोनों निवेश अंतर्निहित हों) की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि, प्रमाणित दर के सहयोग से हैरोड की 'प्राकृतिक' दर ही इसे कर सकती है, यानी जब $Gw = Gn = G$। यहां ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि Gw की दर से पूर्ण नियुक्त पूँजी की वृद्धि भी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की संरचनात्मक बेरोज़गारी को, जो बढ़ती हुई उत्पादकता के साथ जनसंख्या की वृद्धि से पूँजी-संग्रह के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होती है, दूर नहीं कर सकती। स्वतः-प्रेरित निवेश का बहिष्करण हैरोड की 'प्रमाणित' दर की धारणा को अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विश्लेषणात्मक ढंग से अपर्याप्त बना देती है। हैरोड स्वतः-प्रेरित निवेश का बहिष्करण शायद बाज़ारगत अर्थ-व्यवस्था के अस्थायित्व को प्रदर्शित करने के लिए करते हैं। इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था में आय के उच्चावचन पर आधृत लाभ की प्रत्याशा पर निवेश में मनमाने ढंग से विस्तार तथा संकुचन किया जाता है। इसीलिए, श्रीमती जान रॉबिन्सन ने स्वीकारात्मक ढंग से कहा है कि श्री हैरोड का मुख्य विषय यह है कि प्रमाणित दर को विशुद्ध अवैध-नीतिमय दशाओं में सामान्य रूप से नहीं प्राप्त किया जा सकता है।[1] दूसरी ओर जे० आर० हिक्स का यह विचार है कि 'प्रमाणित' दर से बढ़ती हुई अर्थ-व्यवस्था के लिए हैरोड के मॉडल में अत्यधिक अस्थायित्व है। अतएव, इनकी राय में स्थायित्व प्रदान करने वाली शक्ति के रूप में स्वतःप्रेरित निवेश का प्रयोग आवश्यक है।[2]

3. जो भी हो, सम्बन्ध बात यह है कि हैरोड (और हिक्स भी) स्वतःप्रेरित निवेश को, बचत के केवल उस भाग को, जिसका केवल प्रेरित निवेश अवशोषण नहीं

1. देखें, इनकी **दि रेट आफ इन्टरेस्ट, एटसेट्रा**, पृष्ठ 160, n-1 यह चर्चा उन्होंने हैरोड के आशय के सम्बन्ध में टी०सी० शेलिंग के भ्रम के विरुद्ध हैरोड को बचाने के सिलसिले में की थी। (देखें दिसम्बर, 1947 के **'अमेरिकन इकानामिक रिव्यू'** में शेलिंग का 'कैपिटल ग्रोथ एण्ड इक्यूलिब्रियम'।) किन्तु हैरोड द्वारा अस्थायित्व की स्थिति, जो आवश्यक एवं पर्याप्त दोनों है, के स्पष्टीकरण से यह अंतिम भ्रम शायद दूर हो गया होता।
2. **ट्रेड साइकिल**, पृ० 60। यह देखना कठिन हो जाता है कि हिक्स की तरह के आत्म-समापन के सिद्धान्त पर आवृत स्वतः प्रेरित निवेश इतना समरूप कैसे हो सकता है कि स्थायित्व प्रदान करने वाले तत्व की तरह कार्य कर सकता है अथवा पूंजी के बड़े एवं वृद्धिशील स्टॉक के अस्थायित्व प्रदान करने के प्रभाव के कारण समरूप रह सकता है, जब तक कि हिक्स का स्वतःप्रेरित विवश स्टॉक से बाहर वाले प्रकार का भी प्रतिनिधित्व नहीं करता हो। हिक्स के व्यापार चक्र-सम्बन्धी विश्लेषण के इस अन्तिम अस्पष्ट विचार के सम्बन्ध में 1952-53 के खंड XX (1) संख्या 52 के **'रिव्यू आफ इकानामिक्स स्टडिज'** में एच० रोज़ का निबंध **'डिमान्ड सप्लाई एंड प्राइस लेवुल इन मैक्रो डायनमिक्स'**।

करता हो, समतोलन करने के लिए मांग का एक साधन मानता है। स्वतः प्रेरित निवेश के सम्बन्ध मे यह विचार हैरोड के सुधरे हुए निम्नांकित समीकरण मे अंतर्भूत है : $GC = s\text{-}k$, जिसमे G वास्तविक विकास की दर है, C भूल एवं सुधार पर आधृत पूंजी-निपज-अनुपात, s वास्तविक आय-स्तर एव बचत का अनुपात तथा k आय के अश के रूप मे व्यक्त स्वत प्रेरित निवेश है। हैरोड अपने प्रमाणित बचत निवेश समीकरण $GwCr = s$ मे स्पष्ट परिवर्त्ती के रूप मे स्वतःप्रेरित निवेश को अलग कर देता है, क्योकि अशत वह त्वरक-सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से कार्य-क्षेत्र प्रदान करना चाहता है और अशत. इसलिए कि वह केवल उसी प्रकार के स्वतः-प्रेरित निवेश को ध्यान मे रखता है, जो पूर्त्ति मे वृद्धि किये बगैर ही मांग मे वृद्धि करते है (उदाहरण के लिए शस्त्रीकरण)[1]। उसके अनुसार दीर्घकाल मे K अवश्य अदृश्य हो जायेगा क्योकि दीर्घकाल मे सम्पूर्ण पूंजीगत व्यय जिस कार्य मे प्रयोग किया जाता है उसके लिए न्यायोचित ठहराया जाता है।[2]

4 हैरोड ने उस प्रकार के स्वत प्रेरित निवेश को, जिसे केन्स अधिकाधिक आवश्यक समझते थे, स्वेच्छापूर्वक स्पष्ट कर दिया है। वह है सार्वजनिक निवेश, जो दीर्घकालिक विचारो को ध्यान मे रखते हुए पूंजी की सीमात क्षमता को पता लगाने मे राज्य की उत्कृष्ट क्षमता तथा सामान्य सामाजिक लाभो[3] पर आधृत है। आज की अल्प-विकसित मिश्रित अर्थ-व्यवस्थाओ के विकास मे इस प्रकार का निवेश बहुत अधिक व्यावहारिक महत्त्व का है। वास्तव मे, यह निश्चय ही कठिन जान पड़ता है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ, जिनके पास निजी उपक्रम एवं निधि दोनों का अभाव रहता है, किस प्रकार दीर्घकालीन विचारो एवं सामान्य सामाजिक लोगो पर आधृत पर्याप्त सार्वजनिक निवेश, चाहे वह रूढ अर्थ मे आत्म-समापन वाला हो अथवा नही, के बगैर अपनी उत्पादन-क्षमता एव साधनो को विकसित कर सकता है। साथ ही, इस प्रकार की कल्पना उचित जान पडती है कि विकास-जागरूक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ अपने स्वत.प्रेरित निवेश, विशेषत. सार्वजनिक प्रकृति के निवेश का क्षमता-मूलक प्रकृति के दीर्घकालिक कार्यक्रम (जैसे राजपथ, बन्दरगाह, पुल, रेलवे, बांध एवं प्राकृतिक साधनो के सरक्षण को ध्यान में रखते हुए इनको उपयोग) मे लगायेगी। यद्यपि हैरोड के शस्त्रीकरण की तरह के स्वत.प्रेरित निवेश समाप्त हो सकते है, तथापि इस प्रकार के स्वत. प्रेरित निवेश दीर्घकाल मे निश्चय ही समाप्त नही हो सकते। यदि स्वत प्रेरित निवेश को आत्म-समापन एवं क्षमता-मूलक बनाया जा सके (अमेरिका की T. V. A. की तरह), तो कोई कारण नही कि

1. देखें डायनामिक इकॉनामिक्स पृ० 79, जिसमे वह युद्ध के सम्बन्ध मे चर्चा करता है।
2. तत्रैव।
3. जनरल थियरी, पृ० 164।

इसे पूर्ण क्षमता निपज की वृद्धि की दर में, हम लोगों के Gk की तरह सम्मिलित नहीं किया जाय। इस प्रकार हैरोड का 'अपेक्षित पूँजी गुणक' (Cr) प्रेरित निवेश को केवल निपज से सम्बद्ध करता है, अतएव इसका अयोग्य स्टॉक उत्पन्न करने की प्रवृत्ति वाले स्वत:प्रेरित निवेश के साथ सम्बन्ध किसी भी उत्पादकता को स्पष्ट नहीं कर सकता। निम्न बचत-अनुपात (s), जो अति अनुकूल मान्यता पर भी पूँजीगत वस्तुओं की पूर्त्ति का प्रतिनिधित्व करता है, वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि पूँजी-निपज अनुपात के ($1/Cr$) को निजी अथवा सार्वजनिक स्वत: प्रेरित उत्पादक निवेश को सम्मिलित कर ऊँचा रखा जाय।

डोमर की पूर्ण रोज़गार-दर

अब हम डोमर के विकास-मॉडल पर विचार करेंगे। उसकी शुद्ध निवेश में वृद्धि की पूर्ण रोज़गार-सम्बन्धी दर की धारणा के विस्तारीकरण द्वारा हम निम्नांकित प्रकार से प्रारम्भ करेंगे :—

$$Y^d = \frac{1}{\alpha}, \qquad (1'')$$

(प्रभावोत्पादक माँग का स्तर)

$$Y^s = \sigma K, \qquad (2'')$$

(उत्पादक क्षमता का स्तर)

$$Y^d = Y^s \text{ अथवा } \frac{1}{\alpha} = \sigma K, \qquad (3'')$$

(संतुलन की स्थिति)

$$\triangle Y^d = \frac{\triangle I}{\alpha} \qquad (4'')$$

(माँग की वृद्धि)

$$\triangle Y^s = \sigma \triangle K = \sigma I, \qquad (5'')$$

(क्षमता की वृद्धि)

$$\triangle Y^d = \triangle Y^s \text{ अथवा } \frac{\triangle I}{\alpha} = \sigma I, \qquad (6'')$$

(संतुलन की स्थिति)

$$Y = \frac{\triangle I}{I} = \alpha\sigma \qquad (7'')$$

(निवेश की वृद्धि दर)

जो इस बात की ओर संकेत किया करता है कि

$$\frac{\triangle Y^d}{Y^d} = \frac{\triangle I/\alpha}{Y^d} = \frac{\triangle I/\alpha}{I/\alpha} = \frac{\triangle I}{I} = a\sigma \qquad (8'')$$

(माँग की वृद्धि की दर)

यहाँ पर Y^d शुद्ध राष्ट्रीय आय का स्तर अथवा पूर्ण रोजगार पर प्रभावोत्पादक माँग को दिखलाता है, को Y^s उत्पादन-क्षमता का स्तर या पूर्ण रोजगार पर पूर्ति, I शुद्ध निवेश, K वास्तविक पूँजी, α बचाने की सीमांत प्रवृत्ति और σ पूँजी अथवा शुद्ध निवेश की उत्पादकता है।

इस पद्धति से हमें यह ज्ञात होता है कि स्थायी α एवं स्थायी σ के दिया हुआ होने पर, यदि वृद्धि अर्थ-व्यवस्था में (4") द्वारा दिये गये माँग पक्ष एवं (5") द्वारा दिये गये पूर्ति पक्ष में इस प्रकार संतुलन स्थापित करना है कि (6") द्वारा वर्णित पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहे, तो शुद्ध निवेश में r (शुद्ध निवेश में वृद्धि की अपेक्षित दर) अथवा $\sigma\alpha$ की दर से वृद्धि करनी पड़ेगी। समीकरण (8") की तरह इससे यह भी संकेत मिलता है कि आय अथवा माँग में $\alpha\sigma$ की दर से अवश्य वृद्धि होनी चाहिए। संक्षेप में, पूर्ण रोजगार की प्राप्ति के लिए अर्थ-व्यवस्था को समीकरण (3") द्वारा वर्णित शर्तों को अवश्य ही पूरा करना पड़ेगा। डोमर द्वारा जोर दिये गये "निवेश की दुहरी प्रकृति" को ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि, केन्स के गुणक सिद्धान्त की तरह $\Delta I/I$ का भाज्य, समीकरण (4") के माध्यम से अतिरिक्त माँग का सृजन करता है, किन्तु डोमर की वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था के मॉडल की तरह इसका भाजक समीकरण (5") के माध्यम से अतिरिक्त क्षमता का सृजन करता है। समीकरण (1") में परिवर्त्ती केवल माँग के एक स्तर का सृजन कर सकता है जबकि समीकरण (5") में यही। परिवर्त्ती, उचित समय में पूँजी में वृद्धि (ΔK) का सृजन कर सकता है। यदि बढ़ती हुई पूँजी के स्टॉक वाली वृद्धि अर्थ-व्यवस्था लगातार पूर्ण-रोजगार को बनाये रखना चाहती है तो उसे वास्तविक पूँजी में इस वृद्धि (ΔK) के परिणामस्वरूप उत्पादन-क्षमता में वृद्धि (ΔY^s) को निवेश में वृद्धि (ΔI) के परिणामस्वरूप प्रभावोत्पादक माँग में समान वृद्धि (ΔY^d) के द्वारा बराबर करना होगा। अब हम लोग डोमर के मॉडल का मूल्यांकन विशेष रूप से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के दृष्टिकोण से करेंगे।[1]

1. डोमर ने जिस स्थिति पर विचार किया था, वह सारतः वही है, जिस पर हैरोड ने भी विचार किया था। उच्च बचत-अनुपात (α) एवं निवेश की उच्च उत्पादकता जो प्रायः शुद्ध रूप से हैरोड के पूँजी निपज अनुपात का अन्योन्य है, उस स्थिति की प्रमुख विशेषताएँ है। इस प्रकार यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें सिद्धांततः एवं औसत रूप से प्रभावोत्पादक माँग में उत्पादन-क्षमता से कम-से-कम होने की प्रवृत्ति पाई जाती है यानी $Y^d \angle Y^s$। स्थायी तौर पर $Y^d = Y^s$ के लिए, डोमर का

1. वैकल्पिक आलोचनाओं के लिए देखें आर० आइसनर का पूर्व उद्धृत, दिसम्बर, 1947 के अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू में 'कैपिटल इक्सपेन्शन एंड इक्यूलिब्रियम', वाई० टाकता द्वारा संपादित स्टडिज इन ग्रोथ-इकानामी।

कहना है कि आय एवं क्षमता दोनों में एक समान दर से वृद्धि होनी चाहिए, यानी $\Delta Y^d = \Delta Y^s$। सार रूप में यह वही विश्व है, जिसे केन्स ने 'प्रचुरता में निर्धनता' नामक विशेषता से विभूषित किया था। यह उस प्रकार का विश्व है जिस में प्रभावोत्पादक माँग की अपर्याप्तिता का अनुभव होता है।[2] क्योंकि उच्च वचत-अनुपात अपर्याप्त माँग के चलते वास्तविक निर्धनता का सूचक है, जबकि निवेश की उच्च उत्पादकता पर्याप्त क्षमता के परिणामस्वरूप संभाव्य विपुलता का निर्देशक है। डोमर संस्थानिक एवं आनुभविक आधार पर उच्च α एवं उच्च σ की दृढ़ता को तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं और तब α एवं σ के प्रचलित मूल्यों के साथ शुद्ध निवेश की वृद्धि की दर ($\Delta I/I$) में तकनीकी अथवा राजकोषीय समायोजन का प्रस्ताव करते हैं। किन्तु अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में निम्न वचत अनुपात एवं निवेश की निम्न उत्पादकता की समस्या पाई जाती हैं, जिससे यह अवस्फीति के प्रवृत्ति के लिए खुली रहती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था के संभवतः अपने संस्थानिक एवं मनोवैज्ञानिक ग्रंथी को इस प्रकार से समायोजित करना पड़ता है, जिससे कि $\Delta I/I$ एवं σ $C\alpha = r/\sigma$, जिसमें $r = \Delta I/I$) के दिये हुये मूल्यों पर वचत-अनुपात में वृद्धि की जाय अथवा $\Delta 1/1$ एवं α ($\sigma = r/\alpha$) के दिया हुआ रहने पर निवेश की उत्पादकता में वृद्धि के लिए उत्पादन के तरीकों में सुधार किये जायँ।

2. डोमर इस वात की संभावना पर विचार नहीं करते कि शुद्ध निवेश की वृद्धि की दर, जिसे ये पूर्ण रोजगार की एक आवश्यक शर्त मानते हैं, स्वयं दीर्घकाल में इस प्रकार के स्थायी प्रभावों को उत्पन्न कर सकती है, जिससे कि संतुलन की अपेक्षित स्थिति $y^d = y^s$ एवं $\Delta y^d = \Delta y^s$ दीर्घकाल तक नहीं वनाई रखी जा सकती है। एक उन्नत अर्थ-व्यवस्था में नवीन क्रिया के द्वारा निवेश-गुण्य (ΔI) को वढ़ाने के लिए निरंतर प्रयास, जिसे डोमर अधिक अधिमान देते थे, शुद्ध निवेश की उत्पादकता (σ) को वढ़ा सकता है। किन्तु जव तक 'नवीन क्रिया-निवेश' मुख्यतः आय-उत्पादक प्रकृति का नहीं होता, तव तक साथ-ही-साथ क्षमता में वृद्धि किये वगैर यह आय में वृद्धि के अपेक्षित उद्देश्य को विफल वना देता है। इस प्रकार का आत्मघाती परिणाम एक जवरदस्त दीर्घकालीन संभावना है, क्योंकि नवीन क्रिया निवेश के नये अवसरों को प्रस्तुत करने और इस प्रकार नवीन क्रिया-संवंधी निवेश में वृद्धि (ΔI) के साथ-साथ, अतिरिक्त निपज को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक शुद्ध निवेश की रकम को घटा देता है। जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का सम्वन्ध है, उपर्युक्त आत्मघाती परिणाम ठीक उलटा हो जाता है; क्योंकि स्फीतिजनक माँग को कम करने के लिए नवीन क्रिया-निवेश में कमी के साथ-साथ निवेश की उत्पादकता में आत्मघाती कमी एवं इसीलिए उत्पादन-क्षमता में कमी हो सकती है।

---

1. **जेनरल थियरी** पृ० 30। किन्तु, डोमर का विश्व केन्स की तुलना में अधिक कष्टकारक है; क्योंकि पहली पूँजी के वृद्धिशील स्टाकवाली गतिशील व्यवस्था है।

इसके अधिक यदि नवीन क्रिया-निवेश मे वृद्धि के प्रयत्नो के उपपरिणाम के रूप मे निवेश की उत्पादकता बढ जाती है, तो समुदाय की मितव्ययिता सम्भवतः बढ़ जाएगी। इससे बचत-अनुपात मे वृद्धि तथा आय मे कमी होगी। यह भी एक प्रबल दीर्घकालीन सम्भावना है, क्योकि निवेश की उत्पादकता एव बचत अनुपात मे एक ही दिशा मे परिवर्तन होता है। अतएव, यह कोई आकस्मिक नही कि σ एव σ दोनों उन्नत अर्थ-व्यवस्थाओ मे उच्च तथा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे निम्न रहते हैं। अतएव, निवेश की उत्पादकता एव बचत अनुपात ($\sigma \alpha$) $\triangle I/1$ की दर से बढते हुए शुद्ध निवेश की दीर्घकालीन गति से इस प्रकार प्रभावित हो सकते है कि डोमर के सतुलन की स्थिति $Y^d = {}^sY$ एव $\triangle Y^d = \triangle Y^s$ डोमर द्वारा अपेक्षित कारणो से ही उलट सकते है।

3 अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से डोमर के मॉडल के विरुद्ध शायद सर्वाधिक गम्भीर आलोचना यह है कि उसकी निवेश की वृद्धि की अपेक्षा दर 'सरचनात्मक बेरोजगारी' की समस्या के समाधान मे असफल रह जाती है। डोमर की 'अपेक्षित' वृद्धि की दर, केवल प्रभावोत्पादक मांग की अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न 'केन्सीय बेरोजगारी' की समस्या या दूसरे शब्दो मे, पूंजी के अपूर्ण प्रयोग का ही समाधान करती है, जबकि हैरोड 'अनैच्छिक बेरोजगारी' की मान्यता से प्रारम्भ करता है और तब gw=gn शर्तों की पूर्ति के द्वारा पूर्ण रोजगार सतुलन को प्राप्त करने की सभावनाओ पर विचार करता है, डोमर पूर्ण रोजगार की स्थिति ($Y^d = Y^s$) की मान्यता से आरम्भ करता है और तब α σ की दर से आय एवं निवेश के विस्तार के द्वारा इस स्थिति को बनाये रखने की सम्भावना पर विचार करता है। हैरोड के gw से अधिक डोमर का y दोनो पूर्ण क्षमता एवं पूर्ण रोजगार की प्रतिभूति (गारंटी) नही दे सकता है। क्योकि, अधिकाश अल्प-विकसित देशो की तरह यदि श्रम-सख्या मे पूंजी-सग्रह से अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती है, तो पूर्ण रोजगार के साथ प्रारम्भ करने वाली अर्थ-व्यवस्था को पूंजीगत उपकरणो के अभाव मे आगे अथवा पीछे गैर-केन्सीय बेरोजगारी की अनुभूति होगी। ऐसा तभी होगा, जबकि यह नही मान लिया जाय कि उत्पादन के श्रम-गहन उपाय श्रम की उत्पादकता मे किसी प्रकार की कमी लाये बगैर इसे टाल नही देते अथवा यह नही मान लिया जाय कि श्रम की प्रारंभिक अधिकता वास्तविक मजदूरी की दर मे इस प्रकार की कटौती करती है, जिससे कि पूंजी-संग्रह अत्यधिक लाभदायक हो जाय। यह एक खुला प्रश्न है कि क्या श्रम-गहन तकनीको का प्रयोग, यद्यपि कि ये गैर-केन्सीयन बेरोजगार को कम करने मे सहायक होते है, तथापि ये बड़े पैमाने की उत्पादन की मितव्ययिताओं के माध्यम से, जिसमे श्रम की तुलना मे पूंजी की अधिक आवश्यकता पड़ती है, उत्पादकता मे वृद्धि के दीर्घकालिक उद्देश्यों की पूर्ति में बाधक हो सकता है? यह भी एक खुला प्रश्न है कि क्या अधिक विकसित श्रम-सघ के अभाव मे किसी भी अल्प-विकसित

अर्थ-व्यवस्था में श्रम वास्तविक मजदूरी की दर में संतुलनकारी कटौती को सहर्ष स्वीकार कर सकता है ? इस प्रकार शुद्ध-निवेश में $\alpha\,\sigma$ की दर में वृद्धि यद्यपि यह अनुपयुक्त क्षमता को उत्पन्न होने से रोकती है, बढ़ती हुई श्रम-संख्या को खपाने के लिए पर्याप्त मात्रा में तीव्र नहीं भी हो सकती है। अपने σ को जनसंख्या की वृद्धि एवं प्राविधिक प्रगति के अंतर्गत करने के बजाय, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की गैर-केन्सीयन बेरोजगारी तथा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की केन्सीयन बेरोजगारी दोनों के विश्लेषण के लिए हैरोड की 'प्राकृतिक' दर की तरह डोमर को विकास की किसी अतिरिक्त दर को काम में लाना होगा। इस प्रकार, हैरोड के विकास की 'वारंटेड' दर की तरह डोमर के विकास की संतुलन दर पूंजी के पूर्ण नियोजन की प्रतिभूति (गारंटी) प्रदान करती है और जब तक श्रम-संख्या की वृद्धि की दर के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट मान्यता नहीं की जाती, तब तक यह आवश्यक रूप से श्रम के पूर्ण नियोजन की प्रतिभूति (गारंटी) नहीं प्रदान करता।

4. अंततः, तकनीक के सम्बन्ध में डोमर की अभिमति में बहुत-सी अपेक्षित बातों की कमी रह जाती है। समर्थ माँग की अपर्याप्तता के सम्बन्ध में चिंतन-रत रहने के कारण, डोमर तकनीकी प्रगति को मुख्यतः निवेश के अवसर का स्रष्टा मानता है। जहां तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, तकनीकी प्रगति की आकांक्षा, इस बात को ध्यान में रखे बगैर कि इससे समर्थ माँग में वृद्धि होती है अथवा नहीं, इसके उत्पादकता-प्रभाव (σ) के लिए की जाती है। इस सम्बन्ध में यह बतलाना अनिवार्य है कि केन्स, जैसा कि डोमर मान लेता है, पूंजी के उत्पादक गुणों पर अधिक जोर नहीं देता है। इसके लिए डोमर केन्स को ही उत्तरदायी ठहराता है।[1] अवकाश के स्रष्टा के रूप में तकनीकी प्रगति के लिये केन्स इतने अधिक उत्सुक थे कि वे इसके सहगामी 'तकनीकी बेरोजगारी' को 'कुसमंजन की अस्थायी स्थिति' समझकर टाल देने के पक्ष में थे।[2] अवकाश के स्रष्टा के रूप में तकनीकी प्रगति के सम्बन्ध में केन्स की यह सुखद स्थिति, डोमर की तकनीकी से सम्बन्ध-निवेश की अत्यधिक ऊँची संभावित उत्पादकता (σ) के प्रति चेतावनी-सम्बन्धी स्थिति के बिल्कुल विपरीत है। अतएव, जहां तक पूंजी के तकनीक की दृष्टि से सुधार-योग्य गुण (डोमर का उच्च σ) का सम्बन्ध है, केन्स द्वारा इस पर अधिक जोर देना उचित जान पड़ता है।

और न तो केन्स ने, जैसा कि डोमर मानते हैं, दीर्घकाल से पूंजी के बढ़ते हुए परिमाण के सम्बन्ध में कोई गंभीर चिन्ता ही व्यक्त की है। ठीक इसके विपरीत केन्स ने पूंजी के परिमाण में उस हद तक वृद्धि संभव एवं वांछित बतलायी है, जहां पूंजी की 'सीमांत क्षमता शून्य हो जाती' है। अतएव, यहाँ पूंजीवाद का लगान

---

1. डोमर-पूर्व उद्धृत, पृ० 53।
2. केन्स का पूर्व उद्धृत 'इकॉनामिक पोसिबिलिटिज फॉर आवर ग्रान्ड चिल्ड्रेन'।

उपजीवी पक्ष समाप्त हो जाता है।[1] पूँजी की घटती हुई सीमांत-क्षमता के लिए केन्स की गम्भीर चिन्ता, जिसकी चर्चा डोमर ने की है, केवल आतरिक परिस्थितियो मे ही होती है, जहा पूँजी के सचय को अवध-नीति पर छोड़ दिया जाता है और जहाँ द्रव्य एव ऋण पर दिये गये ब्याज की दर, संस्थानिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणो से, पूँजी की घटती हुई सीमात क्षमता से सुगमतापूर्वक समायोजित करने के लिए घटने मे असमर्थ सिद्ध होती है। अतएव, एक उचित तरीके से सचालित समाज की तरह, यदि पूँजी की मात्रा एव ब्याज की दर पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाय, तो पूँजी-सचय के बजाय तकनीक, अभिरुचि, जनसंख्या एव संस्थाओं[2] मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रगति की आशा करना केन्स सम्भव समझता था। किन्तु स्पष्ट है कि इस बात को बिना जाने डोमर केन्स के निष्कर्ष से करीब-करीब सहमत हो जाता है, जबकि वह तकनीकी प्रगति की अभिवृद्धि (σ मे वृद्धि) की वांछनीयता को इस शर्त पर प्रमाणित करता है कि वैयक्तिक नवीन क्रिया-निवेश जिस अतिरिक्त बचत का प्रयोग नही कर सकता, उसका उपयोग अन्य तरीको से (जैसे सरकार के द्वारा) किया जाता है।

राबिन्सन के मॉडल पर टिप्पणी

जांन राबिन्सन के पूँजी-सचय के सिद्धात[3] का सार उनके इस केन्द्रीय प्रस्ताव मे निहित है: 'यदि उद्यमकर्ताओ को लाभ नही होता, तो वे पूंजी-संग्रह नही कर सकते और यदि वे पूंजी-संग्रह नही करते, तो उन्हे लाभ नही होता।'[4] आर्थिक विकास की मौलिक प्रकृति का विश्लेषण वह पूंजीवादी नियमो के अनुसार करना चाहती हैं। इस उद्देश्य से वे केवल पूँजी एव श्रम को उत्पादन का साधन मानते हुए एव सम्पूर्ण उत्पत्ति को उद्यमकर्ताओ एवं श्रमिको के बीच वितरण करते हुए एक संवृत अबंध अर्थ-व्यवस्था के शाब्दिक मॉडल का निर्माण करती हैं। पहले हम लोग जे० राबिन्सन के आधारभूत मॉडल का विवेचन करेंगे और तब हैरोड-डोमर मॉडल के साथ इसके सम्बन्ध एव केन्सोत्तर विकास-सम्बन्धी अर्थशास्त्र मे इसके स्थान को, विशेष रूप से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के दृष्टिकोण से, स्पष्ट करेंगे।

आगे-आगे आने वाले विश्लेषण को सहज बनाने के लिए, उचित मान्यताओ के आधार पर रॉबिन्सन के संग्रह के सिद्धान्त को निर्दिष्ट आकार देना लाभदायक

---

1. 'जेनरल थियरी' पृ० 221, पृ० 376।
2. पूर्व उद्धृत पृ० 220-1।
3. देखें, इनकी पुस्तक 'दि एकुमुलेशन ऑफ कैपिटल', इरविन, होम उड, 1956 (विशेषतः द्वितीय खंड, भाग I एव II)
4. पूर्व उद्धृत, पृ० 76।

जान पड़ता है। उसके मूल मॉडल में निम्नांकित सरल मान्यताएं अंतर्निहित हैं : (क) श्रमिक मजदूरी के रूप में प्राप्त अपनी सम्पूर्ण आय को उपभोग पर व्यय करते हैं, जबकि लाभ प्राप्त करने वाले लाभ से प्राप्त अपनी संपूर्ण आय को बचाते एवं विनियोग करते हैं और (ख) एक दी हुई निपज को उत्पन्न करने में पूंजी एवं श्रम एक निश्चित अनुपात में लगाये गये हैं। आगे चलकर वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए, वे अपनी दूसरी मान्यता को कुछ शिथिल कर देती हैं। उनका सम्पूर्ण विवेचन घटनोत्तर रूप में संचालित होता है, किन्तु हम लोग इसकी व्याख्या आर्थिक सिद्धान्त के घटना-पूर्व रूप में भी कर सकते हैं।

वितरण-समीकरण जो जे० राबिन्सन के विकास-सिद्धांत का केन्द्रीय-विन्दु है, जो निम्नांकित प्रकार से दिखलाया जा सकता है :

$$p\gamma = wN + \pi\, pK, \qquad (1''')$$

जिसमें γ शुद्ध राष्ट्रीय निपज, N रोजगार-प्राप्त श्रम का परिमाण, K उपर्युक्त पूंजीगत उपकरणों का परिमाण, p निपज एवं पूंजीगत उपकरणों का औसत मूल्य, w मजदूरी की मौद्रिक दर और π वास्तविक पूंजी के वर्तमान स्टाक के सामान्य प्रयोग के लिए आवश्यक कुल लाभ की दर (सूद की दर को सम्मिलित करते हुए) हैं। समीकरण $(1''')$ के दोनों पक्षों को औसत मूल्य-सूचनांक p से विभाजित करने पर हमें वास्तविक अर्थ में निम्नलिखित वितरण समीकरण प्राप्त होता है :

$$\gamma = \frac{w}{p} N + \pi K, \qquad (2''')$$

जिससे हम लोग लाभ की दर π प्राप्त कर सकते हैं। $\gamma/N = P$ एवं $K/N = \theta$ रखते हुए लाभ की दर को बताने के लिए समीकरण $(2''')$ का निम्नांकित रूप में पुनर्विन्यास किया जा सकता है :

$$\pi = \frac{\gamma - \frac{w}{p}N}{K} = \frac{\frac{\gamma}{N} - \frac{w}{p}}{\frac{K}{N}} = \frac{P - \frac{w}{p}}{\theta} \qquad (3''')$$

जिससे यह स्पष्ट होता है कि लाभ की दर श्रम की उत्पादकता (P), वास्तविक मजदूरी की दर (w/p) एवं पूंजी-श्रम अनुपात (θ) तकनीकी सम्बन्ध पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, लाभ की दर को पूंजी के शुद्ध प्रतिफल की दर $(P-w/p)$ के साथ प्रत्यक्ष रीति से तथा पूंजी की तीव्रता के गुणक (θ) के साथ प्रतिलोमतः परिवर्त्तित होने के योग्य है।

यह मान लिया जाता है कि उद्यमकर्त्ता लाभ को अधिकतम बनाने की निम्नांकित दशा की पूर्ति करते हैं :

$$\frac{d\left(\frac{p-\frac{w}{p}}{\theta}\right)}{d\theta} = o \qquad (4''')$$

उत्पादन फलन के रहने पर।

$$\Upsilon = F\ (N, K), \qquad (5''')$$

जिस K/N को स्थिर मान लिया जाता है (थोड़े समय के लिए) और जहाँ Υ को K एवं N से सन्निकटतम सजातीयता का सम्बन्ध मान लिया जाता है, पैमाने के स्थिर प्रतिफल के रूप मे आगे चलकर हम लोग इस उत्पादन फलन की परिवर्तनीयता पर विचार करेंगे। समीकरण (5''') वितरण-समीकरण 1''') का उत्पादन-प्रतिरूप है। व्ययपक्ष की ओर से,सतुलन की स्थिति मे, शुद्ध वास्तविक राष्ट्रीय आय, वास्तविक उपभोग व्यय (C) एव शुद्ध वास्तविक निवेश (I) के बराबर अवश्य होगा :

$$\Upsilon = C + I;\ S = I, \qquad (6''')$$

जो वास्तव मे केन्स का प्रचलित आय-व्यय अथवा बचत-निवेश-समीकरण है। यहाँ उपभोग (C) एव बचत (S) राष्ट्रीय आय से लिये गये है, अतएव इन्हे रॉबिन्सन की मान्यताओं से संगत रूप मे इस प्रकार मे परिवर्तित करना अनिवार्य है :

$$C = Cn = \frac{w}{p}N, \qquad (7''')$$

एव

$$S = Sk = \pi K, \qquad (8''')$$

यहाँ Cn मजदूरी के रूप मे प्राप्त आय मे से उपभोग व्यय है और Sk लाभ के रूप मे प्राप्त आय मे से बचत है। जहाँ तक शुद्ध निवेश का सम्बन्ध है इसे केवल वास्तविक पूँजी मे वृद्धि के रूप मे परिभाषित किया जाता है ·

$$I = \Delta K \qquad (9''')$$

समीकरण (8''') एव (9''') को ध्यान मे रखते हुए हम लोग समीकरण (6''') के द्वारा व्यक्त निवेश-सम्बन्ध निम्नांकित प्रकार से पुनः लिख सकते हैं .

$$\Delta K = \pi K, \qquad (10''')$$

जिसमे तथा समीकरण (3''') को ध्यान मे रखते हुए हम लोगो को पूँजी मे वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्त होती है

$$\frac{\Delta K}{K} = \frac{\pi K}{K} = \pi = \frac{p-\frac{w}{p}}{\varphi} \qquad (11''')$$

समीकरण (11''') द्वारा दी गयी पूंजी में वृद्धि की दर वह दर है, जिसे जॉन रॉबिन्सन के अनुसार उद्यमकर्त्ता पूँजीवादी खेल के नियमो का अनुकरण कर प्राप्त

करते हैं। समीकरण (11″) यह बतलाता है यदि पूँजी का शुद्ध प्रतिफल (P-w/p) श्रम-निपज अनुपात से अधिक अनुपात में बढ़ता है, तो पूँजी में वृद्धि की दर वृद्धि-क्षम्य होगी। रिकार्डो के शब्दों में, इसका तात्पर्य यह है कि जब तकनीकी स्थिति पूर्ववत् रहती है (हम लोगों के उदाहरण में P एवं θ स्थिर रहते हैं) तो वास्तविक मजदूरी की दर ह्रास से पूँजी का संचय प्रबल तथा वास्तविक मजदूरी की दर में वृद्धि से कमजोर होता है। अतः, ऐसा जान पड़ता है कि जॉन राबिन्सन ने हम लोगों को केन्स के माध्यम से, पुनः डेविड रिकार्डो के आर्थिक-विकास के सिद्धान्त पर वापस ला दिया है। इस सम्बन्ध में आगे हम कुछ कहेंगे।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि राबिन्सनीयन विचारधारा में पूँजी में वृद्धि की दर उन बातों पर निर्भर करती है, जो लाभ की दर (π) का निर्धारण करती है। यहाँ 'अन्य बातों' से शायद वास्तविक मजदूरी की दर (w/p) श्रम की उत्पादकता (P) तथा पूँजी-श्रम अनुपात (θ) के तकनीकी सम्बन्ध का बोध होता है।

अब जॉन रॉबिन्सन के श्रम के पूर्ण रोजगार एवं पूँजी के पूर्ण उपयोग के स्वर्णयुगीय संतुलन की धारणा पर विचार किया जाए। इस संतुलन के लिए आवश्यक एक आधारभूत शर्त को इस प्रकार से देख सकते हैं। पूर्ण रोजगार एवं पूर्ण प्रयोग की स्थिति में K/N=θ को स्थायी मानते हुए पूर्ण नियुक्त श्रम की मात्रा में वृद्धि △N=△K/θ के द्वारा दी जा सकती है। इस अति सम्बन्ध से हमें पूर्ण नियुक्त श्रम में वृद्धि की दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle N}{N} = \frac{\triangle K/\theta}{N} = \frac{\triangle K/\theta}{K/\theta} = \frac{\triangle K}{K}, \qquad (12''')$$

जिससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्ण नियुक्त श्रम में पूँजी में वृद्धि की दर के समान ही वृद्धि होती है। साथ ही, इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जब पूँजी-श्रम-अनुपात (θ) स्थायी रहता है, तब पूँजी में भी इतनी तेजी से वृद्धि होनी चाहिए, जितनी तेजी से श्रम की संख्या में वृद्धि होती है। निपज के सम्बन्ध में श्रम की पूर्ति के पूर्ण-तथा लोचदार होने पर, समीकरण (12″) पूँजी एवं श्रम दोनों की पूर्ण नियुक्ति के स्वर्णयुगीय संतुलन को स्पष्ट करता है।

तब जॉन रॉबिन्सन यह प्रश्न उठाती हैं कि यदि किसी कारणवश अर्थ-व्यवस्था इस स्वर्णयुगीय संतुलन से विचलित हो जाय, तो इसे ठीक करने के लिए क्या इसके पास कोई संतुलनकारी यंत्र उपलब्ध है ? मान लिया कि अर्थ-व्यवस्था ने विषम मार्ग ग्रहण कर लिया है तथा इसक विषमता निम्नाँकित प्रकार से स्पष्ट होती है :

$$\frac{\triangle K}{N} 7 \frac{\triangle N}{K},$$

यानी अधिकाश अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की तरह श्रम संख्या पूंजी-संचय से अधिक तीव्र गति से बढ रही है। ऐसी स्थिति में अर्थ-व्यवस्था पुन. स्वर्ण-युगीय सतुलन की स्थिति मे आ सकती हैं अथवा नही, यह जॉन रॉबिन्सन के अनुसार लाभ-मजदूरी सम्बन्ध के आचरण पर निर्भर करता है। उपर्युक्त विषमता में अतर्हित, प्रगतिशील पूर्ण रोजगारी सन्निहित श्रम के आधिक्य द्वारा सतुलनकारी यंत्र के निर्माण से दूर हो जा सकती है। किन्तु, यह एक बहुत बड़ी 'यदि' है; क्योंकि लाभ-मजदूरी-सम्बन्ध सतुलनकारी तरीके का आचरण रख सकता है अथवा नही भी। वास्तव मे, यह बाजार की परिस्थितियो (प्रतियोगात्मक एव एकाधिकारी), मजदूरी के जीवन-निर्वाह दर की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति, एवं स्वतन्त्र तकनीकी सभावनाओ पर निर्भर करता है। तकनीक की दी हुई स्थिति मे, श्रम के उपर्युक्त आधिक्य से शीघ्र अथवा बाद मे नकद मजदूरी की दर (w) मे कमी होती है। यदि सामान्य मूल्य (p) स्थायी रहे, जैसा कि एकाधिकार-प्रधान अर्थ-व्यवस्था मे होता है, तो नकद मजदूरी की दर मे इस कमी से वास्तविक मज़दूरी की दर (w/p) मे भी कमी होगी। इस प्रकार यदि वास्तविक मजदूरी की दर घट जाय, तो जैसा कि समीकरण तब (11''') से स्पष्ट है, पूंजी की वृद्धि की दर मे लाभ की दर पर वास्तविक मजदूरी मे कमी के बढते हुए प्रभाव के माध्यम से वृद्धि हो सकती है। सम्भव है कि पूंजी मे वृद्धि की दर बढ कर श्रम सख्या मे वृद्धि की स्थायी दर के बराबर हो जाय, जिससे कि $\triangle K/K = \triangle N/N$ हो जाय। दूसरी ओर, मजदूरी के जीवन-निर्वाह स्तर के अतराक्षेप अथवा सामान्य मूल्य मे नकद मजदूरी के अनुपात मे ही कमी के कारण वास्तविक मजदूरी की दर मे ह्रास हो जाय (जैसा कि दीर्घकाल मे प्रतियोगात्मक बाजार में होता है) तो सन्निहित श्रम का आधिक्य सतुलनकारी यत्र का निर्माण नही कर सकता तथा प्रगतिशील अपूर्ण रोजगारी दूर नही हो सकती। यह अतिम सम्भावना हैरोड की अनिश्चित अस्थिरता की धारणा से मिलती-जुलती है। हैरोड की यह धारणा तकनीकी गुणाको की स्थिरता एव साधनो की सापेक्ष मूल्य-गतियों की मान्यता पर आधृत है।

इसका ठीक विलोम पूंजी-सचय के श्रम-सख्या से अधिक तेजी के साथ बढने की स्थिति, जैसा कि अधिकाश विकसित देशो मे सत्य होता है। फिर भी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की तुलना मे विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के स्वर्णयुगीय सतुलन के पथ पर लौटने की सम्भावना अधिक है। इसके कारण जे० शुम्पीटर के आर्थिक विकास के सिद्धान्त के पाठको (जॉन रॉबिन्सन को सम्मिलित करते हुए) के लिए बिल्कुल स्पष्ट हैं। क्योंकि, यद्यपि वास्तविक मजदूरी की दर अनम्य थी, फिर भी श्रम की उत्पादकता (p) अथवा पूंजी श्रम अनुपात (θ) में परिवर्तन इस प्रकार हो सकता है, जिससे लाभ की दर मे वृद्धि हो और जिसके परिणामस्वरूप ... मे वृद्धि की दर मे भी सतुलनकारी तरीके से वृद्धि (अथवा कमी) हो। समी-

करण (11''') से यह स्पष्ट है। यहीं जॉन रॉबिन्सन अपने आधारभूत मॉडल से भी आगे चली जाती हैं, तथा रिकार्डो की अपेक्षा शुम्पीटर से अधिक समीप हो जाती हैं। यहीं हमें समीकरण (5''') द्वारा अभिव्यक्त उत्पादन-फलन पर भी पुनर्विचार करना चाहिए। यदि श्रम की उत्पादकता ($Y/N=p$) में उसी पूंजी-श्रम-अनुपात ($K/N=\theta$) के लिए वृद्धि हो जाय अथवा यदि पहले के उसी मूल्य के लिए बाद के अनुपात में कमी हो जाय, तो सम्पूर्ण उत्पादन-फलन ऊपर की ओर स्थानांतरित हो जाएगा। तकनीकी गुणांकों में उन परिवर्तनों को बाज़ारगत परिस्थितियों से स्वतंत्र समझना शुम्पीटर की भावना के अनुरूप है। इसी भावना से जॉन रॉबिन्सन भी तकनीकी परिवर्तनों पर विचार करती हैं। समीकरण (11''') यह बतलाता है कि किसी स्थायी पूंजी-श्रम अनुपात ($\theta=\theta$) के लिए यदि श्रम की उत्पादकता (P) में वास्तविक मजदूरी की दर की अपेक्षा अधिक तेजी में वृद्धि होती है, तो पूंजी की वृद्धि की दर में भी वृद्धि होगी। साथ ही, यदि पूंजी-श्रम अनुपात (θ) में W/p एवं p, में सहगामी परिवर्तनों के बगैर कमी हो जाय तो भी पूंजी में वृद्धि की दर में और अधिक वृद्धि हो सकती है। पूंजी की गहनता के गुणांक में कमी के साथ-साथ दी हुई वास्तविक मजदूरी की दर की तुलना में श्रम की उत्पादकता में अधिक कमी होने पर कठिनाई उपस्थित हो सकती है। इसका संभावित परिणाम यह होगा कि पूंजी में वृद्धि की दर में वृद्धि के बजाय कमी होगी, उत्पादन की कम पूंजी वाली अथवा चक्रदार तरीके का प्रतिनिधित्व करती है, जो अन्यथा श्रम की उत्पादकता तथा वास्तविक मजदूरी में वृद्धि कर सकती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि समान अनुपात ही इस प्रकार देखने से, समीकरण (11''') के सम्बन्ध में वर्णित 'रिकार्डो का प्रभाव', परिवर्त्ती टेक्नोलॉजिकल प्राचलों से युक्त अधिक सामान्य स्थिति की एक विशिष्ट स्थिति है।

हैरोड तथा डोमर के साथ जॉन रॉबिन्सन के मॉडल को निम्नांकित प्रकार से देखा जा सकता है : समीकरण (2''') को ध्यान में रखकर तथा पुनर्व्यवस्थित करते हुए, समीकरण (3''') को पुनः इस प्रकार से लिखा जा सकता है :

$$\pi = \frac{Y - \frac{w}{p}N}{K} = \frac{Y}{K}\left(\frac{Y - \frac{w}{p}N}{Y}\right), \qquad (13''')$$

जो यह बतलाता है कि लाभ की दर के पूंजी की उत्पादकता ($\gamma/K=\sigma$) के अनुपातिक होने के लिए राष्ट्रीय आय $[\gamma-(W/p)N]/\gamma$ में लाभ के हिस्से के गुणा होता है। चूंकि $S=\pi K$ और $[\gamma-(w/p)N]/\gamma=\pi K/\gamma=S/\gamma=S$ और चूंकि $b=I/\sigma$, अतएव

$$\frac{\Delta K}{K}=\pi=\sigma S,\ I/c \text{ (डोमर) अथवा } =\frac{s}{b} \text{ (हैरोड)}। \qquad (14''')$$

इस प्रकार जॉन रॉबिन्सन का मॉडल सारतः हैरोड तथा डोमर के मॉडलो के ही समान है। फिर भी, इनमे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जॉन रॉबिन्सन पूँजी-संचय को स्पष्टत लाभ-मजदूरी सम्बन्ध (π एव w/p) तथा श्रम की उत्पादकता (p) पर आश्रित मानती है। इस तरह, वे अपने सिद्धान्त को वास्तविक बाजारगत अर्थ-व्यवस्था के बिलकुल समीप ला देती है। इसके विपरीत, मुख्यतः केन्स के तरीके से, हैरोड *तथा डोमर पूँजी-सचय को बचत-अनुपात (अथवा इसके व्युत्क्रम)* पर *आधृत* मानते हैं जो पूँजीवाद अथवा समाजवादी सभी अर्थ-व्यवस्थाओ में लागू होता है। साथ ही, यह महत्त्वहीन नही है कि जॉन रॉबिन्सन पूँजी सचय के प्रश्न पर मुख्यत श्रम के दृष्टिकोण से तथा हैरोड एव डोमर पूँजी के दृष्टिकोण से विचार करते हैं। इस प्रकार जब जॉन रॉबिन्सन 'पूँजीवाद खेल के नियमो' के द्वारा पूँजी-संचय की चर्चा करती है, तो उनके कथन का यही तात्पर्य जान पडता है कि पूँजी के मूल्य (प्राय. शुद्ध रूप से आय की दर) एव श्रम की उत्पादकता की तुलना मे श्रम के मूल्य मे (वास्तविक मजदूरी की दर) मे कमी के बगैर व्यक्तिवादी, पूँजीवाद सार-भूत रूप मे विकसित नही कर सकता। यह उसके कहने का तरीका हो सकता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को विशुद्ध रूप मे पूँजीवादी खेल के नियमो का अनुकरण करना उचित नही होगा। इनके लिए स्वतत्र निवेश (जिसमे शुम्पीटर की तरह के नवीन क्रियात्मक निवेश भी शामिल होगे) को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से वित्तीय एव मौद्रिक नीतियों से युक्त केन्स की मिश्रित राजकीय एव निजी अर्थ-व्यवस्था के तकनीक को अपनाना अधिक उचित होगा।

केन्सोत्तर विकास अर्थशास्त्र मे जॉन रॉबिन्सन की प्रधान देन यह जान पडती है कि उन्होने सस्थापक मूल्य एव वितरण सिद्धान्त तथा केन्स के आधुनिक बचत एव निवेश-सिद्धान्त को एक सलग्न प्रणाली मे समाकलित कर दिया है। किन्तु, जहाँ तक नीति के प्रयोग का सम्बन्ध है, यह उनका प्रधान दोष भी जान पड़ता है। क्योंकि, हैरोड एव डोमर के मॉडलों की भाँति वित्तीय एव मौद्रिक नीति प्राचलो को प्रस्तुत करने के लिए जॉन रॉबिन्सन का मॉडल तब तक सुधार के योग्य नही है, जब तक कि श्रम की उत्पादकता, मजदूरी की दर, लाभ की दर तथा पूँजी-श्रम अनुपात को पूर्णतया आयोजित अर्थ-व्यवस्था की तरह व्यावहारिक नीति का उद्देश्य नही समझा *जाय। साधनों के सापेक्ष मूल्य के प्राचलीय कार्य के द्वारा आय* के पुनर्वितरण (लाभ एवं मजदूरी के बीच) को लाने तथा इस प्रकार पूँजी-सचय को जनसख्या की वृद्धि से समायोजित होने देने के बजाय, कोई भी व्यक्ति वित्तीय नीतियो के द्वारा आय के पुनर्वितरण अथवा जनसख्या मे वृद्धि को पूँजी मे दी हुई वृद्धि के साथ समायोजित करना अधिक पसन्द कर सकता है। फिर भी, जॉन रॉबिन्सन का सिद्धान्त विशुद्ध पूँजीवादी खेल के नियमो के अनुसार पूँजी-सचय की मौलिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे

हमारी जानकारी को और तीव्र बनाता है। अंततोगत्वा, जॉन रॉबिन्सन के संतुलनकारी यंत्र के गुणकारी होने अथवा नहीं होने की व्याख्या को ध्यान में रखते हुए, यह कहा जा सकता है कि इनका विकास-सम्बन्धी मॉडल, यद्यपि स्थायी संतुलन का साधन प्रस्तुत करने योग्य है, तथापि इस सारभूत रूप में, हैरोड एवं डोमर की अवैध नीति वाली अर्थ-व्यवस्था के मॉडलों की तरह ही अस्थायित्व है।

अध्याय ७

आर्थिक विकास में टेक्नोलॉजिकल भूमिका

आर्थिक प्रगति के लिए पूंजी-सचय के ठीक बाद टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति कारणात्मक महत्त्व की है । आदमस्मिथ ने राष्ट्रों की सम्पत्ति मे अभिवृद्धि के आधार के रूप मे विशेषज्ञता पर जोर दिया था । मार्क्स ने टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति को पूंजीवादी विकास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना था । बाम बर्क (Bohm-Bawerk) ने उत्पादन के चक्रदार तरीको को औद्योगीकरण के समरूप बतलाया था । शुम्पीटर ने ऐतिहासिक विकास की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया की व्याख्या मुख्यत' नवीन क्रिया के रूप मे की थी । केन्स ने भविष्य मे एक ऐसी अर्द्ध-स्थायी स्थिति की भविष्यवाणी की थी, जिसमे परिवर्तन तथा प्रगति केवल तकनीक, रुचि, जनसख्या एव सस्थाओ मे परिवर्तन के ही परिणामस्वरूप होगे । इन सभी अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक एव सामाजिक विकास मे टेक्नोलॉजी-सबधी प्रगति के कारणात्मक महत्त्व पर अतर्दृष्टि की विभिन्न मात्रा के साथ जोर दिया था । हैरोड और डोमर से प्रारम्भ करने पर हम देखते है कि आर्थिक विकास मे महत्त्व का साकेतिक स्थानान्तरण टेक्नोलॉजिकल भूमिका के अधिक व्यावहारिक उपचार की ओर हो गया है । फिर भी, ये लोग टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी स्थायी प्रचालन, जो विभिन्न समय एव स्थानो के विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करने के लिये विश्लेषणात्मक दृष्टि से असुविधाजनक होते है, को आधार मानकर, 'तटस्थ टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी अग्रवर्तिता' की अभिधारणा करते हैं । जॉन रॉबिन्सन ने अपने उत्तेजक, 'नोट्स आफ दि इकनामिक्स आफ टेकनिकल प्रोग्रेस' मे विकास-विश्लेषण के टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी अधिक लचीले प्राचलन को बतलाया है; क्योंकि विभिन्न अनुपातो को रखने के आशय पर भी विचार करना अधिक शिक्षाप्रद होगा ।[1] तथापि ये तथा आर्थिक विकास के अन्य लेखकगण मुख्यतः टेक्नोलॉजी के माँग-पक्ष के साथ अभिरुचि रखते है और उसकी उत्पादकता-पक्ष के साथ

---

1. देखिए, इनकी 'दि रेट ऑफ इन्टरेस्ट, एट्सेट्रा' पृ० 63 ।

इनका सम्बन्ध-मात्र प्रसंगवश रहता है।[1] ऐसा इसलिए है कि ये टेक्नोलॉजी की दृष्टि से पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं की विकास-सम्बन्धी समस्याओं से सम्बद्ध न होकर विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की स्थायित्व की समस्या में पहले से व्यक्त हैं।

वर्तमान अध्याय का उद्देश्य अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं पर ग़ैर-तटस्थ टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रभावों का विश्लेषण तथा साथ ही, अंतर्गत टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी नम्य प्राचलों पर इसके विभिन्न प्रभावों को स्पष्ट करना है।

श्रम की उत्पादकता पर टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रभाव

सर्वप्रथम शुद्ध राष्ट्रीय निपज पर श्रम बचाने एवं श्रम प्रयोग करने के तकनीक के प्रभावों का विश्लेषण किया जाएगा। इन्हें अपनाये जाने के विशेष कारणों पर बाद में विचार किया जायगा। इसके लिए हम ग़ैर-श्रम उत्पादक साधनों, मजदूरी दर-सहित साधनों के सापेक्ष मूल्य एवं जनसंख्या की वृद्धि तथा समर्थ माँग की दशाओं को दिया हुआ मान लेंगे। इन मान्यताओं के आधार पर निपज को श्रम की मात्रा एवं उत्पादकता का एक अद्वितीय कार्य (फंक्शन) माना जा सकता है। इनमें से श्रम की उत्पादकता टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी परिवर्तनों को परिलक्षित करती है।

मूल सम्बन्ध

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर, निपज में निम्नलिखित के बराबर वृद्धि होगी :

$$\triangle Y = p \triangle N \qquad (1)$$

जिसमें Y पूर्णरोजगार से निस्सरित संभाव्य निपज है, N पूर्ण रोज़गार की स्थिति में श्रम की मात्रा तथा p टेक्नोलॉजी की प्रचलित स्थिति के द्वारा निर्धारित श्रम की औसत एवं सीमांत उत्पादकता है। यह वही श्रम की उत्पादकता है, जिसे दिखलाया जाएगा कि यह श्रम बचाने तथा श्रम के प्रयोग करने सम्बन्धी तकनीकों की अनुक्रिया अनुरूप कालान्तर में बदलती रहती है। यहां केवल इतना ही कहना

---

1. माँग-सम्बन्धी पहलू से पूर्वग्राह्यता के आदर्श उदाहरण के लिए देखें—जे० डुसेनबरी (J. Duesenberry) का मई, 1956 ई० में "**अमेरिकन इकानामिक रिव्यु**" में "**इनोवेशन एंड ग्रोथ**"। इस प्रकार की पूर्व-ग्राह्यता की आलोचना के लिए एच० आर० बोवेन का दिसम्बर, 1954 के "**अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यु**" में प्रकाशित "**टेक्नोलॉजिकल चेन्ज एंड एग्रीगेट डिमांड**" देखें। दूसरी ओर, जापानी अर्थशास्त्रियों की टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी व्याख्या, जैसे वाई० ताकटा द्वारा संपादित "**स्टडीज इन ग्रोथ इकानामिक्स**" में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए बहुत सी शिक्षाप्रद बातें मिलतीं हैं।

पर्याप्त है कि, नियमत तथा औसत रूप मे, टेक्नोलॉजी की दृष्टि से विकसित अर्थ-व्यवस्था मे p उच्च तथा टेक्नोलॉजी की दृष्टि से पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्था में p निम्न होती है।

अब पूर्ण नियुक्त श्रम-सख्या मे वृद्धि एव पूर्ण रोजगार-निपज के अनुपात को v के समरूप करने पर निम्नांकित निष्कर्ष प्राप्त होता है '

$$\frac{\triangle N}{Y} = v \tag{2}$$

समीकरण (2) मे दिया गया अनुपात जनसख्या की वृद्धि को बतलाता है तथा जनसख्या की वृद्धि के साथ ही इसकी गति मे भी परिवर्तन होता है। यह प्रकल्पना की जा सकती है कि जनाधिक्य वाली अर्थ-व्यवस्था में v बड़ा तथा कम आबादी वाली अर्थ-व्यवस्था मे v छोटा होता है।

(1) और (2) से हमे पूर्णरोजगार-निपज मे वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्त होती है ·

$$\frac{\triangle Y}{Y} = pv, \tag{3}$$

जो यह स्पष्ट करता है कि पूर्ण रोजगार निपज मे pv की दर से वृद्धि होती है। और pv की दर टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति और जनसख्या की वृद्धि पर निर्भर करती है।

चूँकि, श्रम की उत्पादकता श्रम-निपज अनुपात का उलटा भी है, $p=1/a$ (जहाँ $a=N/Y=\triangle N/\triangle Y$), हम लोग पूर्ण-रोजगार मे वृद्धि की दर को वैकल्पिक रूप मे निम्नलिखित प्रकार से भी व्यक्त कर सकते हैं :—

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \frac{I}{a} v = \frac{v}{a}, \tag{4}$$

जो अब यह दिखलाता है कि जब अतिरिक्त श्रम-सख्या एव पूर्ण रोज़गार-निपज का अनुपात अपरिवर्तित रहता है, तो पूर्ण रोजगार-निपज की वृद्धि की दर में श्रम-निपज अनुपात (a) मे परिवर्तन के ठीक विपरीत परिवर्तन होता है।

टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी परिवर्तनो के प्रभावो को पृथक् करने के लिए हम लोग यह मान लेते है कि पूर्ण नियुक्त श्रम की सख्या एवं निपज का अनुपात कालान्तर मे स्थायी रहता है, यानी समय का अपरिवर्ती फलन होता है :

$$v = vt = \bar{v}. \tag{5}$$

तो भी जैसा कि हम लोग देखेंगे, टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी परिवर्तनो की प्रचलित प्रकृति एव दिशा के प्रत्युत्तर मे श्रम-निपज अनुपात परिवर्तनाश्रित होता है।

श्रम-बचाने के तकनीकों का प्रभाव

साधनों का सापेक्ष मूल्य दिया हुआ रहने पर, हम लोग उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में श्रम बचाने अथवा श्रम लगाने वाली टेक्नोलॉजी के प्रयोग को स्वतन्त्र रूप से दिया हुआ, यानी उन्हें बाजारगत परिस्थितियों से स्वतंत्र मान सकते हैं। फिर भी हम लोग आगे चलकर श्रम-बचाने अथवा श्रम-उपयोग करने वाले तकनीकों को अपनाने के आर्थिक एवं टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी कारणों की खोज करेंगे। श्रम-बचाने वाले तकनीक की प्रकृति को इस प्रकार से देखा जा सकता है : यदि श्रम-निपज अनुपात श्रम-पूंजी अनुपात एवं निपज-पूंजी अनुपात का परिणाम है, यानी $N/\gamma = (N/K)/(\gamma/K)$, और यदि पूंजी की उत्पादकता (γ/K) को स्थायी माना जाय, तो दी हुई पूंजी की तुलना में श्रम की मात्रा में कोई कमी से (निम्न N/K) श्रम-निपज अनुपात में कमी (निम्न N/γ) होगी। अतएव, एक दिये हुए उत्पादन फलन में प्रति इकाई पूंजी के श्रम की मात्रा के घटाने के लिए सभी अन्वेषण एवं नवीन क्रिया को श्रम बचाने का साधन समझा जा सकता है।

यह मानते हुए कि N/K एवं इसके परिणामस्वरूप N/γ में अपरिवर्त्ती ह्रास को रोकने के लिए कोई बाधा-जनक अथवा खिसकाने वाली शक्ति नहीं, हम लोग कालान्तर में श्रम-निपज अनुपात $(a = N/Y)$ को ga की स्थायी दर से घटने दे सकते हैं :

$$a = at = \frac{ao}{(I+ga)t'} \tag{6}$$

जिसमें at समय के फलन के रूप में गत्यात्मक श्रम-निपज अनुपात है, ao उस अनुपात का प्रारम्भिक मूल्य है और ga उस अनुपात के ह्रास की स्थायी दर है। समीकरण (6) में निम्नलिखित अनुक्रम अंतर्निहित है :

$$\begin{aligned} ao &= e, \\ a_1 &= ao/(I+ga) = e/(I+ga), \\ a_2 &= a_1/(I+ga) = e/(I+ga)^2, \\ a_3 &= a_2/(I+ga) = e(I+ga)^3, \end{aligned}$$

इत्यादि, इत्यादि।

(5) एवं (6) को ध्यान में रखते हुए एवं $\Delta\gamma/\gamma$ को Gn से निर्दिष्ट करते हुए समीकरण (4) को पुनः सूत्र के रूप में निम्नांकित प्रकार से वर्णन किया जा सकता है :

$$Gn = \frac{\bar{v}}{ao/(1+ga)t,} \tag{7}$$

जो यह बतलाता है कि कालान्तर मे जैसे-जैसे श्रम-निपज अनुपात घटता है, वैसे-वैसे पूर्ण रोज़गार-निपज की वृद्धि की दर विपरीततः बढने मे सक्षम होती है। दूसरे शब्दो मे, अतिरिक्त श्रम एवं निपज का स्थायी अनुपात ($vt = \bar{v}$) दिये रहने पर श्रम की बढ़ती हुई उत्पादकता ($pt = w/I/at$) के प्रभावस्वरूप Gn, मे वृद्धि होती है।

श्रम-उपयोग के तकनीको का प्रभाव

दूसरी ओर, मान लें कि श्रम-उपयोग करने वाले तकनीकों को इस प्रकार अपनाया जाता है कि कालान्तर मे श्रम-निपज अनुपात मे ga की स्थायी दर से घातीय सम्बन्ध के अनुसार वृद्धि होती है ·

$$a = at = ao\ (1+ga)^t, \qquad (8)$$

जिसमें ga अब श्रम-निपज अनुपात मे वृद्धि की स्थायी दर को स्पष्ट करता है। समीकरण (8) पृथक् गतियों को बतलाता है जो निम्नांकित प्रकार से परिभाषित किये जाते है :

$$ao = e\ ,$$
$$a_1 = ao\ (I+ga) = e\ (I+ga),$$
$$a_2 = a_1\ (I+ga) = e\ (I+ga)^2,$$
$$a_3 = a_2\ (I+ga) = e\ (I+ga)^3,$$

इत्यादि, इत्यादि।

(5) एव (8) को ध्यान मे रखते हुए समीकरण (4) को पुन. इस प्रकार से लिखा जा सकता है ·

$$Gn = \frac{v}{ao\ (I+ga)t}, \qquad (9)$$

जो यह बतलाता है कि स्थायी v के दिये रहने पर कालान्तर मे श्रम-निपज अनुपात मे जैसे-जैसे वृद्धि होती है, वैसे-वैसे पूर्ण रोजगार निपज की अवधि की दर विपरीततः घटने में सक्षम है। दूसरे प्रकार से इसे यो कहा जा सकता है कि जब अतिरिक्त श्रम एवं निपज का अनुपात स्थायी रहता है, तो घटती हुई उत्पादकता के परिणामस्वरूप Gn में ह्रास होता है।

नीति प्राचल के रूप में श्रम-निपज अनुपात

यदि हम लोग उस गौरव-पूर्ण स्थिति को अपनाते हैं, जिसे टी० हैबलो[1] ने एक स्थान पर अपनाया है कि टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्राचल वस्तुतः रासायनिक सूत्रो तथा यान्त्रिकी के नियम की अपेक्षा मानवीय पसंद तथा आचरण से अधिक सम्बद्ध है

1. देखें, इनकी पुस्तक 'ए स्टडी इन दि थियरी आफ इकानामिक इवोल्यूशन' पृ० 49।

तो श्रम-निपज को आयोजित हेर-फेर किया जा सकने वाला नीति-प्राचल समझना अधिक लाभदायक है। अब प्रश्न यह है कि श्रम-निपज अनुपात या निपज-श्रम अनुपात को एक ऐसा दिया हुआ तकनीकी आधार जिससे अन्य सभी का अनुकूलन किया जा सके, मानने के वर्तमान श्रम-निपज अनुपात को Gn तथा v के किसी स्वीकृत मान के ही अनुकूल क्यों न किया जाय ? इस प्रश्न का आशय यह सुझाव देना होगा कि तकनीकी प्राचलों को नीति-गत विषय की तरह समझा जा सकता है। चूंकि केवल संयोग के अतिरिक्त वास्तविक श्रम-निपज अनुपात (a') को सदा आपेक्षित या संतुलित (a) के समान होने के पक्ष में कोई परिकल्पना नहीं है, अतएव यथासंभव $a' = a$ के बराबर रखना आवश्यक एवं वांछनीय हो जाता है। तीसरे समीकरण से Gn एवं v के स्वीकृत स्तर के अनुरूप श्रम-निपज अनुपात का अपेक्षित मान मिलता—

$$a = \frac{v}{Gn}, \qquad P = \frac{Gn}{v} \qquad (10)$$

यहाँ पर a एवं p क्रमशः आपेक्षित श्रम-निपज अनुपात एवं श्रम की उत्पादकता हैं। समीकरण (10) से यह स्पष्ट है कि श्रम-निपज अनुपात को पूर्ण रोज़गार निपज तथा अतिरिक्त श्रम एवं निपज के एक दिये हुए आधार के अनुपात के किसी प्रकार के अनुकूलन के लिए तकनीकी परिवर्तनों की प्रकृति एवं दिशा में निश्चित रूप से विचार पूर्वक परिवर्तन करना होगा। दूसरे शब्दों में, यह $a' \neq a$ की विषमता पर विचार करता है।

मान लिया कि औद्योगीकरण की ओर उन्मुख अर्थ-व्यवस्था की भाँति दिये हुए v की तुलना में एक ऊँचे Gn को लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो समीकरण (10) के अनुसार अपेक्षित श्रम-निपज अनुपात में ह्रास अवश्य होगा। इस का आशय यह है कि श्रम की उत्पादकता में वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिए श्रम बचाने वाले उपायों का प्रयोग करना चाहिए। यदि तकनीक की प्रचलित स्थिति के परिणामस्वरूप वास्तव में वृहत् श्रम-निपज अनुपात (a') प्राप्त होता है, तो Gn में उपर्युक्त परिवर्तन से तकनीक में इस प्रकार की उन्नति की आवश्यकता होती है, जिससे वास्तविक श्रम-निपज अनुपात कम होकर अपेक्षित अंक (a) के स्तर तक हो जाय। यह अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की एक विशेष स्थिति हो सकती है। फिर भी, अन्य दिये हुए आधार v में वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम बचाने वाले तकनीकों की जगह श्रम-प्रयोग करने वाले तकनीकों की आवश्यकता की संभावना का अनुमोदन किये बगैर श्रम बचाने वाले उपायों के उपयोग की सिफारिश नहीं की जा सकती। अब मान लिया कि एक जनाधिक्य वाली अर्थ-व्यवस्था की भाँति, एक दिये हुए gn की तुलना में उच्च v स्वीकार्य समझा जाता है। तब इसके परिणामस्वरूप समीकरण

(10) के अनुसार, अपेक्षित श्रम-निपज अनुपात v में उपर्युक्त परिवर्तन के पूर्व की अपेक्षा अधिक है। इस सम्बन्ध में नीति का आशय यह है कि जब तक निपज में वृद्धि की निम्न दर को स्वीकार नहीं किया जाता है, श्रम प्रयोग करने वाले तकनीकों को प्रोत्साहित करना चाहिये। किन्तु तब श्रम प्रयोग करने वाले तकनीकों को अपनाने से श्रम की उत्पादन-क्षमता में कमी आ जाती है। अतएव, एक-जनाधिक्य वाली अर्थ-व्यवस्था में, तीव्र तकनीकी प्रगति की प्रक्रिया में श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने की इच्छा तथा गंभीर बेरोजगारी को टालने की इच्छा में संभावित संघर्ष पाया जाता है।[1] तो भी, यहाँ ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि श्रम-निपज अनुपात को सदा एक दिया हुआ आधार मानने के बजाय, इसे किसी भी तकनीक की दृष्टि से नम्य अर्थ-व्यवस्था में विचारपूर्ण परिवर्तन के योग्य संभावित नीति प्राचल समझना चाहिए। यह हमें श्रम बचाने तथा श्रम को प्रयोग करने वाले तकनीक को अपनाने के लिए प्रभावित करने वाले कतिपय कारणों के सर्वेक्षण की ओर ले जाता है।

श्रम बचाने एवं श्रम का प्रयोग करने वाले तकनीकों पर प्रभाव

श्रम-निपज अनुपात में परिवर्तन की गति, यानी ga जिसे हम लोग स्वतंत्र रूप से दिया हुआ मान लेते हैं, का ठीक-ठीक निर्धारण कठिन है। फिर भी, श्रम बचाने तथा श्रम का प्रयोग करने वाले तकनीकों के चयन के प्रमुख कारणों की निम्नलिखित रूप-रेखा के द्वारा ga के निर्णायकों के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

किसी बाज़ारगत अर्थ-व्यवस्था द्वारा श्रम बचाने के उपायों को अपनाने का सर्वाधिक स्पष्ट कारण यह है कि इनके परिणामस्वरूप श्रम की प्रति-इकाई उत्पादन

1. जापान का एक अर्थशास्त्री इस बात की व्याख्या इस प्रकार करता है : वस्तुत. उत्पादकता में वृद्धि का ताव उत्पादन की प्रक्रिया में अधिक-से-अधिक अतिरिक्त जनसंख्या को खपाने की आवश्यकता से कम-से-कम अस्थायी तौर पर अवमंदित हो जाएगा। जहाँ तक नियुक्त साधनों के अनुपात का सम्बन्ध है, यद्यपि आधुनिक तकनीक को पूर्णत. लोचदार नहीं माना जा सकता, फिर भी जापान में शायद श्रम की उत्पादकता की जगह श्रम-गहन उपायों को अपनाने के कुछ उदाहरण मिल सकते हैं। (देखें, एन० किडमुरा सोपरल प्रोजेक्शन ऑफ दि जैपनीज इकानामी—'ए क्रिटिकल इवैलुयशन, काइक्लोस, IX (2), 1956 किन्तु, जैसा कि जॉन रॉबिन्सन ने बतलाया है 'यदि वस्तुओं तथा पूंजीगत मालों की समर्थ माँग प्रति-व्यक्ति निपज में वृद्धि के अनुसार धीरे-धीरे बढ़ती है, तो श्रम-बचाने वाली नवीन क्रियाओं को अपनाने से तकनीक-मूलक बेरोज़गारी नहीं होती।

लागत में साधारणतया कमी होती है। अतएव, अन्य बातों के यथावत् रहने पर, औसत मजदूरी की दर जितनी ही उच्च होगी, श्रम बचाने के उपायों को पता लगाने तथा अपनाने की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक होगी। संयुक्तराष्ट्र का 'स्वचालन' की ओर झुकाव इसका अच्छा उदाहरण है, किन्तु वहाँ पर श्रम-संगठनों का 'उच्च मजदूरी-आन्दोलन' ही इसका एकमात्र प्रेरक कारण नहीं है। किन्तु, वहां एक अवाजारगत अर्थ-व्यवस्था में सम्भवतः श्रम की प्रति-इकाई वास्तविक आय में वृद्धि अथवा मानवीय नित्यक्रम (वास्तविक लागत) में कमी की सम्भावना पर अधिक जोर दिया जाता है। श्रम बचाने के उपायों को अपनाने का दूसरा संभावित कारण श्रम-विनिमय की प्रभावयुक्त व्यवस्था के अभाव में वर्तमान श्रम की अत्यधिक अगतिशीलता हो सकता है। इस प्रकार की बड़ी एवं वृद्धिशील जनसंख्यावाली अर्थ-व्यवस्थाओं द्वारा भी श्रम बचाने वाले तकनीकों की प्रगति को प्रोत्साहित करने के कारणों की व्याख्या मुख्यतः इस आधार पर की जा सकती है कि संभावित प्राप्य श्रम-शक्ति सदा उचित समय एवं स्थान में नियुक्ति के लिए उपलब्ध नहीं रहती। श्रम-बचाने वाले उपायों को अपनाने का एक दूसरा संभावित कारण यह भी हो सकता है कि पूर्ण रोज़गार की तेजी अल्प रोज़गार की मंदी से बढ़ जाती है, जिससे श्रम बचाने वाले अन्वेषणों एवं नवीन क्रियाओं को अपनाना, विशेषतः जनसंख्या में मंद वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम की पर्याप्त मात्रा में बेलोचदार पूर्ति वाली अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए अनिवार्य एवं लाभदायक हो जाता है। विवृत अर्थ-व्यवस्थाओं में श्रम बचाने वाले तकनीकों के प्रयोग का एक संभावित कारण इनका श्रम बचानेवाले उपायों के अत्यधिक जानकार अर्थ-व्यवस्थाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार के तकनीक को अपनाना उसे आयात करने तथा तकनीक की दृष्टि से विकसित देशों की नकल करने की क्षमता पर निर्भर करता है। अतएव, एक विवृत अर्थ-व्यवस्था में श्रम बचाने के उपायों को अपनाने की दिशा तीव्र गति से बढ़ सकती है। 'मेजी रेस्टोरेशन' के बाद का जापान इसका एक अच्छा ऐतिहासिक उदाहरण है। साधारणतया, श्रम बचाने वाले उपायों से अस्थायी बेरोज़गारी (इस सम्बन्ध में तकनीक मूलक बेरोज़गारी) के रूप में अल्पकालीन हानि की तुलना में अत्यधिक उत्पादकता के रूप में इससे दीर्घकालीन लाभ के सम्बन्ध में जितनी ही अधिक जानकारी होगी, श्रम बचाने वाले आधारों पर नवीन क्रियाकरण की प्रवृत्ति उतनी ही अधिक तीव्र होगी।

जहाँ तक श्रम बचाने वाले उपायों के संभावित कारणों का सम्बन्ध है, इन्हें पता लगाना प्रवीणता के इस युग में और भी कठिन कार्य है। श्रम बचाने वाले तकनीक को अपनाने की क्लासिक स्थिति का निर्माण तकनीक-मूलक बेरोज़गारी के सर्वज्ञात भय से किया जाता है। किन्तु रोज़गार के लिए श्रम-प्रयोग करने वाले तकनीकों को स्थायी रूप से अपनाने का सुझाव बहुत कम लोग देंगे; क्योंकि उत्पादन-क्षमता का परित्याग किये बगैर बेरोज़गारी को दूर करने के वैकल्पिक उपाय एवं साधन (यानी

अल्पकाल में समर्थ माँग में वृद्धि एवं दीर्घकाल में वास्तविक पूँजी के सचय के द्वारा) उपलब्ध हैं। इसका एक प्रबल कारण यह जान पड़ता है कि उत्पादक, विशेषतः जनाधिक्य वाली अर्थ-व्यवस्थाओं में, ऐसा सोचते हैं कि उत्पादन के श्रम बचाने वाले तकनीकों में उपलक्षित श्रम की निम्न उत्पादन-क्षमता की क्षति-पूर्ति मुख्यतः निम्न श्रम-व्यय के द्वारा हो जायगी। इसी विश्वास पर कार्य करते हुए उत्पादक श्रम-बचाने वाले तकनीकों की तुलना में श्रम-प्रयोग करने वाले तकनीकों को अधिकाधिक मात्रा में अपना सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए श्रम-निपज अनुपात में वृद्धि हो जाती है। इसका एक दूसरा कारण यह भी दिया जा सकता है कि साहसियों के बीच तीव्र प्रतियोगिता के अभाव में वे निम्न तकनीकी योग्यता वाले उपकरणों को अपनाकर भी संतुष्ट हो जाते हैं। किन्तु, यह उन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के साथ लागू नहीं होता जिन्हें भीषण विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है और इस प्रतियोगिता का सामना करने तथा विकास के कार्यों के लिए आवश्यक विदेशी विनिमय प्राप्त करने के उद्देश्य से श्रम बचाने वाले तकनीकों को नहीं अपनाकर श्रम-प्रयोग करने वाले तकनीकों को अपनाने का एक प्रधान कारण उच्च तकनीकी वाले सुप्रवाही उपकरणों को लगाने के लिए कोष (अतः वास्तविक बचत) का सामान्य अभाव जान पड़ता है। साख (यानी मौद्रिक पूँजी) के कार्य (फंक्शन) के रूप में शुम्पीटर का नवीन क्रिया का सिद्धान्त यहाँ प्रासंगिक जान पड़ता है। सामान्य अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि श्रम-प्रयोग-सम्बन्धी तकनीकी प्रगति सर्वत्र श्रम की बढ़ती हुई उत्पादकता की प्रभावशाली प्रवृत्ति की सीमा निर्धारित करती है।

क्षमता-वृद्धि पर टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रभाव

विकल्पतः श्रम को दिया हुआ मानकर, हम लोग क्षमता-निपज की वृद्धि पर टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी आघातों की जाँच-पड़ताल करें। इसके लिए पूँजी की पूर्ति के ब्याज की लोच को शून्य के बराबर मान लेना सुविधाजनक होगा, किन्तु पूँजी-निपज अनुपात के स्थायित्व की सामान्य कल्पना का परित्याग अनिवार्य है। इसके बदले में हम ग़ैर-तटस्थ टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति के सूचक के रूप में लोचपूर्ण पूँजी-निपज अनुपात के आधार पर कार्य करने का प्रस्ताव रखते हैं। औपचारिक विश्लेषण के बाद, हम विभिन्न परिस्थितियों में पूँजी-निपज अनुपात को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

मूल सम्बन्ध

श्रम की उत्पादकता की ही तरह, हम पूर्ण-क्षमता-निपज में वृद्धि की दर के आधारभूत निर्धारण के विश्लेषण से प्रारम्भ करते हैं। वास्तविक पूँजी में वृद्धि के

परिणामस्वरूप निपज में पूर्ववर्णित मान्यताओं के अनुसार निम्नांकित के बराबर परिमाण में वृद्धि होती है।

$$\Delta Y' = \sigma \Delta K, \tag{1'}$$

जिसमें Y' पूर्ण-क्षमता से प्राप्त सम्भावित शुद्ध राष्ट्रीय निपज, या केवल पूर्ण क्षमता निपज है, K पूर्ण नियुक्ति की स्थिति में वास्तविक पूँजी की मात्रा, और δ सम्बन्धित पूँजी की औसत एवं सीमांत उत्पादकता (सीमान्त उत्पादकता की स्थिति में यह शुद्ध निवेश की औसत उत्पादकता को सूचित करता है; क्योंकि $\Delta K = I$) हैं।

पुनः, हम यह मानते हैं कि शुद्ध निवेश एवं उपज में एक निश्चित सम्बन्ध है :

$$\delta = \frac{\Delta K}{Y} = \frac{I}{Y'}, \tag{2'}$$

जिसमें δ बढ़ती हुई पूँजी एवं निपज का अनुपात अथवा जैसा कि पहले कहा गया था 'पूंजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता' है। जैसा कि पहले अध्याय में वर्णित किया गया था, अति अनुकूल मान्यता के आधार पर $\delta = s$ (जहाँ पर s बचत का अनुपात है) होता है। इसी प्रकार की मान्यता के आधार पर हैरोड के मॉडल s स्पष्ट परिवर्त्ती के रूप में दीख पड़ता है। निवेश अनुपात (δ) के लिए स्थायी रहना कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु यह साधारणतया अर्थ-व्यवस्थाओं में उच्च तथा अल्प-विकसित में निम्न होता है।

(1′) एवं (2′) समीकरणों से पूर्ण-क्षमता निपज में वृद्धि की दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\Delta Y'}{K'} = \sigma\delta \tag{3'}$$

जो यह बतलाता है कि पूर्ण क्षमता निपज में वृद्धि की दर पूँजी की उत्पादकता (σ) $\times$ निवेश-अनुपात (δ) के प्रत्यक्ष अनुपात में होती है।

चूँकि पूँजी की उत्पादकता पूँजी-निपज अनुपात के विपरीत है, $\sigma = I/b = K/Y = \Delta K/\Delta Y$, समीकरण (3′) को इस प्रकार से भी लिखा जा सकता है :

$$\frac{\Delta y'}{y'} = \frac{I}{b}\delta = \frac{\delta}{b}, \tag{4'}$$

जो यह बतलाता है कि δ के स्थायी दिया हुआ होने पर, पूर्ण-क्षमता निपज में वृद्धि की दर में पूँजी-निपज अनुपात (b) के ठीक विपरीत अनुपात में परिवर्तन होता है।

स्पष्ट रूप में टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी आघात को उपस्थित करने के लिए हम लोग विशेष रूप से यह मानते हैं कि निवेश अनुपात अचर रूप से समय का फलन है :

$$\delta = \delta_t = \bar{\delta} \tag{5'}$$

इतना तो आवृत्ति-सम्बन्ध, किन्तु तैयारी अभी करनी है। अब उत्पादन क्षमता पर पूंजी बचाने तथा पूंजी उपयोग करने वाले तकनीकों के सभावित प्रभाव का विश्लेषण किया जाएगा।

पूंजी बचाने के तकनीको का प्रभाव

मान लिया कि पूंजी बचाने के तकनीक प्रयोग मे है। यदि इस प्रकार के तकनीको को g_b की स्थायी दर पर अपनाया जाता है, तो पूंजी-निपज अनुपात मे घातीय ह्रास होगा

$$b=b_t=\frac{bo}{(I+g_b)^t} \qquad (6')$$

जिसमें b_t गत्यात्मक पूंजी-निपज अनुपात, bo इस अनुपात का प्रारम्भिक मान तथा g_b इस अनुपात मे ह्रास की दरें है। समीकरण $(6')$ वस्तुत. पूंजी की वृद्धिशील उत्पादकता का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि $\sigma_t=I/b^t$ है। यह निम्नांकित अधोगामी गतियों को सूचित करता है

$$\begin{aligned}
&b_0=c,\\
&b_1=b_0/(I+g_b)=c/(I+g_b),\\
&b_2=b_1/(I+g_b)=c/(I+g_b)^2,\\
&b_3=b_2/(I+g_b)=c/(I+g_b)^3,
\end{aligned}$$

इत्यादि, इत्यादि।

समीकरण $(5')$ एव $(6')$ को $(4')$ मे प्रतिस्थापित करने तथा $\Delta Y'/Y'$ को G_k से निर्दिष्ट करते हुए निम्नांकित प्राप्त होता है :—

$$G_k=\frac{\bar{\delta}}{b_0/(I+gb)_t}, \qquad (7')$$

जो यह बतलाता है कि निवेश-अनुपात (g) के स्थायी रहने पर, पूर्ण-क्षमता निपज-अनुपात मे वृद्धि की दर पूंजी-निपज अनुपात मे दिये हुए समय में कमी के ठीक विपरीत अनुपात मे बढ़ती है।

पूंजी-उपयोग के तकनीको का प्रभाव

अब हम इसकी विपरीत स्थिति की व्याख्या करेंगे जहां मुख्य प्रवृत्ति उत्पादन के पूंजी-उपयोग वाले तकनीको को अपनाने की होती है। इसके कारणो को

अभी स्पष्ट नहीं किया गया है । यदि पूँजी निपज अनुपात में gb की स्थायी दर से वृद्धि होती है, तो हमें उस अनुपात के चक्रवृद्धि ब्याज की वृद्धि प्राप्त होती है :

$$b = b_t = b_0(I+g_b)^t, \qquad (8')$$

जिस में g_b, इस बार, पूँजी-निपज अनुपात की वृद्धि की स्थायी दर को बतलाता है । पहले की ही तरह समीकरण $(8')$ को प्रवर्धित किया जा सकता है :

$$\begin{aligned} b_0 &= c, \\ b_1 &= b_0 \ (I+g_b) = c \ (I+g_b), \\ b_2 &= b_1 \ (I+g_b) = c \ (I+g_b)^2, \\ b_3 &= b_2 \ (I+g_b) = c \ (I+g_b)^3, \end{aligned}$$

इत्यादि, इत्यादि ।

$(5')$ एवं $(8')$ समीकरणों को ध्यान में रखते हुए, समीकरण $(4')$ को परिवर्तित रूप में निम्नांकित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

$$G_k = \frac{\delta}{b_0 \ (I+g_b)^t}, \qquad (9')$$

यह समीकरण यह बतलाता है कि यदि निवेश अनुपात स्थायी रहे, तो पूर्ण-क्षमता निपज में वृद्धि की दर में बढ़ते हुए पूँजी-निपज अनुपात के ठीक विपरीत ह्रास होता है । दूसरे शब्दों में, पूँजी की ह्रासमान उत्पादकता से G_k में दीर्घकालिक कमी उत्पन्न होती है ।

नीति-प्राचल के रूप : पूँजी-निपज अनुपात

श्रम-निपज अनुपात ही की तरह, पुनः संभावित नीति-प्राचल के रूप में पूँजी-निपज अनुपात पर विचार करना भी लाभदायक होगा । समीकरण $(3')$ से G_k एवं δ के दिये हुए मान के अनुरूप अपेक्षित पूँजी-निपज अनुपात प्राप्त होता है :

$$b = \frac{\delta}{G_k}, \ \sigma = \frac{G_k}{\delta}, \qquad (10')$$

जिसमें b एवं σ क्रमशः अपेक्षित पूँजी-निपज अनुपात एवं पूँजी की उत्पादकता हैं । चूँकि अबंध नीति के अंतर्गत पूँजी-निपज अनुपात के वास्तविक मूल्य (b') के इसके अपेक्षित अथवा संतुलित मूल्य (b) से विचलित होने की सम्भावना रहती है, अतएव G_k एवं δ का कोई दिया हुआ स्वीकार्य मूल्य होने पर, $b' = b$ करने के उद्देश्य से, टेकनोलॉजी-सम्बन्धी प्रगति की प्रकृति एवं दिशा को प्रभावित करना सार्व-जनिक नीति के लिए आवश्यक हो जाता है ।

उदाहरण के लिए, यदि एक दिये σ की तुलना मे उच्च G_k आवश्यक एवं वांछनीय होता है, तो समीकरण (10′) के अनुसार अपेक्षित पूंजी-निपज अनुपात मे अवश्य ह्रास होगा। यदि टेक्नोलॉजी की प्रचलित स्थिति उच्च वास्तविक पूंजी-निपज अनुपात को स्थापित करने वाली है, तो उपर्युक्त उदाहरण में उच्च G_k को इच्छित वस्तु के रूप मे स्वीकार करने के लिए वर्तमान पूंजी-निपज अनुपात को G_k एवं σ के स्वीकार्य मूल्य, यानी b अनुपात के सतुलन मूल्य के समरूप जान-बूझकर करना होगा। फिर पूंजी-निपज अनुपात मे कमी, यद्यपि क्षमता-निपज मे विकास की ऊंची दर को सूचित करती है, तो भी इसमे कुछ प्रत्ययात्मक एव व्यावहारिक कठिनाइयाँ अन्तर्ग्रस्त है।

उदाहरण के लिए, संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations) के एक अध्ययन मे यह सुझाव दिया गया है कि एक जनसख्या मे वृद्धि की उच्च दर एवं निम्न बचत दर वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए अपने निवेश-कार्यक्रम मे भारी उद्योगो, जैसे पूंजी-गहन योजनाओ की तुलना मे कृषि जैसी शीघ्र फल देने वाली योजनाओं को प्रधानता देना अधिक उत्तम होगा।[1] कोई इसे केवल दृढ़तापूर्वक यह कहकर टाल सकता है कि भारी उद्योगो का कोई आधारभूत विकल्प नही है, जैसा एन० कालडोर ने किया था, किन्तु फिर भी गड़बड़ी रह ही जाती[2] है जो सिद्धांतत- ठोस नीति के लिए हानिकारक होती है। इस शीघ्र-फल देने वाली योजनाओ को शायद इसलिए श्रेष्ठ समझा जाता है कि ये शीघ्रता के दृष्टिकोण से स्वतः ही अपेक्षाकृत निम्न पूंजी-निपज अनुपात देती है।[3] निश्चय ही यह प्रस्ताव पूंजी-विपन्न, जनाधिक्य वाले एव अल्पविकसित देशों के लिए आकर्षक जान पड़ता है, किन्तु किसी भी प्रकार यह उतना स्पष्ट नही होता कि शीघ्र फल देने वाली एव श्रम-प्रधान योजनाओ की ओर निवेश कार्यक्रम को लगाने का परिणाम निम्न पूंजी-निपज अनुपात होता है। हम अपने सदेह को निम्न प्रकार से सिद्ध कर सकते है।

---

1. यू० एन० इकानॉमिक बुलेटिन फॉर एशिया एड दि फॉर ईस्ट, नवम्बर, 1955, विशेषत: 'प्रोब्लेम्स एंड टेकनिक्स ऑफ इकॉनॉमिक डेवलपमेंट प्लानिंग एड प्रोग्रामिग विद स्पेशल रेफरेंस टू इ० सी० ए० एफ० ई० कोन्ट्रीज'।
2. दिसम्बर, 1956 ई० मे न्यूयार्क मेट्रोपॉलिटन इकोनॉमिक एसोशियेशन की एक बैठक मे, 'इकानामिक डेवलपमेंट इन इंडिया विद स्पेशल रेफरेंस टू सेकंड फाइव ईयर प्लान' नामक भाषण में।
3. यू० एन० पूर्व उद्धृत।

मान लिया कि K वास्तविक पूँजी, N नियुक्त करने योग्य श्रम, γ निपज, K/N पूँजी-श्रम अनुपात, K/γ पूँजी-निपज अनुपात, एवं γ/N श्रम की उत्पादकता हैं। पुनः मान लिया कि K/N पूँजी की गहनता की मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है, जिससे उच्च K/N को 'पूँजी-प्रधान' उद्योग अथवा योजना एवं निम्न K/N को 'श्रम प्रधान' उद्योग अथवा योजना से सम्बद्ध किया जा सकता है। यह प्रस्ताव कि एक निम्न- 'पूँजी-गहन' योजना का परिणाम निम्न पूँजी-निपज अनुपात होता है, केवल तभी सत्य होगा जबकि श्रम की उत्पादकता को पूँजी की तीव्रता से स्वतन्त्र मान लिया जाए। किन्तु, इस अन्तिम मान्यता की स्वीकृति संदेहात्मक जान पड़ती है; क्योंकि अवलोकन एवं अनुभव से यह स्पष्ट होता है कि श्रम की उत्पादकता में औद्योगीकरण में 'पूँजी-गहन' की मात्रा के अनुसार अधिक या कम परिवर्तन होता है। इसे हम लोग पूँजी-निपज अनुपात एवं अन्य टेक्नोलॉजी-सम्बन्धी प्राचलों के निम्न सम्बन्ध के संदर्भ में स्पष्ट कर सकते हैं :

$$\frac{K}{\gamma}=\frac{K/N}{\gamma/N} \qquad (11')$$

जो यह बतलाता है कि पूँजी-निपज अनुपात पूँजी-श्रम अनुपात का प्रत्यक्ष तथा श्रम की उत्पादकता का परोक्ष तरीके से अनुरूप है। समीकरण (11′) से यह स्पष्ट है कि यदि $(K/N)/(\gamma/N)$ अनुपात के भाजक को इसके भाज्य में ह्रास से अप्रभावित मान लिया जाय, तो पूँजी-निपज अनुपात को श्रम-प्रधान उपायों या नवीन क्रिया से समतुल्य समझा जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रम की उत्पादन क्षमता (γ/N) में पूँजी की तीव्रता के गुणक (K/N) से कम अनुपात में वृद्धि के परिणाम-स्वरूप उच्च पूँजी-निपज अनुपात प्राप्त हो सकेगा। अतएव, इस बात की सैद्धान्तिक सम्भावना है कि 'पूँजी-प्रधान' औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप, न कि बावजूद, पूँजी-निपज अनुपात में ह्रास होगा।[1] इस प्रकार विश्लेषण अनुपात

---

1. इस सम्भावना को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित संख्या-सूचक उदाहरण पर विचार करना लाभदायक जान पड़ता है :—

अपनाये गए तकनीक का प्रकार	(1) चक्रदार की स्थिति	(2) श्रम की उत्पादकता	(3) पूँजी-निपज अनुपात	(4) बचत अनु-पात	(5) विकास-दर
	(K/N)	(γ/N)	(K/γ)	(S/γ)	$(\Delta\gamma/\gamma)$
प्रारम्भिक	50/100	10/100	5	0.05	0.01
पूँजी-प्रधान	100/100	25/100	4	0.05	0.0125
श्रम-प्रधान	25/100	4/100	6.25	0.05	0.008

(3) = (1)/(2); (5) = (4)/(3)

मे ह्रास होगा।' इस प्रकार विश्लेषण एवं नीति, दोनों की दृष्टि से पूंजी-श्रम-अनुपात (K/N) एव श्रम की उत्पादकता (γ/N) को केवल परतन्त्र परिवर्ती (K/Y) के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र परिवर्ती ही नही, वरन् एक दूसरे के सम्बन्ध मे अन्योन्याश्रित परिवर्त्ती समझना महत्त्वपूर्ण है।

यह उदाहरण इस सम्भावना को स्पष्ट करता है कि न्यून पूंजी अनुपात वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था भी पूंजी-प्रधान तकनीक को अपना कर अथवा पूंजी-प्रधान औद्योगीकरण को प्रोत्साहित कर (द्वितीय पक्ति की तरह) उच्च विकास दर $(\Delta\gamma/\gamma)$ प्राप्त कर सकती है।

पाठक उपर्युक्त उदाहरण, जो 9 मार्च, 1957 ई० के 'इकॉनामिक वीकली' (भारत) मे प्रकाशित हमारे 'टेक्नीक्स फॉर मैक्सिमम ग्रोथ एण्ड एम्प्लायमेंट' के एक अश के रूप में छपा था, के प्रति श्रीमती जोन रॉबिन्सन तथा श्री ए० के० सेन एव एस० साची की प्रतिक्रिया मे दिलचस्पी ले सकते हैं। अन्य स्थानों में श्रीमती रॉबिन्सन की प्रतिक्रिया तकनीक के चुनाव के सम्बन्ध मे वाद-विवाद की सभात-प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। साथ ही, इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उपर्युक्त उदाहरण से श्रीमती रॉबिन्सन तथा अन्य कहाँ सहमत तथा कहाँ असहमत होते है।

'इकॉनामिक वीकली' (अप्रैल 27, 1957) के अपनी टिप्पणी मे श्रीमती जोन रॉबिन्सन कहती है। 'वे (श्री के० के० कुरीहारा) तीन तकनीक दिखलाते हैं, जिनमे से प्रत्येक में 100 व्यक्ति नियुक्त किये जाते है। इनमे सर्वाधिक पूंजी-गहन तकनीक निवेश की 100 इकाई (अधिक स्पष्ट रूप से, पूंजी) से निपज की 25 इकाई उत्पन्न करता है। दूसरे निपज की 10 इकाई के लिए 50 इकाई निवेश तथा अन्तिम निपज की 4 इकाई के लिए 25 इकाई निवेश चाहता है। इनमे से पहला तकनीक (हम लोगो के सख्या-मूलक उदाहरण मे दूसरी पक्ति प्रत्येक दृष्टिकोण से अन्य दो से श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार का तर्क, उदाहरण के लिए अम्बर चरखा के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है, जिसका एक सूत कातने वाले कारखाने की तुलना मे दोनो प्रति व्यक्ति तथा प्रति इकाई निवेश से कम उत्पादन होता है, किन्तु इसका दो प्रकार के करघों के चुनाव पर कोई प्रभाव नही पडता। इनमें से पहले प्रकार का करघा कम यन्त्रीकृत होने के कारण प्रति-व्यक्ति कम, किन्तु निवेश की प्रति इकाई अधिक एव दूसरा अधिक यन्त्रीकृत होने के कारण निवेश की प्रति इकाई अधिक, किन्तु प्रति-व्यक्ति कम उत्पादन करता है।'

श्री ए० के० सेन अपने 'मैन, मशीन एण्ड ग्रोथ' (30 मार्च, 1957 के 'इकॉनामिक वीकली' मे) मे कहते है, 'प्रो० कुरिहारा का यह प्रस्ताव बिल्कुल

पूंजी बचाने एवं पूंजी प्रयोग करने वाले तकनीकों पर प्रभाव

पूंजी-निपज अनुपात (g_b) में परिवर्तन की दर को प्रभावित करने वाली प्रवृतियों[1] का चित्रण करना कठिन होते हुए भी संभव है। किन्तु, यहाँ पर आगे हम लोग

ठीक है कि पूंजी की गहनता के अल्पीकरण से पूंजी-निपज अनुपात अल्प नहीं होता। यदि (γ/N) में (K/N) के अनुपात से अधिक वृद्धि हो, तो सम्भव है कि उच्च पूंजी-श्रम अनुपात से निम्न पूंजी-निपज अनुपात की प्राप्ति हो। यह वास्तव में तथ्य का प्रश्न है तथा (K/N) एवं (K/Y) के बीच सम्बन्ध का दो में से एक तरफ़ सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है। प्रो० कुरिहारा श्रम की उत्पादकता (γ/N) को पूंजी की गहनता (K/N) से स्वतन्त्र मानने की कल्पना करते हुए बचत-अनुपात (S/γ) को इससे स्वतन्त्र मानते हैं (तीनों स्थिति में 0.05)। किन्तु, बचत-अनुपात निश्चय ही मजदूरी के बिल तथा निपज के अनुपात पर निर्भर करता है, जो स्वयं श्रम की उत्पादकता (Y/N) पर आश्रित है।'

एस० साची अपने "प्रो० कुरिहारा ऑन चायस आफ टेकनीक्स" (**इकॉनामिक वीकली**, मार्च, 1957 में) में कहते हैं, "जैसा कि अन्य लोगों ने इसके पूर्व किया है"; प्रो० कुरिहारा दृढ़ता से इस सिद्धान्त (कि श्रम की प्रचुरता के परिणाम-स्वरूप अल्प-विकसित देशों को श्रम-प्रधान उद्योगों का विकास करना चाहिए) का खण्डन करते हैं, जैसा कि अन्य कई व्यक्तियों ने पहले किया है। ऐसी स्थिति में (उपर्युक्त संख्या-मूलक उदाहरण के संदर्भ में) चुनाव का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। यदि पूंजी-प्रधान निवेश की पद्धति को नहीं चुना जाय, तो यह केवल अज्ञानता-मात्र होगी। किन्तु, जब एक प्रकार की निवेश-पद्धति, दूसरी की तुलना में, प्रारम्भ में विकास की निम्न दर तथा बाद में उच्च दर प्रदान करती है, तभी चुनाव की वास्तविक समस्या उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में किस पद्धति को चुना जाय, यह आर्थिक विश्लेषण के बजाय राज-नीतिक विचारों पर निर्भर करता है।

[1] सैद्धान्तिक स्तर पर देखें—डब्लू० फेलनर का पूर्व उद्धृत "**दि कैपीटल आउटपुट रेशियो इन डायनमिक इकॉनामिक्स**" जे० रॉबिन्सन का पूर्व उद्धृत 'नोट्स ऑन दि इकॉनामिक्स ऑफ टेकनिकल प्रोग्रेस'; वाई० टाकटा का पूर्व उद्धृत; एस० सुरु का अप्रैल 1956 ई० के **इकॉनामिक रिव्यू** में प्रकाशित "ए नोट ऑन कैपिटल आउटपुट रेशियोज़"। आनुभविक आधार पर देखें—जून 1953 के "हारवर्ड इकॉनामिक रिसर्च प्रोजेक्ट", एँस्टिमेट्स ऑफ दि कैपिटल स्ट्रक्चर ऑफ अमेरिकन इन्डस्ट्रीज, 1947; डी० क्रीमर का कैपिटल एंड आउटपुट ट्रेंड्स इन मैनुफैक्चरिंग इन्डस्ट्रीज 1880-1948 (नेशनल बुरो आफ इकॉनामिक रिसर्च का 41वां **कदाचित्क पेपर**, 1947), एम० शिनोरा का अक्टूबर, 1956 के **इकॉनामिक रिव्यू** में प्रकाशित 'दि डिफरेंस आफ कैपिटल आउटपुट रेशियोज़ ऐमॉग

केवल उन प्रभावों का वर्णन करेंगे, जो पूंजी प्रयोग करने वाले तकनीकों को अपनाना अथवा उत्साहित करना अनिवार्य बनाते हैं और इस प्रकार पूंजी-निपज अनुपात को बढ़ाते हैं। इसके विपरीत वाले प्रभावों को पाठकों के अनुमान के लिए छोड़ दिया जाएगा। क्योंकि, यहाँ हम लोग मुख्यतः इस बात से सम्बद्ध हैं कि स्थायी निवेश अथवा बचत अनुपात के दिये हुए रहने पर आर्थिक विकास को सीमित करने वाले कारण के रूप में हमें उच्च पूंजी-निपज अनुपात को समाप्त करने के लिए क्या करना चाहिए।

आगे की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में अनावश्यक उच्च पूंजी-निपज अनुपात का एक मौलिक कारण पूंजी-गहनता की निम्न मात्रा है, जो दिये हुए श्रम की तुलना में पूंजी से प्राप्त निपज को अधिक अनुपात में घटा देता है। दूसरे शब्दों में, श्रम की तुलना में पूंजी की मितव्ययिता (कम घनत्व) के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप एक दी हुई निपज को उत्पन्न करने के लिए आवश्यक पूंजी की मात्रा में विरोधाभासी तरीके से वृद्धि होती है। जैसा कि हम लोग पहले देख चुके हैं, यह विरोधाभास इस सम्भावना का परिणाम है कि श्रम की प्रति इकाई पूंजी (K/N) में ह्रास पूंजी-निपज अनुपात (K/Y) को घटाने के बजाय बढ़ा सकता है, यदि, जैसा कि समीकरण (11′) से स्पष्ट है, श्रम की प्रति इकाई पूंजी में यह ह्रास श्रम की उत्पादकता में अनुपात से अधिक कमी उत्पन्न करता है। जोन रॉबिन्सन इसके लिए एक दूसरा कारण बतलाती हैं जो इस प्रकार है : "जहाँ साहसी एक दूसरे में पूंजीगत माल खरीदते हैं, मजदूरी-दर की तुलना में पूंजीगत वस्तुओं के मूल्य में कमी से पूंजी-प्रयोग के तकनीकों को अपनाने में प्रोत्साहन मिलता है।"[1] यह उन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए विशेष महत्त्व का होता है, जो मुख्यतः आयात किए गए उपकरणों तथा कच्चे पदार्थों पर निर्भर करती हैं तथा जिनमें बड़े समाकलित उद्योगों का अभाव रहता है, जिनके लिए साधनों के मूल्य से बहुत कम अन्तर होता है, और पूंजीगत वस्तुओं के मूल्य में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अनुकूल ह्रास होगा। ऐसा केवल इसलिये नहीं कि पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादकों एवं निर्यातकों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से इनके मूल्य में कमी होगी, वरन् इसलिए भी कि जनसंख्या में आतरिक वृद्धि मजदूरी की औसत दर पर अधोमुखी दबाव डालती है। यही परम्परागत विश्लेषण प्रासंगिक हो जाता है। पूंजी-श्रम अनुपात को आश्रित परिवर्ती के रूप में निम्न तरीके पर विचारें।

इन्डस्ट्रीज'; वाई० ओकजेकी का मार्च, 1957 के 'इकानॉमिक स्टडीज क्वाटर्लीज' में 'ऑन दि कैपिटल को-एफिशियन्ट इन अडर-डेवलप्ड कन्ट्रीज़ विथ स्पेशल रेफरेंस टू दि केसेज़ आफ इण्डिया एड जापान'।

[1] देखें उनकी पुस्तक दि रेट ऑफ इंटरेस्ट, एटसेट्रा, पृष्ठ 52-3।

$$\frac{K}{N} = f\left(\frac{P_k}{P_n}\right), \tag{12'}$$

जिसमें P_k पूंजी का औसत मूल्य (कुछ परिभाषा के आधार पर) और P_n श्रम का औसत मूल्य (मौद्रिक मजदूरी की दर) हैं। तब श्रम के रूप पूंजी में प्रति-स्थापन की लोच को निम्नलिखित सामान्य रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

$$e = \frac{P_k/P_n}{K/N} \cdot \frac{d(K/N)}{d(P_kP_n)} = \frac{d(K/N)}{d(P_kP_n)} \bigg/ \frac{K/N}{{}_kP/P_n} \rightleftharpoons 1, \tag{13'}$$

इसमें e लोच गुणक को सूचित करता है, जो इस सुविधा की मात्रा को मापता है, जिससे साधनों के सापेक्ष मूल्य में परिवर्तन के प्रतिवचन में श्रम के बदले पूंजी का प्रतिस्थापन किया जा सकता है। यदि श्रम की उत्पादकता को स्थिर मान लिया जाय, तो समीकरण (11′) के योग से समीकरण (12′) एवं (13′) यह सूचित करते हैं कि $e = 1$ स्थायी पूंजी-निपज अनुपात, $e > 1$ वर्णनाधीन उच्च पूंजी-निपज अनुपात तथा $e < 1$ निम्न पूंजी-निपज अनुपात के लिए उत्तरदायी हैं। जहाँ तक स्वयं साधनों के मूल्य में परिवर्तन का सम्बन्ध है, ये पूंजी एवं श्रम के सापेक्ष अभाव, पूंजी एवं श्रम बाजार के संगठन, संगठित पूंजी एवं श्रम की शक्तियों की तुलनात्मक सौदा-शक्ति तथा संभवत: उत्पादक साधनों के बीच दी हुई राष्ट्रीय आय के वितरण के सम्बन्ध में सार्वजनिक नीति पर निर्भर करता है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में साधारणतया उच्च पूंजी-निपज अनुपात का एक अन्य संभावित कारण औद्योगीकरण की प्रारम्भिक स्थिति में टिकाऊ विकास पूंजी—जैसे इस्पात, बिजली, जहाज-निर्माण तथा अन्य पूंजी-उपयोग-सम्बन्धी कार्यों की संरचनात्मक आवश्यकता है। इसका परिणाम यह होता है कि नयी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूंजी-उपयोग की तकनीकी प्रगति की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। ऐसा अंशत: इसलिए होता है कि ये अर्थ-व्यवस्थाएँ अभी तक परिपक्व स्थिति तक नहीं पहुँच पाई हैं, जहाँ पर वैज्ञानिक प्रबंध (प्रबन्ध एवं व्यवस्था-सम्बन्धी) एवं अन्य पूंजी बचाने वाली प्रगति तकनीकी दृष्टि से सम्भव नहीं है। साथ ही, कृषि-क्षेत्र में व्यापक उन्नति के लिए भी, जैसा कि तीव्र गति से उन्नति करने वाले क्षेत्रों में देखने को मिलता है, स्पष्टतया प्रति इकाई कृषि-निपज के लिए अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में पूंजी-निपज अनुपात की प्रवृत्ति के इतना उच्च होने का एक अन्य प्रधान कारण ब्याज की उच्च दर है। यह कुछ विरोधाभासी जान पड़ सकता है, क्योंकि सामान्य ज्ञान से यह ज्ञात होता है कि उच्च ब्याज की दर

उत्पादन की प्रक्रिया मे पूँजी के प्रयोग को हतोत्साहित करता है और इस प्रकार पूँजी-निपज अनुपात को कम करने का प्रयास करता है। किन्तु पुनर्विचार करने पर यह दिखावटी विरोधाभास समाप्त हो जाएगा। ब्याज की उच्च दर में श्रम की तुलना मे पूँजी के प्रयोग को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है (निम्न *K/N*); क्योंकि यह वर्तमान परिस्थिति के पूँजीगत मूल्य को नयी परिसपत्ति के सम्भावित पूर्ति मूल्य की तुलना मे कम कर देती है और इस प्रकार पहले की अपेक्षा बाद वाली परिसपत्ति को अधिक मूल्यवान् एव कम आकर्षक बना देती है। केन्स की प्रचलित शब्दावली मे, इसरा अर्थ यह है कि पूँजी की सीमात क्षमता (शुद्ध लाभ की दर) बाजार की ब्याज दर से निम्न है जिससे यह स्टॉक, ऋण-पत्र एव अन्य वर्तमान परिसपत्ति मे वित्तीय निवेश की तुलना मे टिकाऊ उपकरणो मे वास्तविक निवेश को हतोत्साहित करता है। मुख्य बात यह है कि यदि ब्याज की प्रचलित उच्च दर से उत्पादन का चक्रदार तरीका हतोत्साहित होता है (यानी *K/N* निम्न होता है) तो पूँजी की तुलना मे निपज में सभवत अधिक अनुपात मे ह्रास होगा, जिससे समीकरण (11′) के अनुसार पूँजी-निपज अनुपात बढ जाएगा। इस प्रकार ब्याज की निरन्तर ऊँची दर की सभावना मे कम पूँजी-प्रधान (या अधिक श्रम-प्रधान) तकनीकों को प्रोत्साहित करने तथा मजदूरी एव शुद्ध लाभ की दी हुई स्थायी दर होने पर निपज पर बाद वाले घटते हुए दबाव के कारण उच्च पूँजी-निपज अनुपात के निर्माण की प्रवृत्ति पाई जाती है।

अतत एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे निपज की बनावट तथा नये उद्योगों के आकार एव स्थिति का भी उच्च पूँजी-निपज अनुपात पर कुछ प्रभाव पडता है। उदाहरण के लिए, यदि हस्त-निर्मित वस्तुओ की तुलना मे यत्र-निर्मित वस्तुओं को अधिक पसद किया जाता है, तो निपज मे बनावट मे इस प्रकार परिवर्तन होगा, जिससे प्रति इकाई निपज से अधिक पूँजी की आवश्यकता पडेगी। साथ ही, यदि नये सयत्र तथा उद्यमो के आकार मे वृद्धि होती है, किन्तु ये कच्चे पदार्थों के साधनो (जो अधिकाशत विदेशो मे पाये जाते है) से बहुत दूर स्थित हो, तो अतिरिक्त वास्तविक निपज की तुलना मे पूँजीगत लागत मे वृद्धि होगी, जिसके साथ सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी-निपज अनुपात मे वृद्धि होगी।

अध्याय 6

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में दोहरी बेरोज़गारी

केन्स के रोज़गार के सामान्य सिद्धान्त में व्यापकता का अभाव है; क्योंकि यह उस प्रकार की बेरोज़गारी पर विचार नहीं करता, जो पूर्ण प्रयोग के बाद भी वास्तविक पूँजी के अभाव के कारण वर्तमान रहती है, यानी जो पूँजी के वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग के लिए समर्थ माँग की पर्याप्तता के बाद भी पाई जाती है। उसका रोज़गार का सिद्धान्त अल्पकालीन स्थिति में लागू होता है, जिसमें पूँजी-संचय, जनसंख्या की वृद्धि, तकनीकी प्रगति तथा पूर्ति की अन्य आधारभूत शर्तें दी हुई मान ली जाती हैं और इसलिए उस रोज़गार की मात्रा अनन्य रूप से समर्थ माँग के स्तर द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार, केन्स का सिद्धान्त केवल समर्थ माँग को स्थायी बनाने अथवा बढ़ाने के उद्देश्य से पिरामिड-निर्माण की तरह अनुत्पादक रोज़गार की नीति को युक्तिसंगत ठहराने में प्रयुक्त होने का खतरा मोल लेता है।

इसी केन्सीय पृष्ठभूमि में हैरोड रोज़गार के स्थायित्व पर विचार करने में उत्पादकता के दीर्घकालीन महत्त्व पर जोर देते हैं। इनके अनुसार 'सतत विकास की दर को प्राप्त करने के लिए आवश्यक बातों पर ध्यान दिये बग़ैर अल्पकाल में पूर्ण रोज़गार प्राप्त करना अदूरदर्शिता है।'[1] केन्स के रोजगार के अल्पकालीन सिद्धान्त तथा मार्क्स के रोज़गार के दीर्घकालीन सिद्धान्त के बीच लुप्त कड़ी प्रदान करने का श्रेय हैरोड को दिया जाता है। क्योंकि, जैसा कि जोन रॉबिन्सन का कहना है कि यद्यपि कि उनका यह बिल्कुल विचार नहीं है, तथापि हैरोड हमें मार्क्स के श्रम की आरक्षित सेना की ओर ले जाते हैं, जो पूँजी-संचय की दर की तुलना में जनसंख्या की वृद्धि एवं कमी के अनुसार बढ़ती अथवा घटती है।[2] इस अन्तिम प्रकार को इन्होंने 'केन्सीय बेरोज़गारी' के विपरीत "मार्क्सियन बेरोज़गारी' का नाम दिया है।[3] जोन रॉबिन्सन ने

---

1. आर० एफ० हैरोड, डायनमिक इकॉनामिक्स, पृ० 74।
2. जे० रॉबिन्सन, मि० हैरोड्स डायनामिक्स, पूर्व उद्धृत।
3. पूर्व उद्धृत।

यह भी सुझाव दिया है कि "मार्क्सियन बेरोजगारी उस प्रकार की बेरोजगारी है, जो पूरब के पिछड़े हुए एवं जनाधिक्यवाले देशों तथा युद्ध-विनष्ट अर्थ-व्यवस्थाओं में जहाँ केवल काम करने के लिए साधनों एवं सामानों के अभाव में बेरोजगारी पाई जाती है, वर्तमान रहती है।"[1]

इस प्रकार केन्स का रोजगार सिद्धान्त, चिन्तन का वह केन्द्रीय विन्दु प्रदान करता है, जहाँ से रिकार्डो के स्वत पूर्ण रोजगार (श्' ल से के नियम)[2] विश्व की आलोचना की जा सकती है तथा माल्थस एवं मार्क्स के जनाधिक्य वाले विश्व और श्रम की आरक्षित सेना[3] की धारणा पर विचार किया जा सकता है। साथ ही, केन्स के बेरोज-

---

1. देखें 'कलेक्टेड इकॉनामिक पेपर्स' में इनका निबन्ध 'मार्क्स एन्ड केन्स' पृ० 133-145।
2. केन्स के रोजगार के सिद्धान्त को विकासोन्मुख एवं उन्नतशील अर्थ-व्यवस्था के लिए लागू करने के प्रयास के लिए देखें, हैरोड का 'डायनमिक इकॉनामिक्स'; डोमर का पूर्व उद्धृत 'एक्सपेन्शन एवं एम्पलायमेन्ट'; जोन रॉबिन्सन का 'द रेट ऑफ इन्टरेस्ट एटसेट्रा', विशेषत. तृतीय अध्याय 'दि जेनरलाइजेशन ऑफ द जेनरल थियरी', एम० कालेकी का राईनहर्ट, न्यूयार्क 1954 का 'थियरी ऑफ इकॉनामिक डायनामिक्स', विशेषत छठा भाग, बी० हिगीन्स का जून 1950 के 'इकॉनामिक जरनल में 'द थियरी ऑफ इनक्रीजिंग अन्डर इम्पलायमेन्ट; आर० आइनर का पूर्व उद्धृत 'अन्डर इम्पलायमेन्ट रेट्स ऑफ ग्रोथ', डी० हैम्बर्ग का अगस्त 1952 ई० के 'क्वाटरली जरनल ऑफ इकॉनामिक्स' में 'फुल कैपेसिटी वर्सेज फुल एम्पलायमेन्ट ग्रोथ'; एच० पिलवीन का 'फुल कैपेसिटी वर्सेज फुल एम्प्लायमेन्ट ग्रोथ' एच० पिलवीन का 'फुल कैपेसिटी वर्सेज फुल एम्प्लायमेंट ग्रोथ' 'उसी स्थान में नवम्बर 1953 ई० (हैरोड एवं डोमर की टिप्पणी के साथ)।
3. अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से सम्बद्ध निम्नलिखित है—जोन रॉबिन्सन का अक्टूबर, 1955 का इकॉनामिक रिव्यू (जापान) में प्रकाशित 'ए थियरी ऑफ लौंग-रन डेवलपमेन्ट' तथा 23 जून, 1956 ई० के इकॉनामिक वीकली (भारत) में प्रकाशित 'द वायस ऑफ टेकनीक'; आर० नक्से, प्रोब्लम्स ऑफ कैपिटल फॉरमेशन इन अन्डरडेवलप्ड इकॉनामिक्स; ए० एन्ड डी आई० एम० नवारेटे का 1953 के न० 3 इन्टरनेशनल इकॉनामिक पेपर्स में 'अन्डर एम्पलायमेन्ट इन अन्डरडेवलप्ड इकॉनामिक्स; स्टडीज इन ग्रोथ इकॉनामिक्स (वाई० ताकता द्वारा सम्पादित) में एम० मोरिथिमा का 'फुल एम्पलामेन्ट पॉलिसी इन ए ग्रोइंग इकॉनामी' तथा एस० फूजीता का 'ग्रोथ थियरी एन्ड सुपरफ्लुअस पापुलेशन'; 4 अगस्त, 1956 के इकॉनामिक वीकली में डि० घोष का 'टेकनीक ऑफ प्रोडक्शन

गार के सिद्धान्त को अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए बिल्कुल अप्रयोज्य कहकर टाल देना गलत होगा। ऐसा केवल इसलिए नहीं होगा कि अल्पकाल मिलकर केन्स के उस दीर्घकाल का सर्जन करते हैं, जिसमें 'हम सभी मर जाते हैं', वरन् मूलतः इसलिए कि मुख्य रूप से निजी व्यवसाय पर संचालित अल्प-विकसत अर्थ-व्यवस्थाएँ समर्थ माँग की चक्रीय अभाव की सम्भावनाओं से मुक्त नहीं हो सकतीं दीर्घकालीन गैर-केन्सीयन वेरोज़गारी के साथ-साथ अल्पकालीन केन्सीयन वेरोज़गारी की उपस्थिति से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की पूर्ण रोज़गार-सम्बन्धी नीति बहुत ही जटिल हो जाती है; क्योंकि पहले को दूर करने के लिए अल्पकालीन उपाय आवश्यक रूप से वादवाले दीर्घकालीन उपायों को दूर करने के लिए अनुरूप नहीं होते।

वर्तमान अध्याय का सम्बन्ध व्यापकतया अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में वेरोज़गारी की दुहरी प्रकृति से है। इसका सम्बन्ध अधिक विशिष्ट रूप से (क) केन्सीयन वेरोज़गारी की चक्रीय वृद्धि तथा (ख) ग़ैर-केन्सीयन वेरोज़गारी की दीर्घकालीन वृद्धि से है। दोनों हालतों में पूर्ण एवं उत्पादक रोज़गार के लिए प्राचलीय कार्यक्रम पर भी विचार किया जायगा। छिपी हुई वेरोज़गारी के सम्बन्ध में भी पश्च-लेख के रूप में कुछ टिप्पणी की जाएगी।

केन्सीयन वेरोज़गारी की चक्रीय वृद्धि

पूँजीवादी प्रकृतिवाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था अपने विकास-सम्बन्धी कार्यक्रम की अल्पकालीन परिधि (उदाहरण के लिए पाँच वर्ष) के अन्तर्गत केन्स द्वारा वर्णित चक्रीय वेरोजगारी का अनुभव करती है। क्योंकि, इसकी समर्थ माँग यद्यपि यह दीर्घकाल में उत्पादन-क्षमता से बढ़ जाती है, तथापि अल्पकाल में उत्पादन-क्षमता से कम पड़ सकती है। इस प्रकार की सम्भावना ऐसी अल्प-विकसित अर्थ-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में, जिनकी निर्यात-सम्बन्धी आय तथा निजी निवेश-परिमाणात्मक रूप में इनकी कुल समर्थ माँग का प्रधान साधन होते हैं—विशेष रूप से पाई जाती है। केन्स के वेरोज़गारी-सम्बन्धी विश्लेषण की संबद्धता एवं अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में केन्स की पूर्ण रोज़गार-सम्बन्धी नीति की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए हम पहले वड़ी संख्या में अनैच्छिक वेरोज़गारी में चक्रीय वृद्धि के वर्णन से प्रारम्भ करेंगे।

श्रम की पूर्त्ति

यदि जनसंख्या, तकनीक एवं साधनों के मूल्यों को दिया हुआ मान लिया जाय,

---

एन्ड एम्पलायमेन्ट इन एन अन्डरडेवलप्ड इकॉनामी; अगस्त, 25, 1956 के उसी में ए० के० दास गुप्ता का 'डिसगाइज्ड अनइम्प्लायमेन्ट एन्ड इकॉनामिक डेवलपमेन्ट, के० के० कुरीहारा का पूर्व उद्धृत 'ग्रोथ एनेलेसिस् एन्ड द प्रोब्लम ऑफ कैपिटल एकुमुलेशन इन अन्डरडेवलप्ड कन्ट्रीज'।

तो इस प्रकार की मान्यता सम्भव होगी कि सदा इतनी मात्रा में श्रम वर्तमान रहता है, जिससे कि पूँजी के वर्तमान कोष को पूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सके। दूसरे शब्दो मे, हम यह मानते है कि श्रम की पूर्ति मे उसी दर से वृद्धि होती है, जिस दर से पूँजी के वर्तमान कोष को पूर्ण रूप से एव सतत प्रयोग के लिए श्रम की आवश्यकता पड़ती है। जब हम लोग सरचनात्मक बेरोजगारी की प्रकृति एवं उद्भव का अध्ययन प्रारम्भ करेगे, तो यह मान्यता समाप्त हो जायगी। यथार्थता के लिए हम मानते है कि निम्नलिखित शर्तें सदा पूरी होती हैं—

$$N = Nr, \ \triangle N = \triangle Nr, \qquad (1)$$

जिनमे N उपलब्ध श्रम की मात्रा है, जो जनसख्या की वृद्धि के द्वारा शासित होती है तथा Nr पूँजी के वर्तमान कोष को पूर्ण रूप से प्रयोग करने के लिए अपेक्षित श्रम की मात्रा है। (1) द्वारा दी गई शर्तें यदि पूरी हो जाये, तो वे इस बात का विश्वास दिलाती है कि श्रम का अभाव पूँजी के पूर्ण प्रयोग मे कभी रुकावट नही उत्पन्न कर सकता। वे इस बात की ओर भी सकेत करती हैं कि यदि पूँजी का वर्तमान कोष पूर्ण रूप से प्रयुक्त नही होता है, यानी यदि बेकार अथवा अधिक क्षमता वर्तमान है, तो यह समर्थ माँग की अपर्याप्तता के कारण है। इस प्रकार यदि मान लिया जाय कि श्रम की पूर्त्ति अपने को श्रम की किसी भी माँग के अनुरूप बना लेती है, तो केन्सीयन बेरोजगारी की उपस्थिति की व्याख्या माँग की परिस्थितियो के सन्दर्भ मे की जा सकती है। यहाँ अपेक्षित श्रम की माँग एव वास्तविक श्रम की माँग में स्पष्ट रूप से अन्तर करना अनिवार्य है। इनमे पहले प्रकार की माँग पर पहले विचार कर लिया जाय।

अपेक्षित श्रम की माँग

यदि समर्थ माँग (सम्पूर्ण निपज के लिए) को इतना अधिक मान लिया जाय, जो पूँजी के वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग को आवश्यक बना देती है, तो उस पूर्ण प्रयोग के लिए आवश्यक श्रम की मात्रा निम्नांकित रूप से दी जाती है :

$$Nr = \beta K, \qquad (2)$$

जिसमे K पूर्ण प्रयोग के बाद वास्तविक पूजी की मात्रा है तथा β टेक्नोलॉजी की वर्तमान स्थिति द्वारा दी हुई श्रम की गहनता का गुणाक (पूर्ववर्णित पूजी-श्रम अनुपात का व्युत्क्रम) है। *समीकरण (2) पूजी के वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग से उपलब्ध* रोजगार की अधिकतम सभाव्य मात्रा को बतलाता है।

हम जानते हैं कि पूँजी एवं निपज निम्न रूप से सम्बद्ध है :

$$K = bY', \qquad (3)$$

जिसमे Y' पूर्ण क्षमता-निपज तथा b औसत तथा सीमान्त पूँजी निपज

अनुपात हैं। हम लोग यह भी जानते हैं कि शुद्ध निवेश (1) अतिरिक्त पूंजी ($\triangle K$) के बराबर है और साम्य की स्थिति में बचत के बराबर होता है, यानी

$$I = \triangle K = sY', \tag{4}$$

जिसमें s पूर्ण क्षमता निपज पर बचत की औसत क्षमता है।

(3) एवं (4) से पूर्ण नियुक्त पूँजी में वृद्धि प्राप्त होती है :

$$\triangle K = \frac{s}{b} K, \tag{5}$$

जिससे पूर्ण नियुक्त पूँजी में वृद्धि की दर प्राप्त होती है (यानी, इस समीकरण के दोनों पक्षों को K से भाग देने पर)

$$\frac{\triangle K}{K} = \frac{s}{b}, \tag{6}$$

समीकरण (2) एवं (6) को ध्यान में रखते हुए हम लोग अपेक्षित, श्रम में वृद्धि की दर को निम्नांकित प्रकार से प्राप्त कर सकते हैं :

$$\frac{\triangle Nr}{Nr} = \frac{\beta \triangle K}{Nr} = \frac{\beta \triangle K}{\beta K} = \frac{\triangle K}{K} = \frac{s}{b} \tag{7}$$

जो यह बतलाता है कि अपेक्षित श्रम की मात्रा में पूर्ण नियुक्त पूँजी में वृद्धि की दर के बराबर दर, यानी s/b की दर से वृद्धि हो सकती है। यदि s/b स्थायी है, तो समीकरण (7) पूर्ण क्षमता वृद्धि के अनुरूप प्रगतिशील पूर्ण रोज़गार के एक स्थायी क्रम का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु, वास्तविक रोज़गार पूर्ण रोज़गार के इस स्थायी क्रम पर होगा या नहीं, यह श्रम की पूर्ति की लोच, जिसे हम लोग वर्तमान समय में अनन्त मानते हैं, पर निर्भर नहीं करके, समर्थ माँग, जिसे हम लोग दिया हुआ मानते हैं, के आचरण पर निर्भर करती है। अब यहाँ पर हमें वास्तविक श्रम की माँग के निर्धारण को देखना चाहिए।

वास्तविक श्रम की माँग

श्रम को सज्जित करने के लिए वास्तविक पूंजी के कोष के दिया हुआ होने पर, वास्तविक नियुक्त श्रम की मात्रा समर्थ माँग का फलन है, यानी—

$$Ne = \varepsilon Y^{\circ}, \tag{8}$$

जिसमें Ne वास्तविक राष्ट्रीय आय या समर्थ माँग की अनुक्रिया में माँगी जाने वाली वास्तविक श्रम की मात्रा है, Y° वास्तविक राष्ट्रीय आय या समर्थ माँग के स्तर तथा ε समर्थ माँग की तुलना में नियुक्त श्रम का टेक्नोलॉजी द्वारा दिया गया अनुपात है।

केन्स के गुणक सिद्धान्त से हम लोग यह जानते है कि समर्थ माँग निम्नांकित मात्रा से परिवर्तित हो सकता है :

$$\Delta Y^{\circ} \frac{I}{s'} \Delta I, \tag{9}$$

जिसमे ΔI वास्तविक शब्दो मे अपूर्वानुमेय निजी निवेश एवं पूर्ववर्णित विदेशी शेष को सम्मिलित करते हुए स्वतन्त्र निवेश गुणक तथा s' बचत की सीमात प्रवृत्ति है। यहाँ पर I/s' गुणक है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहा बचत की सीमान्त प्रवृत्ति (s') समीकरण (4)-(7) मे पाई जाने वाली बचत की औसत प्रवृत्ति (s) की तरह स्थायी नही है।

यदि हम लोग अतिरिक्त निवेश को निश्चित रूप से समर्थ माँग से सम्बद्ध मानते है, तो हमे निम्नांकित प्राप्त हो सकता है—

$$v = \frac{\Delta I}{Y^{\circ}}, \tag{10}$$

जिसमे v समर्थ माँग एव वृद्धिशील निवेश का अनुपात है और उतना ही अस्थायी हो सकता है जितना कि स्वतन्त्र निवेश को प्रभावित करने वाले तत्त्व परिवर्तनीय हैं (सार्वजनिक निवेश को छोड़कर)।

समीकरण (9) एव (10) से समर्थ माँग मे वृद्धि की निम्नांकित दर प्राप्त होती है·

$$\frac{\Delta Y^{\circ}}{Y^{\circ}} = \frac{I}{s'} v = \frac{v}{s'}, \tag{11}$$

जो दर यथोचित· उतना ही परिवर्तनीय है, जितना कि उसके निर्धारक (s', v) अस्थायी है।

समीकरण (9) एव (11) को ध्यान मे रखते हुए वास्तविक श्रम में वृद्धि की दर को निम्नांकित तरीके से लिखा जा सकता है :

$$\frac{\Delta Ne}{Ne} = \frac{\epsilon \Delta Y^{\circ}}{Ne} = \frac{\epsilon \Delta Y^{\circ}}{\epsilon Y^{\circ}} = \frac{\Delta Y^{\circ}}{Y^{\circ}} = \frac{v}{s'}, \tag{12}$$

जो यह बतलाता है कि माँगी हुई वास्तविक श्रम की माँग v/s' की दर से बढ़ सकती है, यानी यदि वास्तविक श्रम एवं समर्थ माँग का अनुपात (ϵ) स्थायी हो, तो यह · ' माँग में वृद्धि की दर से ही बढ़ेगी।

केन्सीयन बेरोजगारी की वृद्धि

पूर्ववर्ती विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि केन्स के अर्थ में पूर्ण रोज़गार को बनाये रखने के लिए आवश्यक शर्तें निम्नांकित के द्वारा व्यक्त की जाती हैं—

$$\frac{\triangle K}{K}=\frac{\triangle Y^{\circ}}{Y^{\circ}},\ \frac{s}{d}=\frac{v}{s^{\prime}}, \qquad (13)$$

किन्तु यदि निजी निवेश अथवा निर्यात से प्राप्त आय (v के द्वारा व्यक्त) में अस्थायी ह्रास के कारण पूँजी का आधिक्य, अथवा समर्थ माँग की कमी उत्पन्न हो जाती है, तो अपेक्षित श्रम एवं माँगे जाने वाले वास्तविक श्रम में असंगति उत्पन्न होगी। क्योंकि, जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है, चक्रीय बेरोज़गारी की माप पूँजी की वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग से प्राप्त पूर्ण रोज़गार एवं वास्तविक रोज़गार, जिसे समर्थ माँग का वर्तमान स्तर सम्भव बनाता है। से होती है, अतएव, वर्तमान गतिशील सन्दर्भ में केन्सीयन बेरोज़गारी को निम्नांकित रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

$$\frac{\triangle U^{c}}{U^{c}}=\frac{\triangle Nr}{Nr}-\frac{\triangle N^{e}}{N^{e}}=\frac{s}{b}-\frac{v}{s^{\prime}}, \qquad (14)$$

जिसमें $\frac{\triangle Uc}{Uc}$ माँग (सम्पूर्ण निपज के लिए) में वृद्धि की दर से पूँजी की वृद्धि की दर में आधिक्य के परिणामस्वरूप केन्सीयन बेरोज़गारी में वृद्धि की दर है और जिसमें सिरनामा c संलग्न बेरोज़गारी की समस्याकी चक्रीय प्रकृति को व्यक्त करता है। समीकरण (14) के द्वारा व्यक्त केन्सीयन बेरोज़गारी की वृद्धि पूर्ण क्षमता की वृद्धि के अनुरूप प्रगतिशील पूर्ण रोज़गार की स्थिर रेखा से चक्रीय विचलन (निम्नगामी) की मात्रा को मापता है। यह विकसित अथवा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में पूंजीवाद के चक्रीय विकास को स्पष्ट करता है। फिर भी, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में, जो समीकरण (13) में दिये हुए सन्तुलन की शर्तों की पूर्ति का प्रयास करती है, ऐसे तरीकों, जो संरचनात्मक बेरोज़गारी की अधिक गम्भीर एवं मौलिक समस्या के समाधान के दीर्घकालीन उद्देश्यों को समाप्त कर दें, को नहीं अपनाये जाने के लिए कठोर दबाव पड़ता है। इस अपवाद को ध्यान में रखकर अब हम लोग मध्यम एवं दीर्घकालीन पूर्ण एवं उत्पादक रोज़गार के लिए परिचालन-सम्बन्धी सम्भावनाओं की संक्षेप में खोज करें।

केन्सीयन बेरोजगारी को दूर करने के लिए प्राचलीय संक्रिया

बचत की, सीमान्त क्षमता (s') को, पूर्व निश्चित बचत की आदतों को व्यक्त करने वाले स्थायी प्राचल मानते हुए केन्स ने स्वतन्त्र निवेश (v द्वारा व्यक्त) को परिवर्ती नीति-प्राचल माना है। किन्तु, वर्तमान सन्दर्भ में नीति के कुशल प्रयोग के क्षेत्र के विस्तार के लिए हम v एवं s' दोनों को परिवर्ती नीति-प्राचल मानेंगे। साथ ही,

केन्सीयन बेरोज़गारी से पीड़ित अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए उपलब्ध वैकल्पिक मार्ग को देखने के लिए v एव s' को अलग-अलग करना अनिवार्य है।

अतिरिक्त स्वतन्त्र निवेश एव समर्थ माँग के अनुपात को हम लोग निम्नांकित प्रकार से अलग-अलग कर सकते है—

$$v=\frac{\triangle I_p+\triangle I_g+\triangle E}{Y^\circ}=\frac{\triangle I_p}{Y^\circ}+\frac{\triangle I_g}{Y^\circ}+\frac{\triangle E}{Y^\circ}=v_p+v_g+v_e, \quad (15)$$

जिसमे I_p आन्तरिक निजी निवेश, I_g सरकारी निवेश, E निर्यात-सम्बन्धी आय, तथा v_p, v_g एव v_e क्रमश: $\triangle I_p/Y^\circ$, $\triangle I_g/Y^\circ$, तथा $\triangle E/Y^\circ$ को सूचित करते है। समीकरण (15) तीन निवेश नीति-प्राचल प्रदान करता है, जिससे हम लोग गुणक की प्रक्रिया के लीवर पक्ष की त्रिया का संचालन कर सकते है।

इस प्रकार, बचत की सीमान्त प्रवृत्ति को भी निम्न प्रकार से पृथक् किया जा सकता है :

$$s'=\frac{\triangle S_p+\triangle S_g+\triangle M}{\triangle Y^\circ}=\frac{\triangle S_p}{\triangle Y^\circ}+\frac{\triangle S_g}{\triangle Y^\circ}+\frac{\triangle M}{\triangle Y^\circ}=s'_p+s'_g+m, \quad (16)$$

जिसमे S_p निजी बचत, S_g राजकीय बचत (यानी बजट का आधिक्य), M आयात-सम्बन्धी व्यय, s'_p निजी बचत की सीमान्त क्षमता, s'_g राजकीय बचत की सीमान्त क्षमता एव M आयात की सीमान्त क्षमता है। समीकरण (16) गुणक प्रक्रिया के क्षरण-पक्ष की क्रिया-सचालन के लिए तीन बचत-प्राचल देता है।

(15) एव (16) को ध्यान मे रखते हुए समीकरण (11) को निम्नांकित प्रकार से पुन. लिखा जा सकता है—

$$\frac{\triangle Y^\circ}{Y^\circ}=\frac{v}{s'}=\frac{v_p+v_g+v_e}{s'_p+s'_g+m} \quad (17)$$

केन्सीयन बेरोजगारी को दूर करने लिए यह दीर्घकालीन आवश्यकता कि s/b की स्थायी दर पर पूँजी की वृद्धि को मध्यम एव दीर्घकालीन उपायो के द्वारा निर्विघ्न छोड देना चाहिए, यहा सम्भावित प्राचलीय प्रक्रिया पर कुछ प्रतिबन्ध लगा देती है। सर्वप्रथम तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए बचत की सीमान्त क्षमता (s') को केवल स्थायी तौर पर गुणक को बढ़ाने के लिए घटाया नही जा सकता; क्योंकि s' मे कमी से s आत्मघाती ह्रास हो सकता है और इसीलिए पूर्ण नियुक्त पूजी में वृद्धि की दर मे भी कमी हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि s' के अवयवों को इस प्रकार जोड़-मोड़ करना चाहिए, जिससे सम्पूर्ण s' स्थिर रहे तथा वास्तविक भार लीवर-पक्ष

पर पड़े। यदि s' को स्थिर रहना है, तो निजी बचत की सीमान्त-क्षमता (s'_p), राजकीय बचत की सीमान्त क्षमता (s'_g) एवं आयात की सीमान्त क्षमता (m) प्रत्येक को दूसरे में वृद्धि की मात्रा के बराबर से कम करना होगा। अब s' के विभिन्न अवयवों में किसको कम किया जाय, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसका निर्णय दीर्घकालीन उत्पादन-क्षमता में न्यूनतम क्षति को ध्यान में रखते हुए करना पड़ेगा।

जहाँ तक लीवर-पक्ष का सम्बन्ध है, उपर्युक्त आवश्यकता का तात्पर्य यह है कि v के किसी भी अवयव की उत्पादकता एवं इसके आय-उत्पादक प्रभाव को निश्चित रूप से ध्यान में रखना होगा। अतएव, समर्थ माँग एवं अतिरिक्त निवेश के कुल अनुपात में v_p, v_g एवं v_e के उत्पादकता-प्रभाव को ध्यान में रखते हुए इनमें एक साथ वृद्धि के द्वारा वृद्धि की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, पिरामिड-निर्माण के प्रकार के निवेश को प्रत्येक परिस्थिति में अवश्य ही टालना होगा। अन्यथा शुद्ध निवेश की उत्पादकता में कमी के परिणामस्वरूप पूँजी-निपज अनुपात (b) में वृद्धि होगी, जिससे पूँजी की वृद्धि को अविकल रखने का दीर्घकालीन उद्देश्य विफल हो जायगा। किन्तु, व्यावहारिक नीति के रूप में v_e प्राचल सुगमतापूर्वक आन्तरिक नीति-निर्धारण में सहायक नहीं होता; क्योंकि यह प्रधानत: विदेशों की आयात की क्षमता पर निर्भर करता है। v_p एवं v_g को दिया जानेवाले सापेक्षभार का निर्धारण b के दीर्घकालीन के प्रतिरूप (यानी इसके व्युत्क्रम σ) एवं जिस हद्द तक अबन्ध नीति को काम योग्य समझा जाता है, सन्दर्भ में किया जाना चाहिए।

इस प्रकार, विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की अपेक्षा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में केन्सीयन बेरोज़गारी को समाप्त करना अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पहले से ही पूँजी की वृद्धि की उच्च दर होती है, जिसके परिणामस्वरूप यह अपनी बचत की सीमान्त क्षमता को कम कर सकती है, अथवा अनुत्पादक, किन्तु रोज़गार बढ़ानेवाली योजनाओं में निवेश की क्षमता को बढ़ा सकती है। फिर भी उपर्युक्त पृथक्करण-सम्बन्धी विश्लेषण, उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के दीर्घकालीन उद्देश्य में किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बगैर, मध्यम एवं दीर्घकाल में केन्सीयन बेरोज़गारी को दूर करने की सम्भावनाओं को बतलाता है।

ग़ैर-केन्सीय बेरोजगारी की दीर्घकालिक वृद्धि

समर्थ माँग के चक्रीय कुव्यवहार के परिणामस्वरूप केन्सीयन बेरोजगारी से बहुत अधिक गम्भीर ग़ैर-केन्सीय तरीके की बेरोज़गारी है, जो एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था को अल्प-विकसित एवं जनाधिक्यवाली संरचना में निहित है। यह मुख्यत: अनुत्पादक पेशों के रूप में व्यक्त होती है तथा इसे 'छिपी हुई बेरोज़गारी' कहा जाता है। यह उसी प्रकार की बेरोज़गारी है, जिसे हैरोड के विकास की स्वाभाविक एवं प्रामाणित दरों की सन्निधि लक्षित करती है तथा जिसे जोन रॉबिन्सन

ने 'मार्क्सियन बेरोजगारी' की संज्ञा दी है। किन्तु, फिर भी, हम लोग इसे 'गैर-केन्सीयन बेरोजगारी' अथवा 'सरचनात्मक बेरोजगारी' कहना अधिक सुबोध समझते है। क्योकि, मार्क्स की 'आरक्षित श्रम-सेना' सम्भव है कि हैरोड एव जोन रॉबिन्सन द्वारा स्वयं[1] वर्णित समान मौलिक परिवर्तिनो का परिणाम हो, फिर भी यह ऐतिहासिक तथ्य कि लाभ की दर की तुलना मे मजदूरी की दर पर अत्यधिक श्रम-सख्या का घटता हुआ दबाव पूजी के तीव्र सचयन[2] को प्रोत्साहित करता है, की आलकारिक अभिव्यक्ति जान पडती है। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि मार्क्स 'आरक्षित श्रम-सेना' को पूजीवादी विकास की आवश्यक शर्त मानता था, यद्यपि वह सन्निहित श्रम के 'शोषण' पर रोष प्रकट करता था। इसके विपरीत हमारी मौलिक स्थिति यह है कि उत्पादक मानव शक्ति की प्रत्यक्ष बरबादी तथा भारी उद्योगो के बदले सीमान्त कृषि, कुटीर-उद्योग एवं छिपी हुई बेरोजगारी के अन्य धक्कासहो को अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप गैर-केन्सीयक तरीके की बेरोजगारी के औद्योगीकरण के मार्ग मे एक आधारभूत रुकावट है।

इस सामान्य पृष्ठभूमि के साथ, अब हम अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ मे गैर-केन्सीय बेरोजगारी की प्रकृति एव उद्भव की जाँच करेगे। हम उपलब्ध श्रम की पूर्ति, जिसे पिछले खड मे हमने दिया हुआ मान लिया था, के विश्लेषण से प्रारम्भ करेगे।

---

1. देखें, इनका पूर्व उद्धृत 'मार्क्स एवं केन्स'।
2. इस मान्यता पर कि लाभ-सम्बन्धी आय से बचाने की सीमात प्रवृत्ति धनात्मक तथा मजदूरी-सम्बन्धी आय से बचाने की सीमान्त-प्रवृत्ति शून्य या ऋणात्मक है। मार्क्स की 'आरक्षित श्रम-सेना' के औपचारिक मॉडल के रूप में स्पष्ट अथवा अस्पष्ट सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए देखे . एस्० सुरु, 'एसेज ऑन मार्क्सियन इकॉनामिक्स' (साईंस कौंसिल ऑफ जापान इकॉनामिक सीरिज (नं० 8) टोकियो, 1956; एन० शिनोहरा, जुलाई, 1954 के 'इकॉनामिक रिव्यू' मे 'इकॉनामिक प्रोग्रेस एन्ड प्राइस स्ट्रक्चर'। अनौपचारिक अवलोकन के लिए देखें, नॉफ, न्यू० या० 1948 मे प्रकाशित 'दि न्यू इकॉनामिक्स' (एस० ई० हैरिस द्वारा सम्पादित में पी० स्वीजी का 'केन्स, द इकॉनामिस्ट', विशेष रूप से पृ० 107, जहां वे लिखते है कि 'केन्स बेरोजगारी को पूंजीवादी यन्त्र मे एक तकनीकी दोष का लक्षण मानते है, जबकि मार्क्स इसे एक अपरिहार्य साधन समझते है, जिसके द्वारा पूंजीवादी श्रम-बाजार पर अपना नियन्त्रण कायम करते हैं।' दूसरी ओर जोन रॉबिन्सन इसलिए मार्क्स की आलोचना करती है कि उसने बचाने के सम्बन्ध में निर्णय एव निवेश के सम्बन्ध मे निर्णय के बीच बिलगाव के परिणामस्वरूप बेरोजगारी की सम्भावना, जिस पर केन्स ने जोर दिया है, की उपेक्षा की है। (देखें इनका पूर्व उद्धृत 'मार्क्स एव केन्स'।)

श्रम की पूर्ति

साधनों के सापेक्ष मूल्य एवं समाज का कार्य तथा विश्राम के बीच चुनाव के दिया हुआ होने पर, श्रम की पूर्ति में निम्नांकित मात्रा से वृद्धि होते हुए माना जा सकता है :

$$\triangle N = \alpha \triangle P, \qquad (18)$$

जिसमें N पहले की तरह पूर्त्ति की गई श्रम की मात्रा, P सम्पूर्ण जनसंख्या का आकार तथा α समाज के कार्य तथा विश्राम के अधिमान पर आधारित कार्य की औसत एवं सीमांत प्रवृत्ति हैं ।

इसके बाद हम लोग बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपलब्ध श्रम के बीच एक निश्चित सम्बन्ध की उपस्थिति मान सकते हैं, यानी—

$$\lambda = \frac{\triangle P}{N}, \qquad (19)$$

जिसमें λ को जन्म एवं मृत्यु की प्रचलित दरों तथा सम्भवतः उत्प्रवास की नीति द्वारा स्वतंत्र रूप से पूर्व-निर्धारित माना जा सकता है। बाद में, वर्णित कारणों के चलते यह माना जा सकता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में उच्च λ होता है।

समीकरण (18) एवं (19) से हमें श्रम की संख्या में वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle N}{N} = \alpha\, \lambda, \qquad (20)$$

जो संरचनात्मक अल्प-बेरोज़गारी की समस्या के पूर्ति-पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। समीकरण (20) यह बतलाता है कि उपलब्ध श्रम में वृद्धि की दर कार्य की क्षमता (α) में अतिरिक्त जनसंख्या एवं उपलब्ध श्रम के अनुपात (λ) के अनुक्रमानुपाती है। दूसरे शब्दों में, एक वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था में श्रम की पूर्ति सांस्कृतिक रूप से दिये गए प्राचल (α) एवं जनांकिकीय रूप से दिये गये प्राचल (λ) का फलन है।

पूर्ति-पक्ष में मौलिक कठिनाई यह है कि अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में उपलब्ध श्रम की वृद्धि की दर ($\triangle N/N$) बहुत ऊँची होती है। इसके दो कारण हैं; प्रथमतः, इनकी कुछ जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग को कार्य करने के लिए इच्छुक रहने (उच्च α) के अतिरिक्त कोई दूसरा मौलिक विकल्प नहीं होता और द्वितीयतः, इनकी जनांकिकीय संरचना साधारणतया इस प्रकार की होती है जो बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपलब्ध श्रम का उच्च अनुपात (उच्च λ) प्रदान करती ... सम्भरित श्रम में वृद्धि की यह आनुषंगिक उच्च दर संरचनात्मक बेरोज़ ... एगी अथवा नहीं, यह अभियाचित श्रम की वृद्धि की प्रचलित दर पर नि ... पुनः एक बार हम लोग माँगपक्ष को देखें।

श्रम की माँग

जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, श्रम की माँग के सम्बन्ध मे निम्नलिखित दो आधारभूत कठिनाइयो का अनुभव होता है : (क) पूर्ण नियुक्त पूँजी की मद वृद्धि, तथा (ख) औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रति-इकाई निपज के माँगे जाने वाले श्रम की मात्रा पर टेक्नोलॉजिकल प्रगति का घटता हुआ प्रभाव।

यदि बढ़ती हुई श्रम-शक्ति को पूर्ण एवं उत्पादक तरीके से रोज़गार प्रदान करना है, तो पूँजी मे भी उपलब्ध श्रम मे वृद्धि की दर से वृद्धि होनी चाहिए। किन्तु, सभी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे पूँजी मे वृद्धि की दर निम्न होती है। ऐसा केवल इनके निम्न बचत अनुपात (s') के कारण ही नही, वरन् इसलिए भी होता है कि पूर्ववर्णित कारणो से इनकी पूँजी-निपज का अनुपात (b) उच्च होता है। तदनुसार, जैसा कि समीकरण (7) से स्पष्ट होता है, अपेक्षित श्रम मे वृद्धि की दर भी निम्न होनी चाहिए। पूँजी मे वृद्धि की निम्न दर स्वय अपने आप मे एक बडा अशुभ लक्षण है, किन्तु अपेक्षित श्रम की तीव्र वृद्धि पर एक दूसरा दबाव भी है। अब हम यह देखें कि ऐसा किस प्रकार से होता है।

समीकरण (7) यह लक्षित करता है कि उत्पादन-क्षमता मे भी निश्चित रूप से उसी दर मे वृद्धि होनी चाहिए, जिस दर मे अपेक्षित श्रम मे वृद्धि हो रही है। क्योंकि, अपेक्षित श्रम एवं क्षमता-निपज के दिये हुए स्थायी अनुपात $N_r/Y = a$, से उत्पादन-क्षमता मे $\Delta Y' = \Delta_r N/a$ से वृद्धि होगी। अतएव हमें उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की निम्न दर प्राप्त होती है .

$$\frac{\Delta Y'}{Y'} = \frac{\Delta N_r/a}{Y'} = \frac{\Delta N_r/a}{_rN/a} = \frac{\Delta N_r}{N_r} = \frac{s}{b}, \qquad (21)$$

जो यह बतलाता है कि उत्पादन-क्षमता एव पूर्ण नियुक्त पूँजी मे निश्चित रूप मे s/b की दर से वृद्धि होगी।

किन्तु, यदि श्रम की उत्पादकता मे टेक्नोलॉजिकल प्रगति के प्रभाव के अन्दर वृद्धि होती है, तो जैसा कि पिछले अध्याय मे बतलाया गया है, श्रम-निपज अनुपात में समय के क्रमानुसार कमी होगी। ऐसा होने पर किसी भी समय अपेक्षित श्रम की मात्रा, यदि श्रम-निपज अनुपात मे कमी नही होगी, तो उससे कम होगी, यानी —

$$N_r(t) = \frac{a^o}{(I+g_a)^t} Y'_0, \qquad (22)$$

जिसमे Y'_0, t पर क्षमता निपज का प्रारम्भिक मूल्य है तथा g_a पूर्व की तरह श्रम-निपज अनुपात मे ह्रास की दर है।

˜ ‿. (21) एवं (22) को ध्यान मे रखने से समीकरण (7) मे तरीके से संशोधन करना अनिवार्य होता है :

$$\frac{\triangle N_r}{N_r} = \frac{I+\frac{s}{b}}{I+g_a} - I, \qquad (23)$$

जो यह बतलाता है कि यदि पूंजी एवं निपज में s/b की दर से वृद्धि होती है, जबकि श्रम-निपज अनुपात में g_a की दर से ह्रास हो रहा है, तो अपेक्षित श्रम में वृद्धि की दर $(I+\triangle N_r N/_r)$ बराबर होगी $(I+s/b)/(I+g_a)$। इस प्रकार, समीकरण (23) दीर्घकालीन टेक्नोलॉजिकल बेरोज़गारी को सूचित करता है जो तटस्थ टेक्नोलॉजी की स्थिति में संरचनात्मक अल्प-रोज़गारी की सहज अवस्था को उलझनपूर्ण बना देता है। यह पूर्ण रोजगार की साम्यावस्था की एक मौलिक आधारभूत शर्त को भी सूचित करता है। इसकी व्याख्या हाल ही में जाएगी।

ग़ैर-केन्सीयन बेरोज़गारी की वृद्धि

यदि ऊपर वर्णित कारणों से उपलब्ध श्रम में वृद्धि की दर अपेक्षित श्रम में वृद्धि की दर से अधिक हो जाती है, तो निम्नांकित असमता प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle N}{N} = \frac{\triangle P}{P} > \frac{\triangle N_r}{N_r} = \frac{\triangle K}{K},$$

जिस असमता से संरचनात्मक अल्प-रोज़गार में वृद्धि की निम्नांकित दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle U^s}{U^s} = \frac{\triangle N}{N} - \frac{\triangle N_r}{N_r} = \alpha\lambda - \frac{s}{b}, \qquad (24)$$

जहाँ $\triangle U^s/U^s$ ग़ैर-केन्सीय बेरोजगारी की दर है। इसमें अपर अंकित s सन्निहित बेरोज़गारी की दीर्घकालीन प्रकृति को सूचित करता है। समीकरण (24) यह सूचित करता है कि संरचनात्मक अल्प-रोज़गारी के परिमाण में समय के क्रम से घातीय रूप में निम्न प्रकार से वृद्धि होगी :

$$U^s\ (t) = e(\alpha\lambda - s/b)^t U_0 \qquad (25)$$

समीकरण (24) एवं (25) छिपी हुई बेरोज़गारी की निरंतर विद्यमानता को सूचित करते हैं; क्योंकि पूँजीगत साधनों के अभाव में स्थायी रूप से बेरोज़गार होने वाले लोगों में से अधिकांश बाद में जीवन-निर्वाह के लिए कृषि, हस्तशिल्प मार्ग-विक्रय एवं घरेलू नौकरियों-जैसे अनुत्पादक पेशों में लग जाते हैं। इन सभी पेशों में काम करने के लिए कम अथवा कोई भी पूँजीगत साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव, छिपी हुई बेरोजगारी संरचनात्मक अल्प-बेरोज़गारी का वह विशिष्ट रूप है, जो केवल अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में ही नहीं, वरन् विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अविकसित क्षेत्रों (उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ दक्षिणी हिस्सों) में भी पाई जाती है।

अतएव, हम देखते हैं कि संरचनात्मक बेरोजगारी उस प्रकार की अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न एवं स्थिर रह सकती है, जिसमें, यदि पूंजी के वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग की स्थिति में रखने के लिए समर्थ मांग पर्याप्त मात्रा में उच्च हो तथा यदि टेक्नोलॉजिकल प्रगति तटस्थ हो, जिससे कि निपज की प्रति-इकाई आवश्यक श्रम की मात्रा में ह्रास नहीं होता हो, तो भी जिसकी श्रम की पूर्ति में श्रम की मांग से अधिक होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसलिए सरचनात्मक बेरोज़गारी सामान्य रूप में आर्थिक विकास एवं विशिष्ट रूप में औद्योगीकरण के लिए एक कर्ष है; क्योंकि यह अनुत्पादक एवं अयोग्य उद्यमों का गैर-चक्रीय और गैर-संघर्षणात्मक बेरोज़गारी के रूप में स्थायित्व प्रदान करती हैं।

गैर-केन्सीय प्रकार की संख्या बहुल बेरोज़गारी को न्यून बनाने की क्रियात्मक संभावनाओं की व्याख्या के पूर्व, दीर्घकाल में पूर्ण रोजगार के लिए आवश्यक निम्नांकित दो आधारभूत शर्तों को बतलाना लाभदायक होगा :

$$\frac{s}{b} = \alpha\,\lambda \qquad (26)$$

जबकि टेक्नोलॉजी की तटस्थता की मान्यता पर श्रम की उत्पादकता स्थायी रहती है, तथा

$$\frac{s}{b} = \alpha\,\lambda + ga \qquad (27)$$

जबकि समय के क्रम में श्रम की उत्पादकता में श्रम-निपज अनुपात में कमी के लिए वृद्धि होती है। समीकरण (27) का दायाँ पक्ष $(I + \alpha\lambda)\ (I + g_a) - I$ के सन्निकट है। यह वह दर है, जिस पर श्रम-निपज अनुपात में ह्रास के परिणामस्वरूप उत्पन्न दीर्घकालिक टेक्नोलॉजिकल बेरोज़गारी को दूर करने के लिए पूंजी एवं क्षमता में वृद्धि अनिवार्य है।

गैर-केन्सीय बेरोजगारी को दूर करने के लिए प्राचल-क्रिया

पूर्ववर्ती विवरण से यह स्पष्ट है कि गैर-केन्सीय तरीके की सामूहिक बेरोज़गारी से पीड़ित अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को मुख्य रूप से पूंजी में वृद्धि की दर ($\Delta K/K$) में वृद्धि करनी होगी या जनसंख्या में वृद्धि की दर ($\Delta\ P/P$) में कमी करनी होगी या दोनों ही करने होंगे। विशेषतया सरचनात्मक अल्प-बेरोज़गारी को समाप्त करने के लिए, या निश्चयात्मक आधार पर, पूर्ण एवं उत्पादक रोज़गार को दीर्घकालिक रूप में बनाये रखने के लिए, पूंजी एवं जनसंख्या की वृद्धि की दर को निर्धारित करने वाले सरचनात्मक प्राचलों के साथ उचित कार्रवाई अनिवार्य है। अब समीकरण (26) एवं (27) द्वारा दी गई साम्यावस्था की परिस्थितियों को ध्यान में [illegible] हुए प्राचल-क्रियाओं पर विचार किया जाय।

अपेक्षित श्रम में वृद्धि की दर को वढ़ाने के लिए, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को वचत-अनुपात (s) में वृद्धि तथा पूँजी-निपज अनुपात (b) में कमी यानी $(\triangle P/P) > (\triangle K/K)$ की परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी। ऐसा करने से कहना आसान है, विशेपत: जव और जिस स्थिति में उपभोग का स्तर पहले से ही इतना निम्न है कि s में कोई भी वृद्धि कठिन हो जाती है तथा टेक्नोलॉजी की स्थिति इतनी पिछड़ी है कि b में कमी (अथवा पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि) भी कठिन हो जाती है। यहाँ हम श्रम की पूर्ण रोजगार की इच्छा एवं इसकी अधिक चालू-उपभोग की इच्छा के वीच एक प्रकार का द्वन्द्व पाते हैं। इस प्रकार का द्वन्द्व एक विकसित अर्थ-व्यवस्था में नहीं पाया जाता है, जिसमें अधिक वचत (अथवा निम्न उपभोग) ही केन्सीय वेरोजगारी का कारण होती है। अतएव, वचत-अनुपात को वढ़ाकर अपेक्षित श्रम की वृद्धि की दर में वृद्धि करने से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में एक आर्थिक व्यवस्था, जो सामूहिक उपभोग की वेदी पर कुछ लोगों को अधिक वचाने की सुविधा देती हैं, उसके प्रति श्रमिकों में तिरस्कार की प्रवृत्ति उत्तेजित होती है। फिर भी, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था s में उन उपायों के द्वारा, जो पहले से ही निम्न उपभोग में और अधिक त्याग को आवश्यक नहीं वनाते (उदाहरण के लिए, वित्तीय एवं विदेशी व्यापार-सम्वन्धी नीतियाँ, जिनका आगे चलकर पृथक् रूप से विवरण किया जाएगा), जिस हद्द तक वृद्धि करतीं हैं, उस हद् तक वह लौकिक रोप को जाग्रत करने एवं राजनीतिक साम्य को उलटे, वगैर पूँजी की वृद्धि की दर में वृद्धि कर सकती है और इसलिए अपेक्षित श्रम में वृद्धि की दर में भी वृद्धि कर सकती है।

जहाँ तक पूँजी-निपज अनुपात (b) में कमी का प्रश्न है, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को पूँजी वचाने वाले टेक्नोलॉजिकल सुधारों को अपना कर तथा यन्त्रों एवं साधनों के वेकार प्रयोग को दूर कर पूँजी की क्षमता में वृद्धि करनी होगी। आगे चलकर यह दिखलाया जायगा कि अधिक उत्पादक क्षेत्रों में पूँजी के पुनर्विभाजन से सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी निपज अनुपात में कमी हो सकती है। मँहगी मुद्रा-नीति के द्वारा पूंजी-निपज अनुपात में कमी के प्रयास को आशाहीन एव अनर्थक समझ-कर टाल देना चाहिए। क्योंकि, मँहगी मुद्रा-नीति के द्वारा पूँजी-निपज-अनुपात में जो भी कमी आती हैं, वह मजदूरी की मौद्रिक दर में सम्भावित वृद्धि (उदाहरण के लिए, श्रम-संघों के कार्यों द्वारा) अथवा पूँजीगत वस्तुओं के औसत मूल्य में सम्भावित ह्रास (उदाहरण के लिए, वाजार की प्रतियोगिता से), यानी साधना-मूल्यों में परिवर्तन द्वारा उत्पादन के पूँजी प्रयोग वाले तरीकों को अपनाने के लिए प्रोत्साहित करने से विलकुल समाप्त हो जाएगी। इतना ही नहीं, मँहगी मुद्रा-नीति विकासात्मक निवेश-सम्वन्धी क्रियाओं को प्रोत्साहित करने के दोर्घकालीन उद्देश्य के अनुरूप नहीं है। पाठक टेक्नोलॉजी पर पिछले अध्याय में पूँजी-निपज अनुपात को कम करने के सम्वन्ध में अन्य सुझावों को देख सकते हैं।

दूसरी क्रियात्मक सभावना समीकरण (27) मे श्रम-निपज अनुपात मे कमी की दर (ga) को कम करने की है। इसका तात्पर्य यह है कि दीर्घकालिक टेक्नोलॉजिकल बेरोजगारी की सभावना से ग्रस्त अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को सरचनात्मक अल्प रोजगारी मे उस वृद्धि को, जो $\alpha\lambda$ को, की दर पर पूजी-सचय के द्वारा उत्पादक रोजगार मे नही खप सकती है, अन्य न्यूनतम बनाने के लिए श्रम बचाने वाले उपायो काप्रतिरोध करना होगा। यहाँ दो कठिनाइयाँ दृष्टिगोचर होती है। प्रथमतः तो जैसा कि पिछले अध्याय मे देखा जा चुका है, श्रम बचाने वाले उपायों को अपनाने के प्रतिरोध से श्रम की उत्पादकता मे इतनी कमी हो सकती है, जिससे कि $K/\gamma=(K/N)/\gamma/N)$ के माध्यम से उच्च पूजी-निपज अनुपात आवश्यक हो जाय। वास्तव मे, यह आत्मघाती है; क्योंकि बचत-अनुपात के दिया हुआ होने पर, b के उच्च होने पर पूँजी मे इतनी वृद्धि हो सकती है, जितना कि इसके निम्न होने पर। द्वितीयत, श्रम की उत्पादकता की वृद्धि की दर मे अन्तर्निहित ह्रास पूर्व वर्णित विकास की सामाजिक श्रेष्ठतम दर की धारणा से असबद्ध है; क्योकि दीर्घकालिक रूप मे बढते हुए जीवन-स्तर को प्राप्त करने के लिए श्रम की उत्पादकता मे ह्रास नही, वरन् वृद्धि आवश्यक होती है। इन कठिनाइयो के सन्दर्भ मे एक स्थायी धनात्मक $g\alpha$ को दिया हुआ मानना ही सर्वाधिक उचित तरीका जान पडता है और तब पूजी मे वृद्धि की दर को $(\alpha\lambda+ga)$ के अनुकूल बनाना चाहिए, जिससे श्रम की उत्पादकता के परित्याग तथा जीवन स्तर को निम्न बनाये बगैर ही दीर्घकालिक टेक्नोलॉजिकल बेरोजगारी को दूर किया जा सकता है।

विकल्पत, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था पूँजी में वृद्धि की दर को दिया हुआ मानकर जनसख्या की वृद्धि की दर मे कमी के द्वारा उपलब्ध श्रम में वृद्धि की दर को कम करने का प्रयास कर सकती है। इसे और अधिक स्पष्ट बनाने के लिए यह कहा जा सकता है कि $(\triangle P/P) > (\triangle K/K)$ की परिस्थितियो मे, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को दोनो α तथा λ मे निश्चित रूप से कमी करनी चाहिए। कार्य करने की क्षमता (σ) मे कमी इस बात का सकेत करती है कि समाज को काम की जगह विश्राम को पसन्द करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए, जिससे कि कुल जनसख्या का एक छोटा भाग सदा कार्य करने के योग्य एवं तत्पर रहे। इसमे अनिवार्यत. साम्कृतिक वरण सन्निहित है, जो आर्थिक दृष्टि से अपेक्षित हो सकता है, अथवा नही भी। यदि ऐसे व्यक्तियो को, जो कि श्रम-सेना के नियमित सदस्य नही है अथवा नही होना चाहते है (उदाहरणत.; स्कूल जाने अथवा अवकाश-प्राप्त उम्र के काम खोजने वालो, सरुटमय उद्योगों में काम करने के लिए इच्छुक गृहणियाँ एव माताएँ, विशेष रूप से विद्वान वैज्ञानिक एवं कलाकार, जिन्हे अपनी रोजी-रोटी के लिए काम करना पडता है और विलक्षण धनी व्यक्ति, जो ठिन तरीके से अपनी जीविका प्राप्त करना चाहते है) श्रम-बाजार से स्थायी रूप

से अलग कर दिया जाय, तो अपेक्षित श्रम या विकास की दर को बढ़ाने-सम्बन्धी दबाव में निश्चय ही बहुत कमी हो जाएगी। यदि श्रम की उत्पादिकता में स्थायी धनात्मक दर ga में वृद्धि हो रही है, तो एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था एक बड़े अवकाश-प्राप्त वर्ग का भरण-पोषण कर सकती है और इस प्रकार α के अन्यथा अधिक मूल्य को कम कर सकती है। क्योंकि, बढ़ती हुई उत्पादकता काम के कम घंटे तथा अधिक मजदूरी आन्दोलन को सम्भव बनाती है।

अन्ततः एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था संतति निग्रह तथा अन्य जनांकिकीय प्रयोगों के द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या एवं उपलब्ध श्रम के अनुपात λ को कम करने का प्रयास कर सकती है। किन्तु, जैसा कि जनसंख्या-सम्बन्धी विशेषज्ञों द्वारा सदा इस बात की चेतावनी दी जाती है, इस सम्बन्ध में कुछ सांस्थानिक कठिनाइयों का निश्चित रूप से सामना करना पड़ेगा। λ को कम करने के प्रयास में उत्प्रवास का प्रोत्साहन भी, यदि यह सम्भव है,[1] सम्मिलित है। किन्तु, जैसा कि हावेल्मो का सुझाव है,[2] यदि यह मान लिया जाय कि जन्म-दर जानकारी के सूचकांक से प्रतीपानुपाती दर में परिवर्तित होता है, तो जनसंख्या में वृद्धि को नियन्त्रित करने के नकारात्मक उपाय से, व्यापक अर्थ में, टेक्नोलॉजिकल प्रगति को त्वरायित करने वाले धनात्मक प्रभाव की उत्पत्ति हो सकती है। साथ ही, जैसे-जैसे एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था निर्विरोध रूप से उस विन्दु की ओर अग्रसर होती है, जहाँ जनसंख्या की वृद्धि को संरचनात्मक बेरोज़गारी में वृद्धि का कारण न समझकर निवेश की माँग को प्रोत्साहित करने वाले साधन के रूप में समझा जाता है, वैसे-वैसे बड़ी एवं वृद्धिशील जनसंख्या के पक्ष का तर्क कमजोर होने के बजाय दृढ़ होता जाता है।

---

1. उदाहरण के लिए, जापान यद्यपि औद्योगिक दृष्टि से विकसित है, तथापि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की तरह इसमें जनाधिक्य की स्थिति पाई जाती है। अतएव, यह अल्प-जनसंख्या वाली अर्थ-व्यवस्थाएं (जैसे, युद्धोत्तर काल में ब्राजील स्वीकार करते के लिए जितना तैयार रहती हैं, उतना उत्प्रवास को प्रोत्साहित करता है।
2. हावेल्मो : 'ए स्टडी इन दि थियरी आफ इकॉनामिक इवोल्यूशन' (पृष्ठ 43)। हावेल्मो इस मान्यता को विस्तृत नहीं करता, किन्तु उसने इस अवलोकनीय तथ्य को अपने ध्यान में रखा था कि अशिक्षित परिवारों की अपेक्षा शिक्षित परिवारों को संतति-निग्रह के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त है। तथापि, यह निश्चित रूप से नहीं माना जा सकता है कि इस सूचना एवं व्यवहार में एकरूपता है। उदाहरण के लिए जापान में साक्षरता का प्रतिशत अधिक होने पर भी वहाँ खिलाने तथा रोजी देने के लिए बड़ी एवं वृद्धिशील जनसंख्या है। फिर भी, अधिक जानकारी के पक्ष का तर्क ठीक ही रह जाता है, क्योंकि टेक्नोलॉजिकल प्रगति पूँजी में गुणात्मक सुधार के द्वारा पूंजी-निपज-अनुपात को कम करती है।

छिपी हुई बेरोजगारी पर अनुलेख*

रोजगारी पर अपनी विवेचना को समाप्त करने के पूर्व आर० नर्क्स की जनाधिक्यवाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में बचत सम्भाव्य के रूप में कम विकास वाली बेरोजगारी पर विचार करना लाभदायक जान पड़ता है।[1] इस विचार के अनुसार, छिपी हुई बेरोजगारी की पूर्ण लामबन्दी उपभोग में कमी के बगैर शुद्ध-निवेश में वृद्धि कर सकती है। इसे नर्क्स अवश्यभावी विकल्प के रूप में निवेश एवं उपभोग की सस्थापक धारणा तथा आवश्यक परिपूरक के रूप में केन्स के निवेश एवं उपभोग के विचार के बीच समझौता कराने के रूप में प्रस्तुत करते है। क्योंकि, अतिरिक्त पूंजी के कोष के बगैर अतिरिक्त श्रम के बड़े कोष वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था सस्थापकों के पूर्णत नियुक्त साधनों, जिनका अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं के कम तथा पूंजीगत वस्तुओं के अधिक उत्पादन पर लगाया जाना है तथा केन्स के नियोगीय साधनों, जिनका प्रयोग दोनों पूंजीगत तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने में किया जा सकता है, के बीच पाई जाती है। यह 'तटस्थ' स्थिति सुखदायक विचार है, किन्तु अधिक विचार-विमर्श करने पर यह भ्रामक जान पड सकती है। यहाँ न्यूनाधिक मात्रा में प्रचलित व्यावहारिक आक्षेप[2] को दुहराने के बजाय हम लोग निवेश एवं उपभोग के सम्बन्ध में सस्थापक एवं केन्सीय विचारों के बीच नर्क्स के इस समझौते के पक्ष में दिये जाने वाले विभिन्न तर्कों में सन्निहित कुछ कठिनाइयों को बतला सकते है।

---

* यह लेखक के पूर्व-उद्धृत "टेकनीक्स फॉर मैक्सिमम ग्रोथ एंड एम्पलायमेंट' का अंग है।

1. देखे नर्क्स का 'प्रोब्लेम्स ऑफ केपिटल फॉरमेशन इन अन्डरडेवलपड कन्ट्रीज।' साथ ही, देखे बुचानन एव एलिस का एप्रोचेज टु इकॉनामिक डवलपमेंट 13 अक्तूबर, 1956 के इकॉनामिक वीकली (इण्डिया) में श्री एम० निवासन का कॉमन सेन्स मेड डिफिकल्ट; ए० के० दास गुप्ता का पूर्व उद्धृत 'डिसगाइज्ड अन-एम्पलायमेंट एण्ड इकॉनामिक डेवलपमेंट।
2. मेरे सहयोगी प्रोफेसर रॉबर्ट अलेग्जेन्डर ने मेरा ध्यान लेटिन अमेरिका में बड़े पैमाने पर दृष्टिगोचर इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि वहां कृषि में छिपे हुए बेरोजगार औद्योगिक अनुशासन से इतने अनभिज्ञ हैं कि जब वे कारखानों में उत्पादक तरीके पर नियुक्त होते हैं, तब स्वभावत: अनुपस्थित हो जाते हैं। उन्होंने इस तथ्य का भी जिक्र किया कि लेटिन अमेरिका में छिपे हुए बेरोज़गारों का एक बड़ा भाग सशस्त्र सेवाओं में रोजी पाता है। इससे यह स्पष्ट है कि किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में सभी छिपे हुए बेरोज़गारों को उत्पादक-क्षेत्र में नहीं लगाया जा सकता है।

इन तर्कों का सार निम्न प्रकार से है : मान लिया जाय कि सभी छिपे हुए बेरोज़गार उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में नियुक्त हैं (जिसे साधारणतया गुजारा कृषि कहते हैं)। चूंकि, परिभाषा के अनुसार छिपे हुए बेरोजगार व्यक्ति सीमान्त अथवा अनुत्पादक श्रम हैं, अतएव उपभोक्ता वस्तुओं के क्षेत्र में से इन्हें हटा देने से उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अब छिपे हुए बेरोज़गार को पूंजीगत उद्योगों के क्षेत्र में ले जाया जाय तथा इस प्रकार के परिवर्तन की व्यावहारिक कठिनाइयों पर विचार नहीं किया जाय। चूंकि, मान्यता के अनुसार, पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में श्रम की सीमांत उत्पादकता धनात्मक है, अतएव इस क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों में छिपे हुए बेरोज़गारों को सम्मिलित करने से पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होगी। अतएव, जब कभी छिपे हुए बेरोज़गारों को पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में प्रभावपूर्ण तरीके से लगाया जाता है, तब इसे 'बचत सम्भाव्य' समझा जाता है, जो शुद्ध निवेश (अथवा पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन में उपर्युक्त वर्णित वृद्धि के परिणामस्वरूप पूंजी के वर्तमान कोष में वृद्धि) के रूप में फलित होता है। इस प्रकार, इस धारणा का सर्जन होता है कि छिपी हुई बेरोज़गारी अंततः, औद्योगीकरण पर बोझ होने के बजाय छिपा हुआ वरदान है। किन्तु, निम्नलिखित विवेचन इस बहकाने वाली धारणा को हटा सकता है।

जब उपभोक्ता-वस्तुओं के क्षेत्र से मुक्त होने वाले श्रम की विशिष्टताओं को ध्यान में रखा जाएगा तब स्थायी पूंजी की निपज में, जिसका औद्योगीकरण के लिए निर्णायक महत्त्व होता है, विशेष रूप से वृद्धि नहीं भी हो सकती है। यह मानते हुए कि छिपे हुए बेरोज़गारों को ऐसी निवेश-सम्बन्धी योजनाओं में स्थानान्तरित किया जा सकता है, जिसमें विशेष दक्षता अथवा साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती, तो इस प्रकार की श्रम-प्रधान प्रकृति के निवेश की योजनाओं से औद्योगीकरण के लिए शीघ्र एवं पर्याप्त उपयोगी उचित मात्रा एवं गुण वाली स्थायी पूंजी प्राप्त होने की आशा कठिनाई से की जा सकती है। ऐसी श्रम-प्रधान योजनाओं से अधिक-से-अधिक सीमित मात्रा में प्रारम्भिक पूंजी-निर्माण की आशा की जा सकती है (उदाहरण के लिए, कारखानों के स्थान के लिए महापंक वाली भूमि की सफ़ाई, आधुनिक महापथों के निर्माण के लिए मिट्टी की सड़कों का निर्माण तथा यन्त्र-निर्मित उद्योगों के कच्चे पदार्थ के रूप में प्रयोग किये जाने वाले हस्तशिल्प)। किन्तु, औद्योगीकरण को पर्याप्त मात्रा में गतिमान बनाने के लिए यन्त्र-निर्माण करने वाले यन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है और छिपा हुआ बेरोजगार इस प्रकार के 'यन्त्र-निर्माण करने वाले यन्त्रों' का अप्रभावी प्रतिस्थापन है।

स्थायी उपभोग की मान्यता का प्रश्न इसलिए नहीं उठता कि उपभोग्य वस्तुओं के क्षेत्र में अतिरिक्त श्रम की उत्पादकता शून्य से अधिक है, वरन् इसलिए कि पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में हस्तान्तरित होने से इसकी उपभोग-क्षमता में

सम्भवत आय के प्रत्येक स्तर पर वृद्धि होती है। यह सम्भावना दो कारणों से सत्य प्रतीयमान होती है। प्रथमत', पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र से हस्तान्तरण के पूर्व छिपे हुए रोजगार उपभोग के इतने निम्न स्तर को अपनाने के लिए बाध्य होते हैं कि वे हस्तातरण के बाद निश्चय ही नई सुदृढ उपभोग की आदतों को अपनायेंगे। द्वितीयन, शहरी क्षेत्र, जहाँ पूँजीगत वस्तुओं के उद्योग मुख्यत: केन्द्रित होते है, ग्रामीण क्षेत्रों, जहाँ से छिपे हुए बेरोजगार आते है, की अपेक्षा स्पष्टत. उपभोग की सुदृढ़ता क्षमता को बढाने वाले होते हैं। अतएव, यदि पीगू-सम्बन्धी 'प्रभाव को' अकेला छोड़कर, 'आदत-सम्बन्धी प्रभाव' एव 'रुचि-सम्बन्धी प्रभाव' पर उचित ध्यान दिया जाय, तो पहले अनुत्पादक किन्तु अब उत्पादक उपभोक्ताओं, यानी छिपे हुए बेरोजगारों के नागरीकरण के परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था की उपभोग-क्षमता मे निश्चय ही वृद्धि होगी। ऐसी स्थिति मे जो साधन अन्यथा पूँजीगत वस्तुओं की निपज को बढाने के लिए प्रयोग मे आने वाली उपभोक्ता-वस्तुओं के क्षेत्र मे उनके विनिधान के लिए दबाव बढ़ेगा।

फिर भी, यदि, जैसा कि औद्योगीकरण की प्रक्रिया में सम्भावना रहती है, पूँजीगत वस्तुओं का क्षेत्र उत्पादन के श्रम बचाने वाले तकनीक को अपनाता है, तो निपज की प्रति इकाई अपेक्षित श्रम की मात्रा मे सन्निहित कमी, इस क्षेत्र द्वारा छिपे हुए बेरोजगारो को पूर्णत तथा निरन्तर रूप मे लगाने की क्षमता को सीमित बना देती है। जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, इस प्रकार की स्थिति मे स्थायी उत्पादकता वाली श्रम-शक्ति को सज्जित करने के लिए बढती हुई उत्पादकता वाली श्रम-शक्ति की अपेक्षा पूँजी मे अधिक दर से वृद्धि करनी होगी। इस प्रकार, छिपी हुई बेरोजगारी को 'बचत सभाव्य' मानने के सामान्य तर्क मे सन्निहित टेक्नोलॉजिकल तटस्थता की मौन मान्यता अमान्य एवं नि सहाय हो जाती है। यदि हम लोग, टेक्नोलॉजिकल प्रगति से उत्पन्न उपर्युक्त समस्याओं को छोड भी देते है, तो भी हम लोग जनसख्या की वृद्धि के पूँजी-सचय से अधिक हो जाने की मूलभूत समस्या से छुटकारा नही पा सकते। केवल बडी ही नही, वरन् बढती हुई जनसख्या उपभोग को कम किये बगैर शुद्ध निवेश को बढाने की कठिनाई को घनीभूत कर देती है, क्योंकि इसका तात्पर्य खाने के लिए अधिक व्यक्ति तथा नियुक्ति के लिए अधिक काम चाहने वाले, दोनो प्रकार के लोगों से होता है। वृद्धिशील जनसंख्या वाली अर्थ-व्यवस्था मे उपभोग से अधिक शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति मे ऐसी वृद्धि, जिसे छिपे हुए बेरोजगारो का पूर्ण उपयोग सभव बनाता है, यदि सम्पूर्ण नहीं, तो अधिकाश जनसख्या मे यथार्थतः अनुत्पादक वृद्धि (उदाहरण के लिए, साधारणतया उत्पादकता उम्र, जैसे 15 वर्ष से कम आयु वालो की बढती हुई सख्या) के द्वारा समाप्त हो जाएगी। साथ ही, जनसख्या मे वृद्धि के पूँजी-सचय से अधिक होने की प्रवृत्ति का तात्पर्य यह है कि छिपे बेरोजगारो की सहायता से पूँजी के कोष मे हुई वृद्धि से जितने लोगो को उत्पा-

दक तरीके से काम पर लगाया जा सकता है, उससे छिपी हुई बेरोजगारी की मात्रा में अधिक वृद्धि होती है।

ये विचार पूंजी-संचय के साधन के रूप में छिपी हुई बेरोज़गारी की परिकल्पना की उपादेयता पर सन्देह प्रकट करते हैं। ये विचार एवं हम लोगों के औपचारिक विवरण यह संकेत करते हैं कि ये पूंजी-संचय एवं आर्थिक विकास में सहायक होने के बजाय, छिपी हुई बेरोज़गारी की क्षमता को बढ़ाने वाली प्रकृति की जगह उत्पन्न करने वाली अस्पष्ट योजनाओं को सहायता एवं आराम देकर, इनमें बाधा उत्पन्न करते हैं।

अध्याय 7

आर्थिक विकास में पुनर्वितरणात्मक-भूमिका

विकसित अर्थ-व्यवस्था मे आय के वितरण के सम्बन्ध मे दीर्घकालीन विवेचन मुख्यत इस प्रश्न पर केन्द्रित है कि आर्थिक विकास का आय के दीर्घकालीन वितरण पर क्या प्रभाव पडता है ?[1] जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, यह प्रश्न गौण महत्त्व का हो जाता है, क्योंकि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाएँ ऐसी स्थिति मे नही होती कि विकास को दिया हुआ मानकर आय के वितरण पर इसके सभावित प्रभावो पर विचार किया जाये अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ से सम्बद्ध प्रश्न वस्तुत: यह जान पडता है : सास्थानिक, राजनीतिक एव नैतिक कारणो से आय के वितरण में कुछ परिवर्तनो के दिया हुआ रहने पर, निपज एव पूँजी की वृद्धि पर इस प्रकार के परिवर्तनो के क्या प्रभाव होगे ? वर्तमान अध्याय मे अशत: इसी अन्तिम प्रश्न की व्याख्या की जायगी।

दूसरा प्रमुख प्रश्न, जिसका यहाँ विचार किया जायगा, आर्थिक विकास के सदर्भ मे साधनो का पुनर्विनिधान है। क्योंकि, दीर्घकालिक विचार से दिये हुये साधनों का पुनर्विनिधान एव दी हुई आय का उत्पादक तरीके से पुनर्वितरण ठीक उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि उत्पादक साधनो तथा राष्ट्रीय आय के आकार को शीघ्रतापूर्वक बढाना। चूँकि किसी अर्थ-व्यवस्था के विकास की दर मे बचत-अनुपात के आनुपातिक तथा पूजी-निपज अनुपात के प्रतिलोमी दर में परिवर्तन होंगे

---

1. देखें सी० क्लार्क, दि कन्डीशन ऑफ इकॉनामिक प्रोग्रेस; एस० कुजनेट्स 'इकॉनामिक ग्रोथ एड इनकम इनइक्वेलिटी', पूर्व उद्धृत; पोस्ट केन्सीयन इकॉनामिक मे एम० ब्रोनफेनब्रेनर का 'समनेगलेक्टेड इम्प्लिकेशन्स ऑफ सेकुलर इन्फ्लेशन'। चूँकि हमने अन्तिम परिसंवाद मे विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के सदर्भ में निवेश की मांग पर पुनर्वितरण-प्रभाव का वर्णन किया था, अतएव अब हम अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के सन्दर्भ मे पूर्ति एव पूँजी की क्षमता पर ध्यान देंगे।

की प्रवृत्ति पाई जाती है, अतएव हम लोग स्पष्टत: निम्नलिखित विषयों का वर्णन करेंगे : (क) बचत-अनुपात पर आय के पुनर्वितरण का प्रभाव, तथा (ख) पूँजी-निपज अनुपात या इसके व्युत्क्रम पूँजी की उत्पादकता पर साधनों के पुनर्विनिधान का प्रभाव।

तो भी, आय के पुनर्वितरण एवं साधनों के पुनर्विनिधान की विशेष प्रक्रियाएँ[1] जिनमें एक अर्थ-व्यवस्था से दूसरी अर्थ-व्यवस्था में अन्तर पाया जाता है, वितरण के प्राचलों में दिये हुए परिवर्तन में अन्तर्निहित होगी। तथापि, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिकांश परिस्थितियों में आय का पुनर्वितरण एवं साधनों का पुनर्विनिधान मूल्य की गति, प्राथमिकता विनिधान, वित्तीय नीति, एकाधिकार-विरोधी अधिनियम एवं सामूहिक सौदे के द्वारा किया जाता है।

बचत-अनुपात पर पुनर्वितरणका प्रभाव

संस्थापक अर्थशास्त्रियों से प्रारम्भ कर आज तक यह स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाता रहा है कि आय (एवं सम्पत्ति) का वितरण राष्ट्रीय पूँजी के संचय की पृष्ठ-भूमि में प्रमुख एवं आग्रह-युक्त कारण के रूप में वर्तमान रहा है। किन्तु, आर्थिक प्रगति पर वितरण-सम्बन्धी प्रभाव की मात्रा प्रारम्भ से अब तक विवाद का विषय रही है। मैण्डेविले के 'मधुमक्खियों की कल्पित कथा'[2] से प्रारम्भ कर केन्स के 'मितव्यय के विरोधाभास' तक न्यून उपभोग के समर्थकों द्वारा दिये गये तर्कों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है। जहाँ तक अल्पकाल में विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, केन्स ने इस बात को दिखलाकर कि पूर्ण रोजगार से निम्न विन्दु पर मितव्यय में वृद्धि से वास्तविक पूँजी में वृद्धि के बजाय कमी होती है, शुम्पीटर[3] के वाक्यांशों में, 'बूर्जुआ तर्क के अन्तिम स्तम्भ को भी निस्सन्देह चकनाचूर कर

1. आगे के अध्यायों में कुछ पुनर्वितरणात्मक प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया जायगा।
2. पूर्व-संस्थापक युग में बर्नार्ड मैण्डेविले (Bernard Mandeville) का यह तत्कालीन विधर्मी विचार था कि समृद्धि बचत से नहीं, वरन् व्यय करने से बढ़ती है। आदम स्मिथ ने गलत कहकर इस विचार का परित्याग कर दिया था, किन्तु केन्स ने इसे स्वीकारात्मक रूप में उद्धृत दिया है। (देखें केन्स की **जेनरल थियरी**, विशेषत: 'मरकेण्टिलिज्म पर टिप्पणियाँ') आर्थिक विचारधारा के इतिहास में न्यून उपभोग के अन्य समर्थकों लौडरडेल, माल्थस, सिस्मोंडी, मार्क्स एवं हॉबसन हैं।) देखें नोरटन, एन० वाई०, 1951 द्वारा प्रकाशित ए० एच० हैनसेन की **बिजिनेस साइकिल्स एण्ड नेशनल इन्कम**, अध्याय 14; किन्तु, हैनसेन ने सिस्मोंडी एवं मार्क्स को छोड़ दिया है।)
3. जे० शुम्पीटर, "जोन मेनर्ड केन्स 1883-1946" पूर्व उद्धृत।

दिया।' जहाँ तक दीर्घकाल में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि व्यय न करने की क्षमता के अनुमित न्यून न हो सकने योग्य दोष के विरुद्ध, केन्स का तर्क पूर्णतः प्रबल तथा मितव्यय के अनुमानित शुद्ध गुण के पक्ष में सस्थापक तर्क[1] के प्रति बिलकुल अग्राह्य है। निम्नांकित विवेचन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के विशेष संदर्भ में इस सस्थापक-भूत केन्सीय विवाद पर कुछ प्रकाश डालता है —

आय की विषमता एवं बचत-अनुपात

मान लिया कि दी हुई राष्ट्रीय आय (Y) मजदूरी-सम्बन्धी आय (Y_w) तथा गैर-मजदूरी-सम्बन्धी आय (Y_π) में समाप्त हो जाती है, जिससे कि

$$Y = Y_w + Y_\pi, \qquad (1)$$

जिसमें कि Y_w में वेतन (सफेद कालर वाले मजदूरों का) तथा Y_π में मुनाफा, लाभांश, लगान, ब्याज एवं स्वत्व-शुल्क सम्मिलित हैं यद्यपि वास्तविक विश्व में कुछ अति-व्यापकता हो सकती है, फिर भी प्रत्येक परिवार अथवा व्यक्तिगत आय प्राप्त करने वाले की आय का प्रधान साधन ही इस बात का निर्धारण करता है कि वह किस वर्ग के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार यदि किसी परिवार की आय मुख्यतः मजदूरी तथा अंशतः लाभांश (उदाहरण के लिए, इसके कुल स्टॉक पर) जो प्राप्त होती है, तो उसके परिवार को मजदूरी से प्राप्त आय वाले वर्ग के अन्तर्गत समझना चाहिए। इस प्रकार के विचार से सीमान्त साधनों से प्राप्त पारिवारिक आय एक-दूसरे को समाप्त कर देती है, जिससे मुख्य साधन ही शुद्ध रूप में रह जाता है।

---

1. सस्थापक तर्क इस विश्वास पर आधृत है कि पूँजी का संचय बचाने की व्यक्तिगत क्षमता की प्रबलता पर निर्भर करता है। इस पूँजी-संचय के एक बहुत बड़े भाग के लिए सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था 'धनिकों के उपभोग-स्थगन' पर निर्भर करती है। इस तर्क के साथ यह आशय भी जुड़ा हुआ है कि आय की विषमता आर्थिक प्रगति की एक आवश्यक शर्त है। इसके विपरीत सैद्धान्तिक प्रमाणों के अतिरिक्त, बचत को प्रोत्साहित करने में आय की विषमता का क्षेत्र इस तथ्य से भी अत्यधिक कम हो जाता है कि अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ व्यवस्थाएँ अपनी विकासात्मक पूँजी के एक बहुत बड़े भाग के लिए सरकारी बचत पर निर्भर रहती हैं। 'अन्योन्याश्रित उपभोक्ता की प्राथमिकता' जो, जैसा कि ऊपर मूल ग्रंथ में वर्णित किया जायगा, पूँजी के विकास की आवश्यक शर्त के रूप में आय की विषमता के व्यावहारिक महत्त्व को और भी कम कर देती है; इस पूर्व-कल्पित शर्त से पूँजी-विकास के तथ्य को और भी बल मिलता है।

समीकरण (1) से निम्नांकित मजदूरी एवं गैर-मजदूरी प्राचल प्राप्त होता है :

$$\frac{Y_w}{Y} = \eta, \ \frac{Y_\pi}{Y} = I - \eta, \qquad (2)$$

जो सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार के सांस्थानिक कारणों द्वारा पूर्वनिश्चित होते हैं तथा जो साधनों के मूल्य एवं पुनर्वितरण-सम्बन्धी नीति से संशोधित होते हैं। इस विवेचन के सन्दर्भ में मजदूरी-वितरण अनुपात η में किसी भी प्रकार की कमी को आय की विषमता में वृद्धि तथा इसमें किसी प्रकार की वृद्धि को आय की विषमता में कमी के रूप में समझा जायगा। आय की विषमता का यह विचार इस मान्यता पर आधारित है कि औसत राष्ट्रीय आय से कम आय प्राप्त करने वालों में मजदूरी तथा वेतन पर काम करने वालों की अत्यन्त प्रबल प्रधानता रहती है, जबकि गैर-मजदूरी पर काम कराने वाले औसत आय से अधिक आय वाले अल्प-संख्या में होते हैं। इससे अधिक, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में एक अतिरिक्त धारणा बनाई जा सकती है कि मध्यम वर्ग, जिसकी आय औसत आय से कुछ अधिक है, अपेक्षाकृत कम है। इससे यह स्पष्ट होता है कि धनी एवं निर्धन के बीच आय की विषमता चरम-सीमा पर है। आय के वितरण की यह अत्यधिक विषमता, आधारभूत रूप में, आय-उत्पादन सम्पत्ति के अत्यधिक केन्द्रीकरण का सूचक है।

अब दी हुई राष्ट्रीय आय में से कुल बचत (S) भी दो भागों में विभक्त की जाती हैं—प्रथम वह, जो मजदूरी-सम्बन्धी आय (S_w) से तथा द्वितीय वह, जो ग़ैर-मज़दूरी-सम्बन्धी ($S\pi$) आय से प्राप्त होती है। जिससे

$$S\pi = S_w + S\pi, \qquad (3)$$

जिस समीकरण का दाहिना पक्ष दीर्घकालीन प्रवृत्ति के पृथक् बचत-फलन के रूप में निर्दिष्ट किया जा सकता है (बचत की औसत एवं सीमान्त क्षमता को सूचित करते हुए) :

$$S_w = s_w \, Y_w \, s_w \, \eta \, Y, \qquad (4)$$

और

$$S\pi = s\pi \, Y\pi = s\pi \, (I - \eta) \, Y, \qquad (5)$$

यहाँ s_w मजदूरी-सम्बन्धी तथा $s\pi$ ग़ैर-मजदूरी-सम्बन्धी आय में से बचत की औसत एवं सीमान्त प्रवृत्ति हैं। यह देखा जा सकता है कि $s_w\eta$ राष्ट्रीय आय में से वेतन-भोगी मजदूर-वर्ग के बचाने की औसत तथा सीमान्त क्षमता का एवं $s\pi$ $(I-\eta)$ राष्ट्रीय आय में से वेतन न पाने वाले मजदूर वर्ग के बचाने की औसत तथा सीमान्त क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है। जैसा कि व्यावहारिक है, यह मान लिया कि

मजदूर-वर्ग के बचाने की औसत एवं उसकी सीमान्त क्षमता वेतन न पाने वाले मजदूर-वर्ग की अपेक्षा कम है, यानी $s_w < s_\pi$। यह वही अन्तर है, जो आय के पुनर्वितरण को सार्थक बनाता है।

समीकरण (3) मे (4) एव (5) को प्रतिस्थापित कर एवं नये क्रम मे रखने से कुल बचत आय एव वितरण के फलन के रूप में निम्नांकित प्रकार से प्राप्त होती है -

$$S = [s_w\eta + s_\pi(I-\eta)]Y, \tag{6}$$

जिससे हमें सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए बचत की औसत प्रवृत्ति (s) प्राप्त होती है ;

$$\frac{S}{Y} = s = {}_w\eta + s_\pi(I-\eta) \tag{7}$$

समीकरण (7) यह स्पष्ट करता है कि यदि मजदूरी-वितरण अनुपात η स्थायी रूप से नीचे आ जाता है, तो $s_w < s_\pi$ होने पर राष्ट्रीय आय में से बचाने की औसत-क्षमता में वृद्धि होगी। किसी अर्थ-व्यवस्था की विकास-दर के सम्बन्ध में समीकरण (7) के आशय को निम्नांकित प्रकार से दिखलाया जा सकता है :

$$\frac{\Delta}{Y} = G = \frac{s_w\eta + s_\pi(I-\eta)}{b} \tag{8}$$

जिसमें G निपज (अथवा पूजी) मे वृद्धि की दर तथा (b) पहले की ही तरह पूजी-निपज अनुपात है। समीकरण (8) यह बतलाता है कि यदि पूंजी निपज अनुपात स्थायी रहे, तो आय की विषमता मे वृद्धि (निम्न η के रूप मे व्यक्त) के परिणामस्वरूप निपज मे वृद्धि की दर बढने योग्य है। समीकरण (8) विषमता एव 'धनिको के उपभोग-स्थगन' के माध्यम से प्रगति की सस्थापक स्थिति की व्याख्या करता है। इस प्रकार, ऐसा जान पडता है कि आर्थिक प्रगति के अपरिहार्य पूर्वाकांक्षित के रूप मे आय की विषमता को मौन रूप में न्यायोचित करार करने मे सस्थापक अर्थशास्त्री निर्दोष थे। फिर भी, प्रयुक्त विश्लेषण दो आधारभूत बातो में अपूर्ण है : प्रथमतः, यह बचत-अनुपात पर अन्योन्याश्रित उपभोक्ता के आचरण के सम्भावित विस्थिति प्रभाव की उपेक्षा करता है तथा द्वितीयतः, यह पूंजी-निपज अनुपात पर साधनो के पुनर्वितरण के सम्भावित निम्नगामी प्रभावों की अवहेलना करता है। साथ ही, मजदूरी कमाने वालो से लेकर गैर-मजदूरी कमाने वालो के बीच आय के पुनर्वितरण, विशेषत: वैसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं पर भी जिन्होंने अवसर की समानता के प्रजातान्त्रिक सिद्धान्त मे अपने को समर्पित कर दिया है, सन्देह

प्रकट किया जा सकता है।[1] ऐसी व्यावहारिक कठिनाइयों को छोड़कर, हम उपभोक्ताओं के अन्योन्याश्रित अधिमान के वर्तमान विवेचन को ध्यान में रखते हुए आय के पुनर्वितरण तथा बचत अनुपात के सम्बन्ध पर विचार करें।

आय का समीकरण एवं बचत-अनुपात

ड्युसेनवेरी ने परिहास के रूप में अथवा अन्यथा विषमता के माध्यम से प्रगति-सम्बन्धी चिर-प्रतिष्ठित विचार पर ऐसा सुझाव देते हुए कि उस समाज में, जो अमुक के वराबर होकर रहने की संस्थागत मनोवैज्ञानिक आदत के वश में है, 'विषमता में कमी से वचत की औसत-प्रवृत्ति में वृद्धि हो सकती है,'[2] प्रश्नवाचक चिह्न लगाया है। संभव है कि इस प्रकार का प्रस्ताव 'न्यून उपभोग' के समर्थकों के इस विश्वास को, कि समर्थ माँग की अपर्याप्तता का शिकार वन जाने वाली एक विकसित अर्थ-व्यवस्था में आय का समान वितरण उपभोक्ता की माँग में वृद्धि कर सकता है, हतोत्साहित करने के उद्देश्य से दिया गया हो। फिर भी, जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था का सम्बन्ध है, अधिक समानता एवं पूँजी में वृद्धि की संगतता में केन्सीय विश्वास को दृढ़ वनाने के कार्य पर ड्यूसेनवेरी के उपर्युक्त सुझाव का संभवतः अनभिमत प्रभाव पड़ता है।

निम्नांकित विवेचन के लिए हम लोग यह एक व्यापक मान्यता स्थिर करते हैं कि सम्बद्ध अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था विदेशी वस्तुओं के आयात पर जो अन्तर्राष्ट्रीय महानुभावों के वराबर होकर रहने में सहायक सिद्ध होती है, प्रभावपूर्ण

---

1. इसके अनुरूप, एक भारतीय अर्थशास्त्री का कहना है कि आर्थिक सिद्धान्त (संस्थापक) से हमें यह पता चलता है कि अर्थ-व्यवस्था में वचत को वढ़ाने का एक तरीका आय को निर्धन व्यक्तियों से लेकर धनिकों के बीच पुनर्वितरण करना है। किन्तु वर्तमान समय में एक प्रजातन्त्र देश में इस प्रकार की नीति राजनीतिक दृष्टि से कितना सम्भव तथा सामाजिक दृष्टि से वाँछनीय भी है, यह कहना कठिन है। (देखें, डी० झा 'फिसकल पॉलिसी एन्ड द इकॉनामिक डिवेलपमेन्ट ऑफ अन्डर-डिवेलप्ड कन्ट्रीज', **इण्डियन जनरल ऑफ इकॉनामिक्स,** जुलाई, 1956।
2. देखें, जे० एस० ड्यूसेनवेरी, **इनकम, सेविंग एण्ड दि थियरी आफ कन्ज्यूमर विहेवियर,** कैम्ब्रिज, 1949, पृ० 44; साथ ही देखें एच० जी० जान्सन : 'दि इफेक्ट्स आफ इनकम रिडिस्ट्रीव्यूशन आन एग्रीगेट कन्जम्पशन विथ इंटरडिपेन्डेंस आफ कन्ज्यूमर प्रेफरेन्सिज', **इकानॉमिका** मई, 1952। इन दोनों लेखकों का सम्बन्ध विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से है, न कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में आर्थिक विकास की समस्या के लिए आय के समीकरण के आशय से।

नियत्रण (उदाहरण के लिए, चयनात्मक शुल्क दर एव अनेक विनिमय-दर के रूप मे) रखती है ।[1] इस प्रकार की मान्यता हमे आतरिक आय के समीकरण (लौरेंज-वक्र के अर्थ मे) एव उपभोग (अथवा बचत) अनुपात के सम्बन्ध को पृथक् करने के लिए अनुप्रेरित करती है । अन्य सबद्ध मान्यताओं का उल्लेख यथास्थान किया जाएगा ।

मान लिया कि दी हुई राष्ट्रीय आय (Y) का एक अंश निम्न आय वाले परिवारो (Y_1) मे, दूसरा अश मध्यम आय वाले परिवारो (Y_2) मे तथा शेष भाग उच्च आय वाले परिवारो (Y_3) मे समाप्त हो जाता है, जिससे :

$$Y = Y_1 + Y_2 + Y_3 \tag{9}$$

$$\frac{Y_1}{Y} = \mu, \ \frac{Y_2}{Y} = \varepsilon, \frac{Y_3}{Y} = I - \mu - \varepsilon \tag{10}$$

जिसके वितरण अनुपात है ।

पुन, हम कुल वास्तविक उपभोग व्यय (C) का विभाजन भी इस तरह करते है · एक अश निम्न आय वाले परिवारो (C_1), दूसरा भाग मध्यम आय वाले परिवारों (C_2) तथा शेष भाग उच्च आय वाले परिवारो (C_3) मे समाप्त हो जाता है, यानी

$$C = C_1 + C_2 + C_3, \tag{11}$$

यहाँ पुनर्वितरण के अन्योन्याश्रित प्रभाव को देखने के लिए प्रत्येक वर्ग के परिवारो की उपभोग-सम्बन्धी आदतो को स्पष्ट करना अनिवार्य है । यह मान लिया जाएगा कि पहले एव तीसरे वर्ग का उपभोग केवल उनके परिवार की अपनी-अपनी आय पर निर्भर करता है, जबकि द्वितीय वर्ग का उपभोग इनकी अपनी आय के अतिरिक्त अशत पहले एव तीसरे वर्ग की आय पर निर्भर करता है । दूसरे शब्दो मे, मध्यम वर्ग के परिवार को इस अर्थ मे प्रति-स्पर्धात्मक माना जाता है कि उनका उपभोग स्पष्टतः अन्य दो वर्गो के परिवारो के उपभोग द्वारा प्रभावित होता है । प्रथम एव तृतीय वर्गों के उपभोग मे परिवर्तन का द्वितीय वर्ग के उपभोग पर किसी हद तक प्रभाव पड़ता है, जिसकी अभी व्याख्या करनी है ।

---

1. देखे, आर० नर्क्से, प्रोब्लेम्स आफ कैपिटल फॉरमेशन इन अडर-डिवेलप्ड कन्ट्रीज पृ० 577-9 अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे अन्तर्राष्ट्रीय धनवान महानुभावो की 'स्पष्ट उपस्थिति' मे आतरिक बचत को बढाने की कठिनाइयो की विवेचना के प्रयासस्वरूप, मेनर्क्से ने, ड्यूसेनबेरी के अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के प्रदर्शनात्मक प्रभाव का, जिसका आशय अतर्राष्ट्रीय समागीकरण एव विकसित तथा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के बीच उपभोग-स्तर की विस्तृत खाई को कम करने की इच्छा है—प्रयोग किया है ।

अब समीकरण (11) के दाहिने पक्ष को तीन पृथक् उपभोग-फलन के रूप में निम्नांकित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

$$C_1 = a_1 Y_1 = a_1 \mu Y, \qquad (12)$$

$$C_3 = a_3 Y_3 = c_3 (I - \mu - \varepsilon) Y, \qquad (13)$$

और

$$C_2 = \alpha C_1 + \beta C_3 = [\alpha a_1 \mu = \beta a_3 (I - \mu - \varepsilon)] Y, \qquad (14)$$

यहाँ a_1 सम्पूर्ण निम्न आय वाले परिवारों की निम्न आय से उपभोग की औसत एवं सीमांत क्षमता है, a_3 सम्पूर्ण आय वाले परिवारों की ऊँची आय से उपभोग की औसत एवं सीमांत क्षमता है, α सम्पूर्ण मध्यम आय वाले परिवारों की निम्न आय वाले परिवारों के उपभोग की प्रतिस्पर्धा करने की एवं β मध्यम आय वाले वर्गों की ऊँची आय वाले वर्गों के उपभोग में प्रतिस्पर्धा करने की औसत तथा सीमांत क्षमता है। यहाँ आय एवं उपभोग की सीमांत प्रवृत्ति के बीच प्रतिलोम सह-सम्बन्ध की सामान्य मान्यता के अनुसार $a_1 > a_3$ है। जहाँ तक प्रतिस्पर्धा का प्रश्न है, ऐसा मान लेना उचित जान पड़ता है कि मध्यम आय वाला वर्ग, निम्न आय वाले वर्ग की अपेक्षा ऊँची आय वाले वर्ग के उपभोग को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, यानी $\beta > \alpha$ है। इसका आशय यह है कि मध्यम आय वाला वर्ग निम्न आय वाले वर्ग के उपभोग-परिवर्तन के परिणामस्वरूप अपने उपभोग में जो वृद्धि करता है, उससे अधिक मात्रा में वृद्धि वह ऊँची आय वाले वर्ग के उपभोग में परिवर्तन के परिणामस्वरूप करता है।

समीकरण (12), (13) एवं (14) को मिलाने से समीकरण (11) अब इस प्रकार से पढ़ा जा सकता है :

$$C = [a_1 \mu + \alpha a_1 \mu + \beta a_3 (I - \mu - \varepsilon) - a_3) I - \mu - \varepsilon)] Y, \qquad (15)$$

जिससे हमें सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था (c), के उपभोग की औसत प्रवृत्ति प्राप्त होती है :

$$\frac{C}{Y} = c = a_1 \mu + \alpha a_1 \mu + \beta \mu_3 (I - \mu - e) + a_3 (I - \mu - \varepsilon), \qquad (16)$$

जो यह बतलाता है कि यदि आय का पुनर्वितरण तीसरे वर्ग से पहले वर्ग में किया जाता है (जो ε को स्थायी रखकर उच्च μ एवं निम्न $I - \mu - \varepsilon$ के रूप में व्यक्त होता है), तो इस प्रकार के पुनर्वितरण से उत्पन्न आय-प्रभाव तथा अन्योन्याश्रित प्रभाव से उपभोग की औसत राष्ट्रीय-क्षमता (c) में कमी हो सकती है। स्पष्टतः समीकरण (16) यह सूचित करता है कि पुनर्वितरण का मध्यम आय वाले वर्ग पर इस प्रकार का अन्योन्याश्रित प्रभाव पड़ेगा कि राष्ट्रीय आय में इसके उपभोग की औसत एवं सीमांत-क्षमता घट जाएगी, $\alpha a_1 \mu + \beta a_3 (I - \mu - \varepsilon)$, उच्च आय वाले वर्ग पर इसका ऐसा आय-प्रभाव पड़ेगा कि राष्ट्रीय आय में इसके उपभोग की औसत एवं

सीमात-क्षमता घट जायगी, $a_3(I-\mu-\epsilon)$ और निम्न आय वाले वर्ग की आय पर इसका ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि राष्ट्रीय आय मे इसके उपभोग का औसत सीमात बढ़ जाएगा, $a_1\mu$। इसका अन्तिम परिणाम यह होता है कि राष्ट्रीय उपभोग अनुपात (c) कम हो जाता है। अतएव, यदि निम्न आय वाले वर्ग की निम्न आय मे से उपभोग की औसत एव सीमात क्षमता उच्च आय वाले वर्ग की उच्च आय की अपेक्षा अधिक है ($a_1 > a_3$) तो आय के समीकरण के परिणामस्वरूप कुल उपभोग मे सन्निहित वृद्धि $\beta < \sigma$ के विपरीत अन्योन्याश्रित प्रभाव के रहते हुए सूचक विस्थिति-बिलकुल ह्रास हो जाता है।

चूंकि राष्ट्रीय बचत-अनुपात $s=I-c$ के द्वारा दिया हुआ है, अतएव एक स्थायी पूंजी-निपज अनुपात (b) वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की विकास-दर के लिए समीकरण (16) का आशय निम्नाकित रूप मे देखा जा सकता है।

$$G_k=\frac{I-[a_1\mu+\sigma a_1\mu+\beta a_3(I-\mu-e)+a_3(I-\mu-\epsilon)]}{b} \quad (17)$$

जो यह बतलाता है कि विकास की दर (G_k) मे तभी वृद्धि हो सकती है, जबकि समीकरण (9) से (16) द्वारा वर्णित आय समीकरण के अन्योन्याश्रित प्रभाव एव आय-प्रभाव की परस्पर क्रिया के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय बचत अनुपात मे वृद्धि होती है।

उपर्युक्त विवेचन यह बतलाता है कि आय की विषमता पर आधृत 'धनिकों के उपभोग-स्थगन' के सम्बन्ध मे सस्थापक मान्यता उतनी ही अनिश्चायक है, जितना कि यह पथ-भ्रष्ट करने वाली है।[1] यह इस बात को भी बतलाता है कि प्रबल समानता एव कल्याण की भावना वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के बराबर होकर रहने एव उपभोक्ता के अन्योन्याश्रित अधिमान के सामाजिक मनोवैज्ञानिक तत्त्व से सार-ग्रहण द्वारा प्राप्त आर्थिक प्रगति की आय की अधिक समानता के साथ अनुमित असगति के सम्बन्ध मे, इतना आशकित नही होना चाहिए।

पूंजी-निपज अनुपात

अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि साधनो के पुनर्विनिधान के परिणाम-

---

1. वर्तमान विश्लेषण एस० कुजनेट्स के सशयवाद का यह कह कर कम-से-कम अंशतः समर्थन किया है : "साधारण उपमाओ मे खतरा है, ऐसे तर्क देने मे कि चूंकि पहले पश्चिमी यूरोप मे आय के विषम वितरण से बचत का सचय हुआ और आधारभूत पूंजी-निर्माण को वित्तीय आधार प्राप्त हुआ, अतएव इसी परिणाम को प्राप्त करने के लिए अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे आय की वर्तमान विषमता को बनाये रखना अथवा बढाना आवश्यक है।"—देखें इनकी 'इकॉनामिक ग्रोथ एण्ड इनकम इन इन-इक्वेलिटी', पूर्व उद्धृत।

स्वरूप, चाहे यह किसी भी प्रकार से क्यों न हुआ हो, पूँजी-निपज अनुपात में कमी, अथवा दूसरे शब्दों में, पूँजी की उत्पादकता में वृद्धि होगी अथवा नहीं। इस प्रकार विचार के पूर्व, यह मान लिया जाता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों अथवा उद्योगों के बीच आर्थिक साधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण में घोर विषमता व्याप्त है तथा दी हुई अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न उत्पादकता निहित है।

पूँजी का पुनर्विनिधान एवं उत्पादकता

मान लिया कि कोई अर्थ-व्यवस्था कृषि एवं उद्योग, दो क्षेत्रों में विभक्त है, तो पूर्ण प्रयुक्त रहने पर पूँजी के कुल वास्तविक कोष (K) को कृषि-संबंधी पूँजी (K_a) तथा औद्योगिक पूँजी (K_i) में विभक्त किया जा सकता है, जिससे कि

$$K = K_a + K_i, \tag{18}$$

जिसका वितरण अनुपात है—

$$\frac{K_a}{K} = \lambda, \frac{K_i}{K} = I - \lambda. \tag{19}$$

मान लिया कि पूर्ण-क्षमता निपज (γ) के दो अंग कृषि-सम्बन्धी निपज (γ_v) तथा औद्योगिक निपज (γ_i) है, जिससे कि

$$Y = Y_a + Y_i \tag{20}$$

तब श्रम को दिया हुआ मानकर निपज को पूँजी एवं वितरण का फलन मानकर स्पष्ट किया जा सकता है :

$$Y_a = \sigma a Ka = \sigma a \lambda K. \tag{21}$$

$$Y_i = \sigma_i K_i = \sigma_i \ (I - \lambda) K. \tag{22}$$

यहाँ इस आधार पर कि औद्योगिक क्षेत्र को कृषि-क्षेत्र की अपेक्षा श्रेष्ठतम टेक्नोलॉजिकल जानकारी तथा नवाचार-सम्बन्धी पटुता प्राप्त है यह मान लिया जाता है कि औद्योगिक पूँजी (σ_i) की औसत एवं सीमांत क्षमता कृषि-पूँजी (σ_a) से उच्च है।

प्रतिस्थापित एवं नये क्रम से रखने पर हमें संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी की औसत उत्पादकता प्राप्त होती है।

$$\frac{Y}{K} = \sigma = \sigma_v \lambda + \sigma_i \ (I - \lambda), \tag{23}$$

जो यह बतलाता है कि $a_i > \sigma_v$ होने पर पूँजी-वितरण अनुपात में $(1-\lambda)$ वृद्धि के

परिणामस्वरूप सामान्य रूप से पूँजी की औसत क्षमता (σ) मे वृद्धि हो सकती है। दूसरे शब्दो मे, उच्च औसत एव सीमात उत्पादकता वाले औद्योगिक क्षेत्र के पक्ष मे वास्तविक पूँजी के पुनर्विनिधान से सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी निपज अनुपात कम हो जाएगा। अर्थ-व्यवस्था को विकास-दर के लिए पूँजी-निपज अनुपात मे इस प्रकार के विनिधान-प्रेरित परिवर्तन का आशय रूपान्तरित विकास समीकरण के रूप मे देखा जा सकता है

$$Gk = \frac{s}{b} = s\frac{I}{b} = s\sigma = s\left[\sigma a\lambda + \sigma_I(I-\lambda)\right], \qquad (24)$$

जहाँ पहले की ही तरह s बचत-अनुपात तथा b पूँजी-निपज अनुपात है। समीकरण (24) यह स्पष्ट करता है कि यदि बचत-अनुपात स्थायी रहता है, तो भी जब तक $\sigma_I > \sigma a$ होगी, तब तक कृषि-क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र मे वास्तविक पूँजी-पुनर्विनिधान के परिणामस्वरूप निपज की वृद्धि की दर मे वृद्धि हो सकती है।

यही विश्लेषण एव तर्क उस अर्थ-व्यवस्था के साथ भी लागू होता है, जिसे विभिन्न उत्पादकता वाले निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रो मे विभक्त किया जा सकता है। किन्तु, ऐसी स्थिति मे पूँजी के पुनर्विनिधान मे अधिक राजनीतिक एव दार्शनिक कठिनाइयाँ होगी। फिर भी, विभिन्न उत्पादकता वाले भारी तथा हल्के उद्योगो अथवा निर्यात-सम्बन्धी अथवा घरेलू उद्योगो के बीच पूँजी के पुनर्विनिधान मे कम ही कठिनाइयो का सामना करना पडेगा। समीकरण (18) से (24) तक वर्णित हमारे मॉडल मे, इस प्रकार अन्तर-उद्योग पुनर्विनिधानो के अनुरूप बनाने के लिए आसानी से सशोधन किया जा सकता है।

श्रम का पुनर्विनिधान एवं उत्पादकता

पूँजी एव टेक्नोलॉजी को दिया हुआ मानकर, अब हम अर्थ-व्यवस्था के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे, श्रम के पुनर्विनिधान के सम्भावित प्रभावों पर भिन्न-भिन्न उत्पादकता वाले विभिन्न प्रकार के श्रम की उपस्थिति की मान्यता के आधार पर, विचार करे। पुन हम उत्पादन के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे पूर्ण-नियुक्त श्रम-सख्या के पुनर्विनिधान के विशेष तकनीक से निष्कर्ष निकालेंगे।

एक दी हुई पूर्ण-नियुक्त श्रम-सख्या (N) को अकुशल, श्रम (Nu) एव कुशल श्रम (Ns) मे अलग किया जाय, जिससे

$$N = Nu + Ns, \qquad (25)$$

जिसका वितरण अनुपात है।

$$\frac{Nu}{N} = r, \quad \frac{Ns}{N} = I - r \qquad (26)$$

जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, यहाँ मान्यता यह है कि श्रम-वितरण अनुपात r बहुत बड़ा है। इसका आशय यह है कि टेक्नोलॉजी के निम्न स्तर, विस्तृत तकनीकी शिक्षा के अभाव, गहन उपस्करों के अभाव एवं विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने (उदाहरण के लिए देशी विद्यार्थियों को विदेशी तकनीकी विद्यालयों में भेजना) अथवा विदेशी विशेषज्ञों की सेवाओं के अपेक्षाकृत उच्च व्यय के परिणामस्वरूप, कुशल श्रम पूँजी की ही तरह दुर्लभ है।

पुन: यह मान लो कि कुल निपज अकुशल श्रम के उत्पादन (Yu) तथा कुशल श्रम के उत्पादन (Ys) के बीच विभक्त की जा सकती है,

जिससे,

$$Y = Yu + Ys, \tag{27}$$

जिसके दाहिने पक्ष को इस प्रकार से उल्लिखित किया जा सकता है:

$$Yu = pu\ Nu = purN, \tag{28}$$

$$Ys = psNs = ps\ (I - r)\ N \tag{29}$$

यहाँ pu एवं ps क्रमश: अकुशल एवं कुशल श्रम की उत्पादकता हैं (दोनों परिस्थितियों में स्थायी प्रतिफल के आधार पर औसत एवं सीमान्त उत्पादकता समान हैं)। यहाँ भी यह मान्यता है कि अकुशल श्रम की अपेक्षा कुशल श्रम की सीमान्त उत्पादकता ऊँची है, $ps > ps$, तथा अकुशल श्रम अपने को कुशल क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के योग्य हैं। इन मान्यताओं के आधार पर, Ys क्षेत्र में पूर्ण नियुक्त श्रम का पुनर्विनिधान सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए श्रम की औसत उत्पादकता में निम्न प्रकार से वृद्धि करेगा :

$$\frac{Y}{N} = p = pur + ps\ (I - r) \tag{30}$$

समीकरण (30), यद्यपि कुशल श्रम के वितरण अनुपात ($I - r$) में वृद्धि के द्वारा औसत उत्पादकता को बढ़ाने की सम्भावना को स्पष्ट करता है, फिर भी, अच्छे प्रशिक्षण, उन्नत अभिरुचि, अथवा उपार्जित कुशलता के चलते अकुशल श्रम की क्षेत्रीय क्षमता (उच्च pu) में वृद्धि के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए श्रम की औसत उत्पादकता में वृद्धि की सम्भावनाओं को पृथक् नहीं करता।

समीकरण (30) को ध्यान में रखकर तथा Y/N को पूँजी-निपज अनुपात को प्रभावित करने वाली स्वतन्त्र इकाई के रूप में समझ कर हम बाद वाले अनुपात को संशोधित रूप में निम्नांकित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं:

$$\frac{K}{Y} = b = \frac{K/N}{Y/N} = \frac{K/N}{pur + ps\ (I - r)} \tag{31}$$

पूंजी-श्रम अनुपात को 0 के द्वारा निर्देशित करते हुए हम स्थायी बचत-

अनुपात (s) वाली अर्थ-व्यवस्था की विकास-दर के लिए समीकरण (30) एवं (31) के आशय को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

$$Gk = \frac{s}{0/[pur + ps(I-r)]}, \quad (32)$$

जो बचत अनुपात (s) एवं पूंजी की गहनता के गुणक (0) के स्थायी रहने पर कुशल श्रम के वितरण अनुपात ($I-r$) मे वृद्धि के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विकास दर (Gk) मे वृद्धि की सैद्धान्तिक सम्भावनाओं को व्यक्त करता है।

अतएव, औद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्यक्रम के अन्तर्गत पूर्ण नियुक्ति की स्थिति मे दी हुई श्रम-सख्या के उन क्षेत्रो तथा उपयोगों मे, जिनमे प्रमाण के रूप एवं पूंजी की उत्पादकता ऊँची हो, पुनर्विनिधान की योजना सम्मिलित कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार का विश्लेषण विभिन्न उत्पादकता वाले प्राकृतिक साधनों (भूमि) के पुनर्विनिधान के लाभदायक प्रभाव के सम्बन्ध मे भी किया जा सकता है। किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पूर्ण नियुक्त साधनों के पुनर्विनिधान को निर्बाध मूल्य-यन्त्र की मरजी पर छोड दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि निर्बाधों नीति की स्थिति मे आर्थिक साधनों के दीर्घकालीन तथा खतरनाक कार्यक्रम से हटाकर शीघ्र लाभ प्रदान करने वाले, किन्तु सदा उत्पादक नही, कार्यक्रम मे लगाने की सम्भावना पाई जाती है। श्रम-शक्ति लाभबन्दी के लिए सार्वजनिक श्रम-नियोजनालयों के साथ-साथ योग्यता-प्राप्त, निपुण शिल्पियो तथा विशेषज्ञों के राष्ट्रीय रोस्टरों से उत्पादक पुनर्विनिधान मे बहुत अधिक सुविधा होगी। साथ ही, प्रशिक्षित व्यक्तियों के अभाव वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को विदेशी शिल्पियों तथा विशेषज्ञों के उत्प्रवासन को प्रोत्साहन देने वाली राष्ट्रीय नीति से भी बहुत अधिक सहायता प्राप्त होगी।

अध्याय 8

आर्थिक विकास में मौद्रिक भूमिका

विकास-सम्बन्धी अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मौद्रिक विचारधारा की वर्तमान स्थिति बहुधा इस शिकायत में प्रतिविम्बित होती है कि अर्थशास्त्री एवं मौद्रिक अधिकारी अब भी उत्तम वैंकिंग-सम्बन्धी सुविधा गैर-राजनीतिक केन्द्रीय वैंकिंग-सम्बन्धी नीति एवं लोचपूर्ण मौद्रिक व्यवस्था की वांछनीयता के सम्बन्ध में विहित सामान्य वार्त्ता ही प्रस्तुत करते हैं ।[1] फिर भी, कम-से-कम दो आधुनिक अर्थशास्त्रियों—केन्स एवं शुम्पीटर ने दीर्घकालीन आर्थिक स्थायित्व एवं विकास के सम्बन्ध में मौद्रिक भूमिका (कुछ अर्थ में) के कारणात्मक महत्त्व पर जोर दिया है । केन्स सार्वजनिक साख (यानी राजकीय प्रतिकारी उधार एवं व्यय तथा विश्व-वैंक के उधार देने की क्रियाएँ) को आन्तरिक स्थायी विकास तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास दोनों की एक आवश्यक शर्त मानता था । साथ ही, दीर्घकाल में प्रवल निवेश के सहायक प्रोत्साहक के रूप में वह सस्ती मुद्रानीति के पक्ष में था । दूसरी ओर, शुम्पीटर निजी साख को आर्थिक विकास का एक प्रमुख परिवर्ती तथा साहसोद्यम एवं नवीन क्रिया का एक अपरिहार्य

---

1. उदाहरण के लिए देखें सी० आर० ह्विटलेसी, रिलेशन ऑफ मनी टू इकॉनामिक ग्रोथ,' **अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू**, मई, 1956 । साथ ही, देखें जे० जी० कर्ले एवं ई० एस० शा, फाइनान्शियल एस्पेक्ट्स आफ इकॉनामिक डिवेलपमेन्ट', पूर्व उद्धृत, सितम्बर, 1955; आर० एफ० हैरोड की पुस्तक **डायनेमिक इकॉनामिक्स** (लेक्चर 5) में 'इज़ इन्टरेस्ट ओवसोलीट' ? जोन रोविन्सन के **'दि रेट ऑफ इन्टरेस्ट ऐटसेट्रा,** में 'दि रेट ऑफ इन्टरेस्ट' (अध्याय 1 से 6); एस० पाल, 'सम एस्पेक्ट्स ऑफ मोनीटरी एन्ड फिसकल पॉलिसीस फॉर इकॉनामिक ग्रोथ इन अन्डर-डिवेलप्ड कन्ट्रीज' **'इन्डियन जनरल ऑफ इकॉनामिक्स**, जुलाई, 1956 । केवल अन्तिम लेखक का ही सम्बन्ध विशिष्ट रूप से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से है, यद्यपि इसका विश्लेपण मुख्यतः ऐतिहासिक और सांस्थानिक है ।

सहायक समझता था। केन्स एवं शुम्पीटर की इन मौद्रिक अन्तर्दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए, इस अध्याय में आर्थिक विकास की वित्तीय भूमिका (जिस पर पृथक् रूप से अगले अध्याय में विचार किया जायगा) से भिन्न, मौद्रिक भूमिका की गवेषणा की जाएगी।

वर्तमान अध्याय में स्पष्ट रूप से निम्नांकित विषयों का विवेचन किया जायगा : (क) साख, ब्याज एवं विकास के बीच फलनीय सम्बन्ध, तथा (ख) स्फीति एवं विकास-विषयक सम्बन्ध। विवेचन के उद्देश्य से हम यह सास्थानिक मान्यता स्थिर करेंगे कि सम्बद्ध अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था का एक केन्द्रीय बैंक है, इसके अतिरिक्त अन्य व्यावसायिक बैंक हैं, जो केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण (कानून अथवा रिवाज के अनुसार) में हैं, जिसका एक मौद्रिक अधिकारी है, जो जनहित में मुद्रा की उपलब्धि एवं मूल्य को निर्धारित अथवा प्रभावित करता है।

साख, ब्याज एवं विकास

यह दिखलाया जा सकता है कि निर्दिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत साख की उपलब्धि एवं ब्याज की दर निपज में वृद्धि की दर को प्रभावित कर सकती हैं। पहले हम ब्याज की दर को दिया हुआ मानकर साख एवं विकास के सम्बन्ध पर पृथक् रूप से विचार करेंगे।

'संवृत' मॉडल

संवृत व्यवस्था समझी जाने वाली अर्थव्यवस्था की वास्तविक आय में वृद्धि पर मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन के प्रभावों को दिखलाने के लिए केन्स के तरलता-अधिमान सिद्धान्त में निम्न प्रकार का संशोधन लाभदायक होगा। प्रथमतः, हम पूर्ति की गई एवं धारण के लिए माँगी गई मुद्रा के कुल परिमाण के केवल उसी भाग पर विचार करेंगे, जो आय पर निर्भर करती है तथा जिसे केन्स 'लेन-देन' तथा 'एहतियाती' प्रवृत्तियों का परिणाम बतलाते हैं। इसे उस भाग से पृथक् किया जायगा, जो ब्याज की दर एवं सन्निहित परिकल्पना की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।[1] यह संशो-

---

1. केन्स मौद्रिक साम्य के रूप में लिखते हैं कि $M = M_1 + M_2 = L_1(Y) + (L_2 r)$ जिसमें M पूर्ति की गई मुद्रा का परिमाण है, M_1 'लेन-देन' तथा 'एहतियाती उद्देश्य' में पूर्त की गई मुद्रा का परिमाण, M_2 'परिकल्पना उद्देश्य' से पूर्त की गई मुद्रा का परिमाण, $L_1(Y)$ लेन-देन तथा 'परिकल्पना के उद्देश्य' से मुद्रा की माँग का परिमाण है, जो मौद्रिक राष्ट्रीय आय पर निर्भर करता है तथा $L_2(Y)$ 'परिकल्पना के उद्देश्य' से माँगी गई मुद्रा का परिमाण है, जो ब्याज की दर पर निर्भर करता है। (देखें, जेनरल थियरी पृ० 199) यहाँ पर हमारा सम्बन्ध मुख्यतः M_1 एवं $L_1(Y)$ के प्रकारान्तर से है।

धन हमें केवल मुद्रा एवं वस्तुओं के बीच चयन (मुद्रा एवं प्रतिभूतियों को छोड़) के अध्ययन तथा मुद्रा एवं आय के बीच के प्रत्यक्ष सम्बन्ध (इनके बीच निवेश की माँग पर ब्याज की दर में परिवर्तन के द्वारा परोक्ष सम्बन्ध को छोड़) के विश्लेषण में सहायक होता है। द्वितीयतः, उपभोक्ता वस्तुओं की उपेक्षा कर हम अपने आपको लेन-देन को पूँजीगत वस्तुओं तक सीमित रखेंगे। यह अधिक सामान्य स्थिति की विशिष्ट स्थिति (जैसा कि केन्स के सिद्धान्त में) है, तथा जिसमें व्यावसायिक एवं व्यक्तिगत लेन-देन दोनों सन्निहित हैं। यह दूसरा संशोधन हमें लेन-देन से सम्बद्ध मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन से उपभोग एवं बचत को अप्रभावित छोड़कर मुद्रा एवं निवेश के सम्बन्ध पर ध्यान केन्द्रित करने में सहायता प्रदान करता है।

इस संशोधित मान्यताओं के आधार पर हम बचत-निवेश के साम्य की स्थिति को निम्नांकित रूप में व्यक्त कर सकते हैं :

$$I = S + \triangle M_i - \triangle L_1, \qquad (1)$$

जिसमें 1 शुद्ध निवेश है, S बचत है, $\triangle M_1$, लेन-देन की मुद्रा के परिमाण में वृद्धि है, जिसकी पूर्ति बैंकिंग-व्यवस्था द्वारा की जाती है तथा $\triangle L_i$ व्यापारी-समुदाय द्वारा माँग की जाने वाली लेन-देन की मुद्रा के परिमाण में वृद्धि है।

समीकरण (I) में लेन-देन के लिए माँगी गई अतिरिक्त मुद्रा से अधिक लेन-देन के लिए अतिरिक्त मुद्रा की पूर्त्ति, $\triangle M_1 - L_1$ की मात्रा के बराबर बचत से निवेश के अधिक होने, $i > S$, की सम्भावना को व्यक्त करता है। 1 एवं S के बीच विसंगति की यह सम्भावित स्थिति राबर्ट्सन के आज के निवेश-योग्य कोष की माँग के कल की आय में से आज की बचत से असंग्रह (बचानेवाले अपनी बचत से अधिक ऋण देते हैं) की मात्रा के बराबर अधिक होने की स्थिति के अनुरूप है।[1]

अब हम समीकरण (1) के परिवर्तियों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

$$I = b \triangle Y, \qquad (2)$$

$$S = sY, \qquad (3)$$

$$\triangle Mi = mY, \qquad (4)$$

$$\triangle Li = \lambda Y. \qquad (5)$$

यहाँ Y शुद्ध राष्ट्रीय आय है, b पूँजी-निपज अनुपात, s बचत-अनुपात, m लेन-देन के लिए अतिरिक्त मुद्रा की पूर्ति तथा आय का अनुपात, और λ लेन-देन के लिए अतिरिक्त माँगी गई मुद्रा एवं आय का अनुपात है। यहाँ m को मौद्रिक-नीति-प्राचल समझा जा सकता है, जिसे व्यावसायिक समुदाय की परिवर्तनीय आवश्यक-

1. देखें, डी० एच० रॉबर्टसन, सेविंग एण्ड होर्डिंग,' इकॉनामिक जनरल, सितम्बर, 1933।

ताओं के अनुरूप तथा व्यापक मौद्रिक उद्देश्यों के अनुसार बैंकिंग-व्यवस्था घटा-बढ़ा सकती है। जहाँ तक λ का सम्बन्ध है, इसे किसी दिए हुए राष्ट्रीय व्यय-स्तर (Y के रूप में व्यक्त) को ध्यान में रखते हुए व्यावसायिक समुदाय की लेन-देन के लिए कितना अधिक अथवा कम मुद्रा-धारण करने की इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हुए समझा जा सकता है।

(1) से (5) तक समीकरणों को ध्यान में रखते हुए, समीकरण (1) को इस प्रकार से पुन लिखा जा सकता है

$$b\triangle Y = sY + mY - \lambda Y = (s + m - \lambda)Y, \qquad (6)$$

जिससे मौद्रिक प्राचलों को अन्तर्ग्रस्त करते हुए विकास की निम्नांकित दर प्राप्त होती है -

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \frac{s + m - \lambda}{b}, \qquad (7)$$

जो यह व्यक्त करता है कि यदि s एव b को स्थायी रखा जाय, तो $m-\lambda$ वृद्धि से विकास की दर मे वृद्धि होगी तथा $m-\lambda$ के स्थायी रहने अथवा ह्रास होने पर यह भी क्रमश स्थायी अथवा कम होगी।

निम्न s एव उच्च b वाली अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए समीकरण (7) के नीति-सम्बन्धी आशय को समझना कोई कठिन नही है। क्योंकि समीकरण (7) के अनुसार इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था को लेन-देन के लिए मुद्रा-अनुपात की दी हुई माँग (λ) की तुलना मे लेन-देन के लिए मुद्रा-अनुपात की पूर्ति (m) को बढ़ाना होगा अथवा व्यावसायिक समुदाय को लेन-देन के लिए मुद्रा की दी हुई पूर्ति (m) की तुलना मे लेन-देन के लिए मुद्रा की माँग (λ) को घटाने के लिए समझना होगा। इस प्रकार, जैसा कि समीकरण (1) से प्रकट होता है, यदि एक विकासशील अर्थ-व्यवस्था की निवेश के लिए कोष की माँग सदा बचत एव नव-निर्मित साख के द्वारा पूर्ण हो जाती है, तो इसमे मौद्रिक परिमाण नीति के लिए क्षेत्र है।

'विवृत' मॉडल

अब विदेशी आर्थिक सम्बन्ध वाली 'विवृत' व्यवस्था समझी जाने वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की ओर ध्यान देने से, आर्थिक विकास के लिए शुद्ध विदेशी उधार के प्राचलीय महत्त्व को व्यक्त करना सम्भव है। इसके लिए हम सन्तुलित व्यापार की सहज मान्यता करेंगे, जिससे राष्ट्रों के बीच पूँजी की गति को विशुद्धत: स्वत. प्रेरित अथवा गैर-क्षतिपूरक समझा जा सके। यह मान्यता हमें 'पुनर्भुगतान' की जटिल गौण समस्या के पृथक्करण मे भी सहायता देती है; क्योंकि विदेशी निवेश की आय एव भुगतान (समुद्र-पार पूर्व-निवेश पर प्राप्त या दिया गया शुद्ध ब्याज लाभांश आदि) बाह्य भुगतान सन्तुलन के चालू खाते मे सम्मिलित होते हैं।

जहाँ तक उधार लेने वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, 'पुनर्भुगतान' की यह पिछली समस्या विदेशी पूँजी की सहायता से उत्पादन क्षमता बढ़ाने की प्रधान समस्या से गौण समझी जाती है। साथ ही, यह भी माना जा सकता है कि अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ स्वतन्त्र रूप से (यानी चालू व्यापार—संतुलन का विचार किये वगैर) वह भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से विशेषतः, पुनर्निमाण एवं विकासार्थ उधार लेती है।

साम्य की स्थिति में, एक अल्प-विकसित विवृत अर्थ-व्यवस्था का कुल निवेश इसकी कुल बचत के विशेष रूप से बराबर होता है।

$$I_h + L_f \; S_h = B_f, \tag{9}$$

जहाँ पर I_h शुद्ध घरेलू निवेश, L_f विदेशी उधार-दान, S_h घरेलु बचत तथा B_f विदेशी ऋण है। पहले की ही तरह, यहाँ पर भी सभी परिवर्तियों को वास्तविक रूप में दिखलाया गया है। समीकरण (9) का बायाँ पक्ष विवृत अर्थ-व्यवस्था के कुल 'निवेश' एवं दायाँ पक्ष इसकी कुल 'बचत' का प्रतिनिधित्व करता है। यह मान लेना अधिक उचित है कि स्पष्ट कारणों से अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं L_f शून्य, अथवा बहुत कम है; यद्यपि निर्यात आधिक्य वाली कुछ अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में, कम-से-कम समय के लिए क्षतिपूरक विदेशी उधार-दान (हम लोगों की मान्यता के अनुसार जिसे L_f सम्मिलित नहीं किया है) धनात्मक या अधिक भी हो सकता है।

समीकरण (9) से हमें निम्नांकित रूप में घरेलू निवेश प्राप्त होता है :

$$I_h = S_h + B_f - L_f, \tag{10}$$

जो यह बतलाता है कि विदेशी उधारदान से विदेशी ऋण के आधिक्य, $B_f - L_f$ की मात्रा के बराबर से घरेलू निवेश घरेलू बचत $I_h > S_h$ से अधिक हो सकता है।

पुनः हम समीकरण (10) के दोनों पक्षों को इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :

$$I_h = \frac{\Delta Y}{\sigma}, \tag{11}$$

$$S_h = sY, \tag{12}$$

$$B_f = yY, \tag{13}$$

और

$$L_f = \delta Y, \tag{14}$$

यहाँ σ पहले की ही तरह शुद्ध निवेश की औसत एवं सीमान्त उत्पादकता है, s घरेलू बचत का अनुपात है, y विदेशों से उधार लेने की औसत एवं सीमांत क्षमता

है, तथा δ विदेशो मे उधार देने की औसत एव सीमान्त क्षमता है। यह मान लेना उचित है, कि एक विवृत अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे सामान्य रूप से निम्न σ, निम्न s उच्च λ एव निम्न δ रहता है।

(11) से (14) तक के समीकरणो को ध्यान मे रखते हुए समीकरण (10) को इस प्रकार से पुन. लिखा जा सकता है :

$$\frac{\triangle Y}{\sigma} = sY + yY - \delta Y = (s + y - \delta)\ Y, \qquad (15)$$

जिससे हमे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्राचल से युक्त निपज मे वृद्धि की निम्नांकित दर प्राप्त होती है :

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \sigma\ (s + \gamma - \delta), \qquad (16)$$

जहाँ पर y एव δ दोनो नीति मे हेर-फेर की शर्त पर मौद्रिक प्राचल हैं। समीकरण (16), निरन्तर निम्न s एव निरन्तर निम्न σ के रहने पर, एक अल्प-विकसित विवृत अर्थ-व्यवस्था की दर पर विदेशो से उधार लेने की औसत क्षमता (y) मे वृद्धि अथवा विदेशो को उधार देने की सीमान्त क्षमता (δ) मे ह्रास के परिणाम-स्वरूप वृद्धि की सैद्धान्तिक सम्भावनाओ को प्रस्तावित करता है।

(9) से (16) समीकरण द्वारा चित्रित 'विवृत' माडल 'कम विकसित देशो' के साधनो एव उत्पादन-क्षमता को विकसित करने एव 'सर्वत्र जीवन-स्तर श्रम की दशाओ मे सुधार के लिए' विश्व बैंक के बढते हुए महत्त्वपूर्ण उधारदान-सम्बन्धी क्रियाओ पर केन्स के आशावादी जोर को न्यायोचित ठहराता है।[1] किन्तु, फिर भी यह महसूस किया जाता है कि यद्यपि विश्व बैंक से उधार लेना सामान्यतः आर्थिक दृष्टि से अधिक वाछित तथा राजनीतिक दृष्टि से कम अनुचित समझा जाता है, तथापि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की पूँजी-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सम्भवतः निजी विदेशी निवेश, अन्तर-राज्य निवेश तथा विदेशी अनुदान की भी आवश्यकता पडेगी।[2]

---

1. पुनर्निर्माण एव विकासार्थ विश्व बैंक पर द्वितीय आयोग की प्रथम बैठक मे 3 जुलाई 1944 वाला इनका प्रारम्भिक विचार देखें।
2. ज्ञात कारणो से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था विदेशी पूँजी के इन अतिरिक्त साधनों पर कम-से-कम विश्वास करती है। उदाहरण के लिए, एक लेखक ने निजी विदेशी निवेश के महत्त्व को इस आधार पर न्यूनतम बतलाया है कि 'लाभ की प्रवृत्ति,' 'जातीय एव राजनीतिक सम्बन्ध,' एव 'उधार देने वाले देशो की भौगोलिक स्थिति' से अत्यधिक प्रभावित होता है। (देखें डॉ० झा, फिस्कल पॉलिसी ऐंड दि इकॉनोमिक डिवेलमेंट ऑफ अन्डर-डिवेलप्ड कन्ट्रीज़, पूर्व उद्धृत) जे०

व्याज, पूंजी एवं विकास

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए व्याज की दर का दीर्घकालीन महत्त्व है, जो कि मौद्रिक नीति का एक अन्य मुख्य शस्त्र है—उसकी आधारभूत व्याख्या इन वातों पर निर्भर करती है (क) वाह्य वित्त की प्रधानता (पूर्व अवितरित लाभ के रूप में जमा की गई व्यावसायिक वचत को प्रयोग करने के वजाय वैंकिग व्यवस्था अथवा पूंजी वाज़ार से उधार लेना) और (ख) दीर्घ नियोजन क्षितिज वाले नये टिकाऊ संयंत्रों एवं उपकरणों की तीव्र आवश्यकता, भविष्य में जिनके प्रतिफल को मुद्रा के रूप में वट्टा किया जा सके। अव यह देखा जाय कि व्याज की दर किस प्रकार से चक्रदार निवेश-विषयक निर्णयों एवं इसके द्वारा आर्थिक विकास को किस प्रकार से प्रभावित कर सकती हैं।

हम व्याज की दर को निम्नांकित रूप से दिया हुआ मानकर प्रारम्भ करते हैं :

$$r=L(pY,\overline{M}), \tag{17}$$

जिसमें r मुद्रा एवं ऋण पर दिया गया व्याज है, L माँगी गई मुद्रा की मात्रा है, Y वास्तविक आय, $\overline{M}$ वैंकिग व्यवस्था द्वारा स्वतंत्र रूप से पूर्ति की गई मुद्रा की मात्रा और p निपज का औसत मूल्य है (अतएव pY मौद्रिक राष्ट्रीय आय है)। समीकरण (17) वास्तव में केन्स का खास तरलता अधिमान फलन है।

समीकरण (17) द्वारा दी गई व्याज की दर शुद्ध लाभ की दर की गणना में निम्नांकित के माध्यम से प्रवेश करती है :

$$\pi=\frac{pY-wN}{qK}-r, \tag{18}$$

जिसमें Y शुद्ध राष्ट्रीय निपज है, N श्रम-निवेश है, K पूंजीवल, π शुद्ध लाभ की दर है, p राष्ट्रीय निपज की प्रति इकाई कीमत, w श्रम-निवेश की प्रति इकाई कीमत अथवा मौद्रिक मजदूरी की दर है, एवं q पूंजी-निवेश की प्रति इकाई कीमत है। समीकरण (18) यह

वाइनर प्रत्यक्षत: विकसित उधार देने वाले देशों के दृष्टिकोण से लिखते हुए निजी विदेशी महत्त्व के सम्बन्ध में निराशवादी विचार व्यक्त करते है······"युद्ध की क्षतियों, भारी कर तथा समाजीकरण से उधार देने योग्य विदेशी निवेश के लिए उपलब्ध सम्भावित पूंजी के कोप में कम-से-कम कुछ देशों में, जो पहले पूंजी के प्रधान निर्यातक थे, वहुत कमी आ गई है।" (देखें, इनकी पुस्तक 'इन्टरनेशनल ट्रेड एवं इकॉनामिक डिवेलप्मेंट, पृ 109) जहाँ तक अन्तर-राज्य उधार देने तथा लेने का सम्बन्ध है, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ, इनके साथ के राजनीतिक वन्धन से साधारणतया भय खाती हैं। सहायक अनुदान भी इसी प्रकार राजनीतिक प्रभावों से युक्त रहते हैं, अतएव व्यावसायिक सिद्धान्तों पर दिये जाने वाले ऋण की तरह ये उत्पादक नहीं हो सकते।

बतलाता है कि मुद्रा एवं ऋण पर दी गई ब्याज की दर जितनी ही निम्न होगी, लाभ की दर उतनी ही ऊँची होगी। यह मान लिया जाता है कि चेतनशील उत्पादक, निम्नांकित उत्पत्ति-फलन की शर्त पर समीकरण (18) द्वारा दी गई शुद्ध लाभ की दर को अधिकतम बनाते है :

$$\frac{Y}{N}=f\left(\frac{K}{N}\right), \tag{19}$$

यहाँ पहले की ही तरह यह मान लिया जाता है कि चक्रदार की मात्रा को व्यक्त करने वाले पूँजी की गहनता के गुणक (K/N) मे वृद्धि से श्रम की उत्पादकता (Y/N) मे अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। $p=Y/N$ एव $\theta=K/N$ मानकर, हम इस मान्यता को निम्नाकित रूप मे व्यक्त कर सकते हैं

$$\frac{dp}{d\theta}>1, \tag{20}$$

वर्तमान मे ही हम जिस मान्यता को महत्त्वपूर्ण पायेंगे।

केन्स के पूँजी के सिद्धात के अनुरूप ही कुल लाभ की दर, यानी शुद्ध लाभ की शुद्ध जमा ब्याज की दर को, उचित बट्टे की दर के रूप मे विचार करना है, जो पूँजी के भविष्य के प्रतिफल के वर्तमान बट्टाकृत मूल्य को उस पूँजी के निर्मित करने अथवा प्राप्त करने वाले वर्तमान व्यय के बराबर बनाता है .

$$qK=\frac{pY-wN}{\pi+r}, \tag{21}$$

जिसका दाहिना पक्ष नये पूँजीगत उपकरणो के, जैसा कि केन्स ने कहा था, प्रत्याशित प्राप्ति' के वर्तमान बट्टाकृत मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है तथा जिसका बायाँ पक्ष, जिसे उसने उस उपकरण का, 'प्रतिस्थापन व्यय' कहा था, का प्रतिनिधित्व करता है। यदि हम K को टिकाऊ मानते है और $pY-wN$ के सन्दर्भ मे q_k का अवकलन करते है, तो हम लोगो की बट्टा-दर $\pi+r$ केन्स की 'पूँजी की सीमांत क्षमता' का सकेतक हो जाता है। इस बात को ध्यान मे रखना है कि हम लोगो की प्रत्याशित प्राप्ति अपेक्षित शुद्ध मौद्रिक आय (pY) घटाव अपेक्षित मौद्रिक मजदूरी (wN) का प्रतिफलन है, जबकि हम लोगो की बट्टा-दर मे दो तत्वो का समावेश है—शुद्ध लाभ की दर (π), जो जोखिम एवं अनिश्चितता की मात्रा को मापता है तथा ब्याज की दर (r), जो तरलता अधिमान की मात्रा को मापता है।

समीकरण (21) से हमे पूँजी की आय (पूँजी-निवेश के व्यक्तिगत उपभोक्ता के दृष्टिकोण से व्यय) प्राप्त होती है जो शुद्ध मौद्रिक राष्ट्रीय आय, घटाव मजदूरी-सम्बन्धी आय (श्रम-निवेश के व्यक्तिगत उपभोक्ता के दृष्टिकोण से व्यय) के बराबर होती है :

$$(\alpha+r)\ qk=pY-,wN \tag{22}$$

जिसके दोनों पक्षों को N से भाग देने तथा नये क्रम रखने से हमें निम्नांकित प्राप्त होता है :

$$\frac{K}{N} = \theta = \frac{P\frac{Y}{N} - w}{(\eta + r)q} = \frac{Pp - w}{(\eta + r)\, q} \tag{23}$$

समीकरण (23) यह वतलाता है कि पूँजी की गहनता का गुणक θ पूँजी की प्रति इकाई शुद्ध प्रत्याशित प्राप्ति $Pp\text{-}w$ से प्रत्यक्ष-रूप में तथा पूँजी की प्रति इकाई व्यय $(H+r)q$ से उलटी तरह से परिवर्तित होता है। यहाँ प्रासंगिक वात यह है कि यदि P, p, w एवं q स्थायी हों, तो व्याज की दर r में ह्रास के परिणामस्वरूप θ में वृद्धि हो सकती है। क्योंकि, सम्वद्ध प्रणाली में r ही एक ऐसा है, जिसे मौद्रिक अधिकारी प्रत्यक्ष-रूप से प्रभावित कर सकते हैं। फिर भी, जैसा कि जोन रॉबिन्सन[1] ने वतलाया है, उत्पादन की किसी प्रक्रिया में श्रम की प्रति इकाई प्रयुक्त पूँजी की मात्रा पर निम्न व्याज की दर का उत्तेजक प्रभाव भी निपज की प्रति इकाई मूल्य में ह्रास, श्रम की उत्पादकता में ह्रास या मजदूरी की दर में वृद्धि (सभी θ के अंश के रूप में आते हैं) तथा शुद्ध लाभ की दर में वृद्धि π^1 या पूँजी-निवेश की प्रति इकाई कीमत q (दोनों r के साथ-साथ θ के प्रत्येक रूप में आते हैं) से विस्थित हो सकता है। फिर भी, हमें इस सम्भावना को अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि टेक्नोलॉजी में स्वतन्त्र परिवर्तन विस्थिति-मूलक प्रवृत्ति के हो सकते हैं।

20-वीं मान्यता को ध्यान में रखते हुए, स्थायी वचत-अनुपात (s) वाली अर्थ-व्यवस्था के विकास की दर ($\triangle Y/Y$) के लिए 'सस्ती मुद्रा'-नीति के अनुकूल आशय को, यदि हय उपर्युक्त विस्थिति परिवर्तनों से प्रतितोलित नहीं हो जाता है, पूँजी की गहनता के गुणक को पूँजी-निपज अनुपात से सम्वद्ध करते हुए, वतलाना सम्भव है :

$$\frac{K}{Y} = b = \frac{K/N}{Y/N} = \frac{pp - w/(\pi + r)\ q}{P}, \tag{24}$$

और इसलिए

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \frac{s}{b} = \frac{s}{[pp - w/(\pi + r)q]/p} \tag{25}$$

---

1. देखें, इनकी पुस्तक 'दि रेट ऑफ इंटरेस्ट, एट्सेट्रा,' से विशेषत: पृ० 65।
2. यह विशेष रूप से उन उत्पादकों के लिए सत्य है, जिन्हें दूसरों से पूँजीगत वस्तुओं का क्रय करना पड़ता है; क्योंकि शुद्ध लाभ की दर में वृद्धि से पूँजीगत वस्तुओं के क्रय-मूल्य (q) में मज़दूरी की दर (w) की अपेक्षा वृद्धि हो जाती है, जिससे कि उत्पादकों को उत्पादन की प्रक्रिया में पूँजी के वदले श्रम के प्रति-स्थापन के लिए प्रेरणा मिलती है।

समीकरण (25) यह बतलाता है कि अन्य बातों के समान रहने पर निम्न ब्याज की दर, पूंजी की गहनता के गुणक (चक्रदार) पर बढ़ते हुए प्रभाव तथा श्रम की उत्पादकता पर इस बादवाले के प्रभाव के द्वारा श्रम-निपज अनुपात b को कम कर देगा और इसलिए जब बचत-अनुपात s स्थायी रहता है, तब विकास की दर $(\triangle Y/Y)$ को ऐसे ही बढ़ा देगा। ऐसे अन्य प्राचलीय परिवर्तनों तथा विस्थितिमूलक प्रकृति वाले स्वतन्त्र टेक्नालॉजिकल परिवर्तन, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, को छोड़कर, विकास कार्यक्रम तैयार करने के अस्त्र के रूप मे 'सस्ती मुद्रा'-नीति के लिए, विशेषत, इन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे जो स्थायी पूंजीगत उपकरणों के भविष्य मे अपेक्षित लाभदायक जीवन के ऊपर लाभ मे परम वृद्धि के सिद्धान्त का अनुकरण करती है,[1] कुछ क्षेत्र है, ऐसा जान पडता है।

स्फीति एव विकास*

तीसा मे कुछ अर्थशास्त्रियो ने केन्स के पूर्ण रोजगार के सिद्धान्त को स्फीति-विरोधी कहकर इसका विरोध किया था। आज भी हम देखते हैं कि कुछ अर्थशास्त्री, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप मे, स्फीति के भय से विकास-सम्बन्धी नीति का विरोध करते है। 'स्फीति-जनक' वित्त के द्वारा पूर्ण रोजगार एव आर्थिक विकास दोनो के विरोध से यह सन्देह होता है कि इसमे निहित आर्थिक तर्क-नियमनवादियों, समाजवादियो, साम्यवादियो, राष्ट्रवादियो, सरक्षणवादियों, नौकरशाही के समर्थको तथा इन सभी के सम्बन्धियो पर[2] एक हल्का, छिपा हुआ सैद्धातिक आक्रमण है। इस

---

1. गैर-बाजारवाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे भी चक्रदार निवेश के सम्बन्ध मे, निर्णय मे, सभवत व्यय के ऊपर अपेक्षित प्रतिफल की अधिकता को मापने के लिए कुछ बट्टा दरें सन्निहित रहती है।

   *यह परिच्छेद प्रारम्भ मे 'ए नोट ऑन इन्फ्लेशन एड डिवेलपमेंट' नामक शीर्षक के अन्तर्गत **रिरॉन किजैगकु** (इकॉनॉमिक स्टडीज़ क्वाटर्ली), जापान, जून, 1957 मे प्रकाशित हुआ था।

2. यह उद्धरण एफ० मैचल्प के 'दि फाइनान्स फॉर डिवेलपमेट इन पूअर कन्ट्रीज़ : फॉरेन कैपिटल एव डोमेस्टिक इन्फ्लेशन' **रिरॉन किजैगकु** अप्रैल, 1956 से है। नियमनवादियो, समाजवादियों एव अन्यों को स्फीति के समर्थको की श्रेणी मे शामिल करने की वैधता पर आपत्ति उठाई जा सकती है। मैं स्वय केन्स के इस विचार से सहमत होने की इच्छा करता हूँ कि सामूहिक बेरोजगारी (और अल्प-रोजगारी) के क्रातिकारी खतरे प्रजातत्रात्मक आस्थाओ के लिए स्फीति के सहगामी नियत्रणों की अपेक्षा अपरिमित रूप मे अधिक हानिकारक हैं। जे०

बात का थोड़ा भय है कि स्फीति-विरोधी अड़ंगा लगानेवाले अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को, आर्थिक विकास के ऊपर, मूल्य-स्थायित्व को प्राथमिकता देने के लिए, भुलावा देंगे। किन्तु, यहाँ निर्णायक सैद्धान्तिक प्रश्न यह है कि क्या स्फीति के द्वारा विकास, जैसा कि अल्प-विकसित देशों के अर्थशास्त्री आशापूर्ण ढंग से दावा करते हैं, पूँजी-संचय में सहायक होता है, अथवा, जैसा कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अर्थशास्त्री भयपूर्ण तर्क देते हैं, इसके प्रतिकूल होता है। इस टिप्पणी का उद्देश्य इसी विवादास्पद प्रश्न पर कुछ प्रकाश देना है।

सच्ची स्फीति के प्रमाण

प्रारम्भ में, जिसे केन्स ने विकसित अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध तथा अल्प-विकसित *अर्थ-व्यवस्था* से सम्बद्ध 'सच्ची स्फीति' कहा है, के बीच विभेद करना महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि सर्व-ज्ञात है, वृद्धिशील समर्थ माँग की तुलना में पूर्ण रोज़गार निपज की लोच का अभाव ही, केन्स के अर्थ में, सच्ची स्फीति के अभाव का कार्य करती है, यद्यपि केन्स ने पूर्ण रोजगार-स्तर के पूर्व ही असामान्य कठिनाइयों के परिणामस्वरूप उत्पन्न कुछ स्फीति की सम्भावनाओं की चर्चा की है :[1] फिर भी,

---

ए० शुम्पीटर ने भी अपनी मृत्यु के पूर्व अन्तिम व्याख्यान में नाटकीय ढंग से इस पर बहुत अधिक जोर दिया था।

केन्स के कथन की तुलना कीजिए : 'अतएव जबकि उपभोग की क्षमता एवं निवेश की प्रेरणा की एक-दूसरे के साथ समायोजित करने के कार्य में सन्निहित सरकार के कार्यों में वृद्धि उन्नीसवीं शताब्दी के किसी लोक-प्रचारक अथवा अमेरिका के किसी समकालीन वित्तदाता को *व्यष्टिवाद का तीव्र अतिक्रमण* जान पड़ेगा। किन्तु, ठीक इसके विपरीत, वर्तमान आर्थिक ढाँचे को सम्पूर्ण विनाश से बचाने तथा व्यक्तिगत प्रेरणा के सफल कार्यान्वियन की शर्त के रूप में एकमात्र व्यावहारिक साधन समझ कर मैं इसका समर्थन करता हूँ।' (**जनरल थियरी**, पृ० 380) ।जे० ए० शुम्पीटर का कथन : "चिरस्थायी स्फीति-जनक दबाव नौकरशाही द्वारा निजी कार्यक्रम की प्रथा पर अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता है। इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न संघर्ष एवं गत्यवरोध के लिए निजी उपक्रम को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है तथा उन्हें और अधिक नियंत्रण एवं नियमन के पक्ष में तर्क के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। (देखें, इनका मरणोपरान्त प्रकाशित लेख 'दि मार्च इनटू सोशलिज़्म', **अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू**, मई, 1950।

1. **जेनरल थियरी**, पृ० *296-302, निम्नांकित पर विशेष रूप से ध्यान दें : 'यदि* हम स्वयं उपकरणों की मात्रा में परिवर्तन के लिए अधिक मध्यान्तर की मान्यता करते है, तो अन्ततः पूर्त्ति की लोच निश्चय ही बहुत अधिक होगी। इस

जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, सच्ची स्फीति का उचित प्रमाण पूर्ण क्षमता निपज की लोच के अभाव मे पाया जाता है। क्योंकि, इन अर्थ-व्यवस्थाओ मे, श्रम का नही, वरन् वास्तविक पूँजी का अभाव ही 'मौद्रिक' प्रसार की तुलना मे 'वास्तविक' प्रसार के मार्ग मे अन्तिम कठिनाई है।

दीर्घकालिक विश्लेषण के रूप मे (उदाहरण के लिए, पाँच वर्षों के कार्यक्रम तैयार करने की अल्पकालीन अवधि से अधिक) इसका तात्पर्य यह है कि इस बात का पता लगाना अनिवार्य है कि क्या दीर्घकालिक स्फीति के लिए जो तत्त्व उत्तरदायी हैं, वे ही मूल्य-स्थायित्व के भी तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करते हैं, अथवा नही। अधिक स्पष्ट होने के लिए, इस बात की जाँच करनी चाहिए कि क्या तथाकथित स्फीति-जनक वित्त से प्राप्त निवेश का दीर्घकाल मे आय-उत्पन्न करने वाले प्रभाव की तुलना मे क्षमता-बढ़ानेवाला प्रभाव अधिक होगा, अथवा नही। यहाँ पर डोमर के निवेश की दुहरी प्रकृति प्रासगिक है; क्योकि वह इस सभावना की ओर सकेत करता है कि $\triangle I/I$ की दर से विनियोग करनेवाली कोई अर्थ व्यवस्था, यद्यपि गुणक प्रभाव के माध्यम से मौद्रिक प्रसार का अनुभव करती है, फिर भी 'सिगमा प्रभाव' के माध्यम से अधिक वास्तविक प्रसार का अनुभव कर सकती है। डोमर इसी सभावना से इस तथ्य को कि "शान्ति काल मे...... स्फीति इतनी विरल होती है"[1] सम्बद्ध करता है। कई-एक कारणो से हम किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए भी इस प्रकार की सभावना का परित्याग नही कर सकते। अब हम इसके कुछ स्वीकार कारणो की एक रूपरेखा तैयार करें कि क्यों निवेश मे वृद्धि की दी हुई दर उत्पादन-क्षमता मे इतना पर्याप्त विस्तार कर सकती है, जिससे कि दीर्घकालिक स्फीति की अनिवार्यता को अल्प करने वाले तज्जनित स्फीति-मूलक प्रभाव को यह निष्फल कर सके।

1. यदि कोई अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था, जो शुद्ध निवेश में $\triangle I/I$ की दर से वृद्धि का आयोजन करती है, अपने निवेश कार्यक्रम को मुख्यत: टिकाऊ उत्पादक उपकरणों के निर्माण की ओर सयोजित करती है, तो दीर्घकाल मे यह 'सिमगा प्रभाव'

प्रकार दूर-दूर तक विस्तृत बेरोजगारी के अन्तर्गत उत्पन्न समर्थ माँग मे साधारण परिवर्तन से मूल्य-स्तर मे बहुत कम वृद्धि होकर मुख्यत: रोजगार मे वृद्धि होती है, जबकि इसमे बड़ा परिवर्तन, जो अप्रत्याशित होने के कारण कुछ अस्थायी कठिनाइयो को उत्पन्न करता है, बाद की अपेक्षा पहले रोजगार के बदले मूल्यो मे ही वृद्धि उत्पन्न करता है।' पूर्व-उद्धृत पृ० 300-301)।

1. इ०डी० डोमर, "एक्सपैनशन एण्ड एम्पलायमेंट" **अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू**, मार्च, 1947।

को पूर्ण अवसर प्रदान करेगी और इसलिए सन्निहित, 'गुणक प्रभाव' को,यदि पूर्ण रूप से नहीं, तो कुछ मात्रा में निष्फल बना देगी। व्यवहार में इसका यह अर्थ हो सकता है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था पिरामिड-निर्माण अथवा शस्त्रीकरण की तरह की निवेश की योजनाओं में जान-बूझकर विनियोग नहीं करती है। ये योजनाएँ उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के बगैर ही माँग का सर्जन करती है। यहाँ पर हमारा संबन्ध निरपेक्ष शुद्ध निवेश[1] की तुलना में शुद्ध निवेश में कुछ वृद्धि ($\triangle 1$) के अवयव गुण्यों की उत्पादकता से है। अतएव, एक मिश्रित विवृत अर्थ-व्यवस्था में $\triangle 1/1$ को $\triangle 1p/1p, \triangle 1g/1g$ और $\triangle F/F$ में अलग-अलग करना पड़ेगा। यहाँ 1P शुद्ध निजी निवेश को बतलाता है, 1g शुद्ध राजकीय निवेश को बतलाता है और F शुद्ध विदेशी संतुलन को बतलाता है। यदि कोई अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था दीर्घकालिक स्फीति के भय का अल्पीकरण चाहती है, तो उसे शुद्ध निवेश में वृद्धि की दर के उन विशेष अवयवों पर अधिक जोर देना होगा, जिसकी उत्पादकता की संभावना सर्वाधिक हो। यह मान लिया जा सकता है कि शुद्ध निवेश में वृद्धि की राजकीय दर ($\triangle 1g/1g$) को इस संबंध में जान-बूझकर अत्यंत तत्परता के साथ चुना जा सकता है।

2. चूँकि पूँजी-संचय एवं तकनीकी प्रगति दोनों सहगामी होते हैं, अतएव यह तर्क दिया जा सकता है कि शुद्ध निवेश में वृद्धि की दर ($\triangle 1/1$) जितनी ही ऊँची होगी, शुद्ध निवेश के किसी भी स्तर के लिए, निवेश की उत्पादकता में वृद्धि (डोमर की अंकन-पद्धति में σ) की संभावना उतनी ही अधिक होगी। यदि ऐसा है, तो $\sigma 1$ की दर से बढ़ती हुई उत्पादन-क्षमता अनुमानक $\triangle 1 \alpha$ दर से बढ़ती हुई समर्थ माँग से अधिक हो सकती है (जहाँ डोमर की अंकन-पद्धति में σ बचत की सीमांत क्षमता को व्यक्त करता है)। इसी आशय का ज़ोन रॉबिन्सन का यह सुझाव है कि जितना ही अधिक यंत्रों का प्रयोग किया जाता है, उद्योग के यंत्र-निर्माण करनेवाले क्षेत्र में उत्पादन के तरीकों में सुधार के अवसर उतने ही अधिक होते हैं।[1] जैसा कि जोन रॉबिन्सन का संकेत है पूँजी के गुण में सुधार पूँजी की मात्रा का परिणाम हो सकता है। यदि यह सत्य है, तो तकनीकी प्राचलों σ के मूल्य में वृद्धि का एक तरीका पूँजी की मात्रा में वृद्धि है, या वर्तमान संदर्भ में उचित मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों के द्वारा $\triangle 1/1$ में वृद्धि करना है। विचार करने की यही पद्धति ही हावेल्मो के विचार के पीछे कार्य करती हुई जान पड़ती है :......"साधारणतया तकनीकी प्राचल रासायनिक सूत्रों एवं यंत्रशास्त्र के नियमों की अपेक्षा मानवीय चुनाव एवं मानवीय आचरण से अधिक सम्बद्ध हैं।[2] साथ ही, यह मान लेना

---

1. देखें इनका "नोट्स ऑन दि इकॉनामिक्स ऑफ टेकनिकल प्रोग्रेस", द रेट ऑफ इंटरेस्ट, एट्सेट्रा, मेकमिलन, लंदन, 1952, पृ० 63।
2. देखें इनकी पुस्तक "ए स्टडी इन दि थियरी ऑफ इकॉनामिक इवोल्यूशन, नॉर्थ हालैंड पब्लिशिंग कम्पनी, अमस्टरडम, 1954, पृ० 49।

अधिक सुरक्षित होगा कि निजी उपक्रम की प्रधानता-वाली अर्थ-व्यवस्थाओ में विस्फीति-जनक मदी की अपेक्षा स्फीति-जनक तेजी, नवीन क्रिया के लिए अधिक सहायक होती है। इस संबध मे, जे०ए० शुम्पीटर की तरह कोई भी व्यक्ति उत्पादकता को अधिकाधिक करने अथवा लागत के अल्पीकरण के उद्देश्य से नवीन क्रिया को प्रोत्साहित करने अथवा वित्त-प्रदान मे सरकार के बढते हुए महत्त्व की उपेक्षा नही कर सकता। (उदाहरण के लिए, प्रमाणस्वरूप अमेरिका के विश्वविद्यालयो मे सरकारी अनुदान के अतर्गत 'एकघातीय कार्यक्रम' से सबधित अनुसधान के कार्यों को देखें।)

3. इस प्रकार, यदि निवेश की उत्पादकता (σ) बढ जाती है, तो सभव है कि सपत्ति से प्राप्त आय (विशेषत· मुनाफा एव लाभाश) से बचाने की सीमात क्षमता एव इसके साथ ही बचने की सपूर्ण सीमात-क्षमता (α) मे भी वृद्धि हो जाय। *यदि ऐसा हो, तो अतिरिक्त*[1] *शुद्ध निवेश के लिए गुणक प्रभाव मे ह्रास होगा, जिससे* कि σ I की दर से बढनेवाली दी हुई उत्पादन-क्षमता की तुलना मे समर्थ माँग मे $\triangle I/\alpha$ की निम्न दर से वृद्धि हो सकेगी। σ वृद्धि के इस गैर-स्फीतिक सघटन के अतिरिक्त बचत की उच्च औसत क्षमता की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसका उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि के लिए लाभदायक प्रभाव होता है। इसके बदले, यदि बचत की सीमात-क्षमता (α) मे वृद्धि स्वतत्र मितव्यय-अभियान के परिणाम-स्वरूप होती है, तो इसका दीर्घकालीन प्रतिरूप (बचत की औसत क्षमता) मे वृद्धि हो सकती है, जो उत्पादन-क्षमता के लिए सभवत· लाभदायक होती है। उन-अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे जिनमे उपभोग का स्तर निम्न होता है, $\triangle I/I$ की दर से बढता हुआ साख द्वारा व्यवस्थित शुद्ध निवेश, वैयक्तिक आय पर अपने वृद्धिशील प्रभावो के द्वारा, उपभोक्ता इकाइयों मे बचत की आदत को प्रारभ करने का एक-मात्र व्यवहारिक तरीका है। यदि वास्तविक निवेश मे वृद्धि की धनात्मक दर को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से, ऋण-पत्रों अथवा स्कधो के रूप मे निवेश (वित्तीय) की व्यवस्था सौ वर्षों से अधिक तक कार्य करती है, जिससे कि बचाना तथा विनियोग करना एक बडे वर्ग का हर्षजनक कार्य हो जाता है, तो जैसा कि केन्स ने कहा है[1]—आधुनिक अल्प-विकसित, अर्थ-व्यवस्था, बचत की आदत डालने के प्रारंभिक उपाय के रूप मे $\triangle I/I$ की दर से वृद्धि पर विचार कर सकती है।

इन कारणो से बैंक साख अथवा राजकीय घाटे के द्वारा स्थायी धनात्मक दर $\triangle I/I$ से विनियोग करनेवाली अर्थ-व्यवस्था मे 'सच्ची स्फीति' को टाला जा सकता है। निवेश के उत्पादकता-प्रभाव की उपेक्षा अथवा न्यून-आकलन करने पर ही मौद्रिक

---

[1] देखें-जे०एम० केन्स, एसेज इन परसुएशन, पृ० 84।

राष्ट्रीय आय के आचरण पर इसके गुणक प्रभाव से कोई अत्यधिक भयभीत हो सकता है। डोमर के निवेश की दुहरी प्रकृति इस बात के अनुस्मारक का कार्य करती है कि निवेश के केवल एक पक्ष आय-उत्पादक पहलू पर विचार कर तथा इसके क्षमता-वर्द्धक पहलू की उपेक्षा कर सामान्य मूल्य के अस्थायित्व को कभी बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहना चाहिए। विश्लेपण के इस अंश को समाप्त करने के पूर्व इस बात पर ध्यान देना रुचिकर है कि समर्थ माँग की अपर्याप्तवाली विकसित अर्थ-व्यवस्था में दीर्घकालिक विकास एवं मूल्य-स्थायित्व के लिए आनन्ददायक शक्ति के रूप में माना जाता है।

पूँजी की वृद्धि पर स्फीति का विशिष्ट प्रभाव

हम उन कारणों को सिद्ध कर चुके हैं, जिनके परिणामस्वरूप किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में सच्ची स्फीति घटित अथवा बनी नहीं रह सकती है। फिर भी, तर्क के दृष्टिकोण से, हम यह मान लेंगे कि स्थायी धनात्मक दर $\Delta 1/1$ पर साख से प्राप्त निवेश से कुछ स्फीति उत्पन्न होनी है। अब प्रश्न यह है कि पूँजी की वृद्धि पर स्फीति का संभावित प्रभाव क्या होता है। यह निर्णायक प्रश्न है; क्योंकि औद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में पूँजी की वृद्धि कुंजी समझी जाती है। इस प्रश्न का जवाब कई तरीकों से दिया जा सकता है।

1. कोई भी व्यक्ति इस बात से शीघ्र सहमत हो सकता है कि अति-स्फीति की चरम स्थिति निजी मितव्यय के विरुद्ध काम करती है। केन्स ने भी इस संबन्ध में चेतावनी दी थी कि इस प्रकार की स्फीति के अनुभव से बचाने एवं विनियोग करने के आचरण के सम्बन्ध में समाज की मनोवृति में निश्चित रूप से संशोधन होना आवश्यक है।[1] इस प्रकार की अति-स्फीति के अतिरिक्त भी जहाँ तक बचाने एवं विनियोग करने के आचरण पर स्फीति के संघट्टन का सम्बन्ध है, दो बातों की चर्चा अनिवार्य है। प्रथमतः, हमारे समक्ष यह टिप्पणी है, जिसके अनुसार कहा जाता है कि उस देश में, जहाँ मौद्रिक रूप में व्यक्त परिसम्पत्ति-ऋण-पत्र, बीमा-पॉलिसी और बचत-जमा का परिमाण अपेक्षाकृत कम है, वहाँ स्फीति का प्रभाव कम गम्भीर होता है।[2] वास्तव में, यह बात अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं, जिनमें मध्यम वर्ग के बचाने वालों की संख्या अपर्याप्त होती है, में लागू होती है।[3] दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है

---

1. परसुएशन, पृ० 91।
2. देखें एच० सी० वालिच का 'मनी, ट्रेड एण्ड इकॉनामिक ग्रोथ' (जे० एच० विलियम्स के उपलक्षय में) 'अंडर-डिवेलपड कन्ट्रीज़ एण्ड दि इंटरनेशनल मानिटरी मेकनिज्म', मैकमिलन, न्यूयार्क, 1951।
3. देखें एस० कुज़नेट्स, 'इकॉनामिक ग्रोथ एंड इनकम इनइक्वेलिटि, अमेरिकन इकॉनामिक रिव्यू, मार्च, 1955।

कि ऋण एवं इक्विटी वित्त, बाह्य एव आतंरिक वित्त, तथा निजी एवं सार्वजनिक बचतो के सापेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध मे ठोस सूचना अथवा प्रक्षेपण होना चाहिए। क्योकि, स्फीति का इक्विटी-लाभाश, निगम एव व्यापार के लाभ तथा कर से प्राप्त राजकीय आय पर अनुकूल प्रभाव पडता है। विकासात्मक वित्त की समग्र योजना मे इक्विटी-पूंजी, अवितरित लाभ तथा बजट की बचतें[1] इतना अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है कि निजी बचत पर स्फीति के हानिकारक प्रभाव के सम्बन्ध मे सभी आशकाएँ व्यर्थ हो जाएँ।

2 साधारण प्राय. यह तर्क दिया जाता है कि स्फीति वास्तविक सम्पत्ति, स्कधों आभूषण एव स्थायी विदेशी मुद्राओ जैसे स्फीति-जनक बाड़ो मे अप-सचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है। यह दी हुई बचत की प्रकृति को अनुचित रूप मे महत्त्व देना है, जबकि सन्निहित वास्तविक प्रश्न का सम्बन्ध बचत के कुल आकार से है। जहाँ तक दी हुई बचत के विनिधान का प्रश्न है, इसकी अधिक उपयुक्त आलोचना दी हुई बचत के लाभदायक, किन्तु दीर्घकालीन दृष्टिकोण से अनुत्पादक कार्यक्रमों मे लगाने के खतरे को बतलाना होगा। किन्तु, जैसा कुछ लेखक सोचते हैं, यह मुनाफा-स्फीति नही, वरन् स्वयं लाभ की व्यवस्था है, जो दी हुई बचत के अनुचित विनिधान के लिए मूल रूप से उत्तरदायी है। इस प्रकार, ब्रिटेन के मनोरंजन (उदाहरण के लिए, कुत्तें का रेस-पथ) तथा जापान के पाचिन्को (पिनबाल) को युद्धोत्तरकालीन पुनर्निर्माण के युग मे दुर्लभ पूंजी के अनुचित उपयोग के उदाहरण के रूप मे दिया जाता है। यह सब केन्स के इस तर्क कि 'राज्य, जो दीर्घकालीन विचारो तथा सामान्य सामाजिक लाभ के आधार पर पूंजीगत मालों की सीमान्त क्षमता (वर्त्तमान सन्दर्भ में इसे उत्पादकता सम्पर्क) का पता लगाने की स्थिति मे है, निवेश की व्यवस्था में सदा अधिक उत्तरदायित्व ग्रहण करे,[2] के पक्ष को प्रबल बनाता है। यहाँ एक मुख्य बात पर जोर देना है कि जहाँ एक पूंजी-विपन्न अर्थ-व्यवस्था को सीमित बचत के उत्पादक विनिधान पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए, यहाँ इसे बचत के आकार को और अधिक बढाने की आवश्यक समस्या पर समधिक ध्यान देना चाहिए। वैयक्तिक सपत्ति-धारकों के द्वारा आत्म-रक्षा के लिए स्फीति-जनक बाडों मे दी हुई बातो के इस प्रकार के अपसरण का कोई बहुत गम्भीर परिणाम नही होगा।

---

1. बजट की बचतों के उत्पादक महत्त्व के लिए देखें मेरा शोध मॉडल्स एव फिस्कल पॉलिसी पैरामीटर्स', फाइनान्स पब्लिक (नीदर लैंड्स) नं० 2/1956।
2. जनरल थियरी, पृ० 164। इसके अतिरिक्त यदि और जब कभी बचत की निजी क्षमता-पूंजी में अपेक्षित वृद्धि के लिए अपर्याप्त सिद्ध होती है, तो केन्स राज्य द्वारा 'सामुदायिक बचत' का भार ग्रहण करने की वाछनीयता पर विचार करते है। (देखें, पूर्व उद्धृत, पृ० 376)।

3. इसका एक अन्य सम्भावित जवाव यह भी है कि स्थायी आय वाले वर्ग के विरुद्ध एवं अस्थिर आय वाले वर्ग के पक्ष में वास्तविक आय के स्फीति-प्रेरित पुर्नवितरण से अस्थिर आय वाले वर्ग की वचत की आदतों में होनेवाली कमी से अधिक वृद्धि होगी। इसका तात्पर्य यह है कि स्फीति-प्रेरित पुर्नवितरण के परिणाम-स्वरूप अस्थिर आय से वचाने की सीमान्त-क्षमता स्थिर आय से वचाने की सीमान्त-क्षमता से अधिक हो जाती है। इस प्रकार, वचाने की अवकल सीमान्त-क्षमता के दिया हुआ होने पर, यह सुगमतापूर्वक दिखलाया जा सकता है कि वास्तविक आय के प्रत्येक स्फीति-प्रेरित पुर्नवितरण से संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए वचाने की औसत क्षमता में वृद्धि होगी। इस प्रकार, यदि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए वचाने की औसत क्षमता में वृद्धि हो जाती है, तो प्रकल्पना यह है कि चाहे हम हेरोड के विकास मॉडल का अनुकरण करें अथवा डोमर के विकास मॉडल का[1], उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की दर में वृद्धि होगी। किन-किन आय-वर्गों को क्रमशः अस्थिर श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाय तथा किनको स्थिर श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाय, इस सम्वन्ध में विवाद की गुँजाइश है। किन्तु, यह मान लेना अधिक सुरक्षित है कि मुनाफ़ा प्राप्त करने वाले तथा लाभांश मिलने वाले पहली श्रेणी के अन्तर्गत के महत्त्वपूर्ण वर्ग हैं तथा व्याज या/और लगान प्राप्त करने वाले दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत के प्रधान वर्ग हैं। मजदूरी से प्राप्त आय को अस्थिर माना जाय अथवा स्थिर, यह किसी ठोस अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत संगठित श्रम के विषय में सौदा करने की सापेक्ष शक्ति पर निर्भर करता है। यदि स्फीति, जैसा कि केन्स ने कहा है, लगान-उपजीवी की सुख मृत्यु को त्वरायित करता है,[2] तो यह साहसी एवं इसी प्रकार के अन्य वर्गों के उत्साह के लिए और भी ठीक है। दूसरे शब्दों में, यदि स्फीति का प्रभाव वास्तविक आय को व्याज प्राप्त करनेवालों से मुनाफ़ा प्राप्त करने वालों के पक्ष में विवर्तन करना है, तो स्कन्धों एवं ऋण-पत्रों में वित्तीय निवेश की तुलना में पूँजीगत उपकरणों में वास्तविक निवेश अधिक होगा। यह पूँजी-संचय एवं आर्थिक विकास के लिए दीर्घकालीन लाभ की चीज़ होगी।

4. इसका एक दूसरा उत्तर इस संभावना में पाया जा सकता है कि उपभोग

---

1. देखें आर० एफ० हेरोड, टुवार्ड्स ए डायनमिक इकॉनामिक्स, मैकमिलन, लंदन, 1948, डोमर, पूर्व उद्धृत।
2. जेनरल थियरी, पृ० 376। केन्स निम्नांकित प्रकार के निवेश-माँग समीकरण $1=f(y, p, r)$ तथा मुनाफ़ा को अधिकतम बनाने की स्थिति $e(1)=r$ मानते हैं, जिनमें 1 वास्तविक निवेश है, y अतिरिक्त पुँजी-सम्पत्ति का प्रतिफल है, p पुनस्थापिन व्यय है तथा y व्याज की दर, e पूँजी की सीमान्त क्षमता ($e=Y/p$) है।

करने वाले लोग दीर्घकालिक स्फीति की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप, भविष्य मे उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्य मे और वृद्धि की प्रत्याशा से वर्तमान समय मे अधिक व्यय करने की अल्पकालीन क्षमता को रोक कर, अपने उपभोग-व्यय को धीरे-धीरे निम्न स्तर पर समायोजित करेगे। दूसरे शब्दो मे, यदि ए० सी० पीगू[1] की तरह हम यह मान लेते है कि बचत-मूल्य तल से प्रत्यक्ष रूप में और इसलिए वास्तविक नकद जमा के आकार (उदाहरण के लिए बचत खाते, सरकारी प्रतिभूतियो एव अन्य तरल साधनो—सक्षेप मे उपभोक्ताओ मे सचय की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करने वाले) से प्रतिलोमत सम्बद्ध है, जो बढते हुए मूल्यो का—'पीगू-प्रभाव' के ठीक विपरीत वास्तविक आय मे से उपभोग को हतोत्साहित और वास्तविक को प्रोत्साहित करने का प्रभाव पड़ेगा। पीगू यह मान लेते है कि परिसपत्ति के परिमाण को स्थायी रखा जाता है $A = A$, तथा निजी बचत की मात्रा परिसपत्ति के वास्तविक मूल्य का घटता हुआ फलन है, $dS/d(A/P) < o$, जिसमे S बचत है तथा P मूल्य-सूचनांक है। इन मान्यताओ के आधार पर, यदि सामान्य मूल्यो से परिसपत्ति के वास्तविक मूल्य मे ह्रास हो, जिससे कि सचय को प्रोत्साहित करने वाले बडे आधार की इच्छा मे वृद्धि हो ('सुख-सुविधा' के लिए नही, जैसा कि विकसित अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ मे पीगू तर्क देते है किन्तु वर्त्तमान सदर्भ मे सुरक्षा के लिए) तो किसी दी हुई वास्तविक आय एव ब्याज के लिए कुल बचत मे अनुमानत वृद्धि होगी।

5. अतत, केवल बचत पर ही जोर देना, मानो यह पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता एव वर्त्तमान उपभोग से वचित रहने की क्षमता दोनो का प्रतिनिधित्व करती हो, अनुचित होगा। क्योकि, मितव्यय के प्रति समाज की अभिवृत्ति के बावजूद यदि किसी विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था का औद्योगीकरण अधिक समजातीय निपज एव अधिक लोचपूर्ण औद्योगिक सगठन को प्रोत्साहित करता है, तो पूंजीगत वस्तुओ को उत्पादन करने की इसकी क्षमता मे वृद्धि हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अन्यथा निपज की विषम-जातीय बनावट से सबन्ध उपकरणो एव श्रम की विशिष्टता कम हो जाती है, जिससे की उपभोग नही होने के कारण मुक्त साधनों को बगैर किसी कठिनाई के पूंजीगत वस्तुओ के उत्पादन के लिए प्रयोग किया जा सके। इस का तात्पर्य यह भी है कि उद्योग के सगठन का चित्रण इस प्रकार की जटिलता

---

1. देखे इनका 'इकॉनामिक प्रोग्रेस इन ए स्टेबुल इनवायरन्मेंट', इकानामिका 14/1947। इसमें सन्निहित आर्थिक व्यष्टिभाव-सम्बन्धी युक्ति यह है कि बढते हुए मूल्यों के परिणामस्वरूप मौद्रिक बचत के वास्तविक मूल्य मे कमी का प्रभाव व्यक्तिगत उपभोक्ता के लिए अतिरिक्त बचत की सीमान्त उपयोगिता मे वृद्धि होती है।

एवं कुसंमंजन की अपेक्षा साधनों की अगतिशीलता, साधनों के अकशल संयोजन, तथा विशिष्ट योग्यता एवं पदार्थों की दुर्लभता से अधिक होता है। एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की कठिनाई यह हो सकती है कि इसकी पूँजीगत वस्तुओं को उत्पन्न करने की क्षमता, न कि बनाने की क्षमता, विकास के अपेक्षित लक्ष्य की दर से बहुत निम्न हो। यदि ऐसा हो, तो इसके लिए स्फीति नहीं, वरन् संरचनात्मक असमंजन को दोष देना चाहिए। क्या यह मान लेना उचित नहीं है कि बढ़ते हुए मूल्य का वातावरण संरचनात्मक सुधार के लिए सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेचन इन दोनों बातों को सूचित करता है। प्रथमतः, पूँजी-संचय की क्षमता-वर्द्धक प्रकृति स्वयं एक विस्फीतिक शक्ति है और द्वितीयतः, अति-स्फीति से कम वृद्धिशील मूल्य, द्रुतगति के औद्योगीकरण के लिए आवश्यक पूँजी-संचय में, बाधा डालने के बजाय इसे प्रोत्साहित करते हैं। यह इस बात को भी बतलाता है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को, स्फीति के भय के बगैर, यानी इस प्रकार के अनुचित भय के बगैर कि इससे मूल्य-स्थायित्व समाप्त हो जायगा, [1] अपने उत्पादक साधनों

1. कुछ विशिष्ट अर्थ-व्यवस्थाओं में 'स्फीति के द्वारा विकास' की निम्नांकित सीमाओं की चर्चा की जा सकती है : (1) गुप्त बेरोज़गारी अनुपस्थित अथवा शांत हो सकती है, जिससे कि यह मौद्रिक मजदूरी की दर पर थोड़ा अथवा बिल्कुल निम्नगामी दबाव नहीं दे सकती और मूल्य-मजदूरी की चक्राकार समस्या को उत्तेजित कर सकती है। (2) मुद्रा के घटते हुए वास्तविक मूल्य से हानि की संभावना विक्रय-मूल्य एवं लागत-व्यय के बीच अप्रत्याशित अंतर से लाभ प्राप्त करने की आशा से अधिक हो सकती है, जिससे उत्पादन की अभिप्रेरणा क्षीण हो जायगी। (3) स्फीति के चलते बलात्-बचत में वर्धनशील मुद्रा की क्रम-शक्ति के स्थायित्व में विश्वास की कमी के चलते ऐच्छिक बचत में ह्रास से बिल्कुल समाप्त हो सकती है। (4) अपनी स्थायी आय पर बढ़ते हुए मूल्यों के विपरीत प्रभाव से ऋणदाता इतने अधिक हतोत्साहित हो सकते हैं कि वे अन्य सरकारी ऋण-पत्रों अथवा विकास की योजनाओं के लिए वित्त प्राप्त करने के उद्देश्य से जारी किये गये नये निजी ऋण-पत्रों को न खरीदें। (5) मौद्रिक भ्रम का स्थान वास्तविक प्रयोजन ले सकता है, जिससे कि मजदूरी, व्याज, लगान तथा लाभांश सभी को जीवन-मान के साथ समायोजित करना एक सामान्य नियम बन जाय और इस प्रकार नियमों की बचत एवं निवेश के मूल्य पर उपभोक्ता की माँग को प्रोत्साहित किया जाय। (6) स्फीतिक उधारकर्ता देशों में बढ़े हुए कर, विनिधान की प्राथमिकता विदेशी विनिमय-संबंधी नियंत्रण, तथा सार्वजनिक नीति के अन्य स्फीति-विरोधी उपाय पूंजी-सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा प्रत्यक्ष एवं

अध्याय 9

आर्थिक विकास में वित्तीय भूमिका

राजकोषीय सिद्धांत एवं नीति के महत्त्व में राजस्व से कल्याण की ओर तथा बिल्कुल हाल में, चक्रीय स्थिरीकरण से दीर्घकालिक विकास की ओर ऐतिहासिक परिवर्त्तन हुए हैं। इस अध्याय का संबंध दीर्घकालिक विकास में वित्तीय भूमिका से है। विशिष्टत :, हम लोग निम्नांकित का पृथक् रूप से विवेचन करेंगे—(क) अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अधिकतम विकास में वित्तीय भूमिका-तथा (ख) विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के स्थायी विकास में वित्तीय भूमिका।

अधिकतम विकास के लिए वित्तीय क्रिया*

आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने के लिए राजकोषीय तरीकों का सचेत प्रयोग हाल में ही विकसित हुआ है। इसका विकास संभवत: युद्ध के पूर्व के विशुद्ध रूप से राजकोषीय नीति के प्रतिचक्रीय पहलू पर केन्स द्वारा दिये गये जोर की प्रति-

---

* यह परिच्छेद मुख्य रूप से हमारे 'दि फिस्कल रोल ऑफ गवर्नमेंट इन इकॉनामिक डिवेलपमेंट, इण्डिया जरनल ऑफ इकॉनामिक्स, जुलाई, 1956 पर आधृत हैं। पाठकों का ध्यान इसी पत्रिका के इसी अंक में प्रकाशित निम्नांकित निबंधों की ओर आकृष्ट किया जाता है : ओ० प्रकाश, "टेक्सेशन पॉलिसी इन ए ट्रेनजीशनल इकॉनामी;" डी० भा, 'फिस्कल पॉलिसी ऐंड दि इकॉनामिक डिवेलपमेंट ऑफ अंडरडिवेल्पड कंट्रीज,' एम० एस० भाटिया, 'दी रोल ऑफ पब्लिक बजटिंग इन एन अंडरडिवेल्पड इकॉनामी,' एस० पाल, 'सम एस्पेक्ट्स ऑफ मॉनीटरी ऐंड फिस्कल पॉलिसीज़ फॉर इकॉनामिक ग्रोथ इन अंडरडिवेल्पड कन्ट्रीज।'

क्रिया तथा हेरोड एवं डोमर की तरह का केन्सीयोत्तर विकास-संबंधी विश्लेषण, जो संभवतः नीति को व्यावहारिक रूप देने में सहायक होता है, के परिणाम-स्वरूप हुआ है। हेरोड-डोमर के विकास-संबंधी मॉडल विशुद्धतः अवध-नीति से संबद्ध हैं तथा राजकोषीय तटस्थता की मान्यता पर आधृत हैं। इनका मूल्यांकन विकसित अर्थ-व्यवस्था के प्रगतिशील साम्य की स्थिति को सूचित करने के लिये किया गया है। अतएव, इनका नीति-संबंधी आशय अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के ठीक विपरीत है। फिर भी, हेरोड-डोमर मॉडल केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि ये केन्स के स्थायी अल्पकालीन बचत-विनियोग सिद्धांत को गतिशील एवं दीर्घकालिक बनाने के उत्तेजक प्रयास का प्रतिनिधित्व करते हैं, वरन् इसलिए भी कि अल्प-विकसित देश के आर्थिक विकास में स्पष्ट परिवर्ती के रूप में राजकोषीय-नीति प्राचलों के प्रयोग के लिए इनमें सुधार किया जा सकता है। इस प्रकार के सुधार इस विवेचन के क्रम में किये जायेंगे। इस परिच्छेद में हम लोग अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की उत्पादन-क्षमता के विकास में सरकार के राजकोषीय कार्यों का (क) विनियोक्ता, (ख) बचानेवाला, तथा (ग) आय के पुनर्वितरक के रूप में विश्लेषण करेंगे।

विनियोक्ता के रूप में सरकार

विनियोक्ता के रूप में सरकार के राजकोषीय कार्यों को दिखलाने के लिए वास्तविक सरकारी व्यय (G) को सरकारी निवेश (I_g) तथा सरकारी उपभोग (C_g) में विभक्त करना अनिवार्य है, यानी

$$G = I_g + C_g, \qquad (1)$$

जिसमें वर्त्तमान संदर्भ में I_g को ऐसे उत्पादक कार्यों एवं उपकरणों—जैसे राजपथ, बन्दरगाहों, पुलों, विद्यालयों, अस्पतालों तथा यातायात एवं संवहन-संबंधी सुविधाओं पर राजकीय व्यय का प्रतिनिधित्व करते हुए तथा C_g को अनुत्पादक मदों, जैसे: उपभोक्ता वस्तुएँ, सामाजिक सेवाएँ, अस्त्र-शस्त्र एवं पिरामिड पर राजकीय व्यय का प्रतिनिधित्व करते हुए, समझा जा सकता है। इन दोनों प्रकार के सरकारी व्यय के बीच चुनाव करना वैधानिक रुकावट पर निर्भर करता है।

पुनः, हम यह मान लेंगे कि विनियोक्ता के रूप में सरकार के कार्य को बचाने वाले के रूप के कार्य से पृथक् करने के लिए राष्ट्रीय बजट को संतुलित बनाया जाता है, यानी—

$$G = T, \qquad (2)$$

जिसमें T वास्तविक रूप में करों की मात्रा है। हम लोग करों का शुद्ध वास्तविक राष्ट्रीय आय (Y) के फलन के रूप में उल्लिखित करेंगे :

$$T = z\,Y;\; z = \frac{T}{Y}, \tag{3}$$

जहाँ z सरकार के कर लगान की औसत (= सीमांत) क्षमता अथवा वैधानिक नियन्त्रण को ध्यान में रखते हुए केवल कर की दर है।

निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र की अन्तःक्रियाओं को प्रदर्शित करने के लिए उपभोग एवं निवेश फंक्शन को निम्नांकित रूप में उल्लिखित करना लाभदायक है :

$$C = C_p + C_g = a_p(Y - T) + a_g Y = a_p(I - z)Y + a_g Y, \tag{4}$$

जिसमें C वास्तविक रूप में कुल उपयोग व्यय, C_p निजी उपभोग, a_p खर्च करने योग्य आय $(Y - T)$ में से उपभोग की निजी औसत (= सीमांत) प्रवृत्ति, a_g राष्ट्रीय एवं सरकारी उपभोग व्यय का परिवर्तनीय औसत अनुपात है तथा शेष पहले की तरह परिभाषित रूप में ही है।

$$I = I_p + I_g = \triangle K_p + \triangle K_g = \frac{\triangle Y}{\sigma}, \tag{5}$$

जिसमें I कुल वास्तविक शुद्ध निवेश, तथा I_p निजी निवेश है। यहाँ चूँकि शुद्ध निवेश-पूँजी में वृद्धि के बराबर है, $I = \triangle K$ अतएव, जैसा कि डोमर के समीकरण में उपलक्षित है, हम निजी शुद्ध निवेश $(\triangle K_p)$ एवं सरकारी शुद्ध निवेश $(\triangle K_g)$ दोनों की निपज में वृद्धि $(\triangle Y)$ के साथ प्रत्यक्ष रूप में तथा निवेश की औसत (= सीमांत) उत्पादकता (σ) के साथ विपरीत रूप में परिवर्तित होते हुए मान सकते हैं। (यानी $\triangle Y = \sigma \triangle K$, $\sigma = \triangle Y / \triangle K$ तथा $\triangle K = \triangle Y / \sigma$ समान हैं)।

हम जानते हैं कि साम्यावस्था में कुल निवेश बराबर होता है कुल आय घटाव कुल उपभोग के, जिसे हम ऐसा लिख सकते हैं :

$$I = I_p + I_g = Y - C_p - C_g. \tag{6}$$

समीकरण (5) एवं (6) से हमें निम्नांकित रूप में उत्पादन क्षमता में वृद्धि प्राप्त होती है :

$$\triangle Y = \sigma\,(I_p + I_g) = \sigma\,(Y - C_p - C_g), \tag{7}$$

समीकरण (1) से (4) तक ध्यान में रखते हुए एवं समीकरण (7) के दोनों पक्षों को Y से विभाजित करने पर हमें निपज की पूर्ण क्षमता वृद्धि की दर (G_k) प्राप्त होती हैं :

$$\frac{\triangle Y}{Y} = G_k = \sigma\,[I - a_p(I - z) - a_g] \tag{8}$$

इस समीकरण मे तीन स्पष्ट राजकोषीय—नीति प्राचल σ, z और a_g हैं जो उचित क्रियाओं के द्वारा सबन्ध विकास की दरों में वृद्धि के योग्य हैं। अब हम समीकरण (8) के परिचालन—महत्व को स्पष्ट करें।

सर्वप्रथम, समीकरण (8) यह बतलाता है कि यदि वर्धनशील सरकारी नवेश (I_g) को यथासाध्य विशुद्ध उत्पादक स्रोतों मे लगाने से निवेश की औसत क्षमता (σ) में वृद्धि होती है, तो अन्य बातो के समान रहने पर, पूर्ण क्षमता वाली वृद्धि की दर मे बढने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस प्रकार, केन्स के अल्पकालीन गुणक सिद्धान्त की तरह जब किसी विकास-सम्बन्धी विश्लेषण मे, निवेश की क्षमता-सर्जन पहलू को इसके आय-उत्पादक पहलू से अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है, तो I_g में से पिरामिड निर्माण की तरह के व्यय को निकाल देना अनिवार्य है। जिस हद्द तक सरकारी निवेश उत्पादक कार्यों तक सीमित है (यद्यपि सार्वजनिक शिक्षा एव स्वास्थ्य-जैसे कम विस्पष्ट मामलों मे इसे मापना सुगम नही है) उसी हद्द तक, जैसा कि समीकरण (5) से स्पष्ट है, निवेश की औसत क्षमता (σ) मे वृद्धि होगी और इसीलिए जैसा कि समीकरण (8) बतलाता है, पूर्ण क्षमता विकास की दर (G_k) में भी वृद्धि होगी। यहाँ पर थोडा खतरा इस बात का है कि σ पर उत्पादक सरकारी निवेश का बुद्धिमान प्रभाव σ पर अनुत्पादक, किन्तु लाभदायक, निजी निवेश (जैसे सराय, रंगशाला, क्रीडा-मच तथा आमोद-प्रमोद-केन्द्र) के ह्रास-मान प्रभाव से विस्थित हो जाय। यहाँ उद्धार के लिए प्रत्यक्ष नियन्त्रण (जैसे विनिधान की प्राथमिकता) का सहारा लेना पड़ सकता है।

दूसरी ओर, औसत कर की दर (z) मे वृद्धि के द्वारा भी पूर्ण क्षमता-विकास दर मे वृद्धि की जा सकती है। क्योंकि, जैसा कि समीकरण (4) से स्पष्ट है, z मे वृद्धि से व्यय की जाने वाली आय मे से निजी उपभोग व्यय में कमी होती है और इसलिए समीकरण (6) के अनुसार वास्तविक आय का वह भाग, जो सरकारी निवेश के लिए उपलब्ध है, बढ जाता है। दूसरे शब्दों में, z मे वृद्धि का तात्पर्य Y के दिये हुए स्तर पर कुल करों (T) में वृद्धि है और इसलिए समीकरण (2) के अनुसार कुल सरकारी व्यय में वृद्धि है। यदि स्थायी σ के साथ-साथ सरकार के उपभोग की औसत क्षमता (a_g) स्थायी रहे, तो समीकरण (1) के अनुसार T मे वृद्धि के साथ-साथ G मे वृद्धि का तात्पर्य निश्चित रूप से सरकारी निवेश की अधिक मात्रा से है। दूसरी क्रिया केन्स के इस सुझाव के अनुरूप, यद्यपि कि विपरीत दिशा में है कि राज्य को अपनी करों की योजना के द्वारा उपभोग की क्षमता पर निर्देशक प्रभाव डालना चाहिए। (एक विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में केन्स अनुमानतः उपभोग की क्षमता मे वृद्धि करना चाहेंगे)।

अन्ततः, स्थायी z एवं σ दिया हुआ रहने पर, सरकार के उपभोग की औसत

क्षमता (a_g) में कमी के द्वारा पूर्ण क्षमता-विकास दर में वृद्धि की जा सकती है। a_g में कमी का प्रभाव सरकारी उपभोग (C_g) में कमी और इसलिए समीकरण (4) एवं (6) के अनुसार सरकारी निवेश में वृद्धि होगी। यहाँ यह बात स्वीकार की जाती है कि Y के किसी भी स्तर के लिए a_g को घटाने के प्रयास में उपभोक्ता उपदान, सामाजिक सेवाएँ, प्रतिरक्षा-सम्बन्धी व्यय एवं स्पष्ट रूप से अन्य अनुत्पादक, किन्तु सामाजिक दृष्टि से लाभदायक राजकीय व्यय को कम करने की व्यावहारिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, विशेष रूप से जब अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था कल्याण के प्रति सचेत एवं प्रतिरक्षा के प्रति सचेत राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हो।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि विनियोक्ता के रूप में सरकार पूर्ण-क्षमता विकास की दर में एक सन्तुलित बजट के ढाँचे में, (क) निवेश की औसत उत्पादकता σ में वृद्धि, (ख) कर लगाने की औसत क्षमता z में वृद्धि, तथा (ग) सरकार के उपभोग की औसत क्षमता a_g में कमी के द्वारा वृद्धि कर सकती है।

बचानेवाले के रूप में सरकार

अब सरकार के बचाने वाले के रूप में राजकोषीय कार्य पर ध्यान देने से, हम लोग अपना विश्लेषण सन्तुलित बजट की मान्यता को समाप्त कर प्रारम्भ करेंगे। यह आवश्यक है; क्योंकि जैसा कि नीचे दिखलाया जायगा, सरकारी बचत बजट के आधिक्य की मान्यता पर आधृत है।

मान लिया जाय कि वास्तविक शुद्ध आय एवं कर, अन्तरणरूप अदायगी एवं सरकारी व्यय के बीच कुछ निश्चित सम्बन्ध है :

$$\frac{T}{Y} = z, \quad \frac{R}{Y} = r, \quad \frac{G}{Y} = g, \tag{9}$$

जिसमें R अन्तरण-रूप अदायगी (जिसमें सामाजिक बीमा-सम्बन्धी लाभ, सहायता, उपदान एवं सार्वजनिक ऋण पर व्याज भी सम्मिलित है) के लिए है, r सरकार के अन्तरण-रूप की औसत (= सीमांत) क्षमता है, g सरकार के व्यय करने की औसत (=सीमांत) क्षमता है तथा शेष पहले की ही तरह हैं। यहाँ वैधानिक नियन्त्रण की शर्त पर z, r एवं g राजकोषीय नीति प्राचल हैं। समीकरण (9) के सम्बन्ध में दो बातों पर निश्चित रूप से ध्यान देना चाहिए : प्रथमतः सरकारी व्यय (G) को निवेश (I_g) एवं उपभोग (C_g) में विभक्त करने, जैसा कि हम ने सरकार के नियोक्ता के रूप में कार्य के अन्तर्गत किया था, के बजाय यहाँ हम लोग सम्पूर्ण सरकारी व्यय पर विचार करते हैं। द्वितीयतः, अन्तरण-रूप अदायगी का प्रयोग यहाँ = 'शुद्ध वापसी' (T—R) के अन्तर्गत करने के बजाय स्पष्ट रूप से आय के पुनर्वितरण के तरीके के रूप में किया गया है।

बजट-सम्बन्धी उपलक्षक स्थितियो को निम्न-रूप मे व्यक्त किया जा सकता है।

(क) $(Z-r) = g$: बजट-सम्बन्धी सन्तुलन,
(ख) $(Z-r) > g$: बजट-सम्बन्धी आधिक्य,
(ग) $(Z-r) < g$: बजट-सम्बन्धी घाटा।

यहाँ बजट-सम्बन्धी सन्तुलन (क) को शून्य सरकारी बचत, बजट-सम्बन्धी आधिक्य (ख) को धनात्मक सरकारी बचत तथा बजट-सम्बन्धी घाटे (ग) ऋणात्मक सरकारी बचत समझना चाहिए। दीर्घकालीन गतिशील राजकोषीय नीति मे बजट-सम्बन्धी इन उपलक्षक स्थितियों मे उचित परिवर्त्तन पाये जाते है। जहाँ तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ का सम्बन्ध है, यह अन्तःप्रज्ञात्मक रूप से स्पष्ट है कि बजट-सम्बन्धी आधिक्य ही सम्बद्ध स्थिति है, जिसे प्राप्त करना तथा बनाये रखना चाहिए। क्योंकि, बचाने वाले के रूप मे सरकार के राजकोषीय कार्य को अपूर्ण निजी बचत के पूरक के रूप मे ही समझना चाहिए।

समीकरण (9) को ध्यान मे रखते हुए, सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए बचत-निवेश सम्बन्ध को इस प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

$$b\triangle Y = sY + zY - rY - gY = (s + z - r - g)Y, \tag{10}$$

जिसमे $s = S/Y$ या निजी बचत अनुपात (औसत = सीमात) एवं b पूंजी-निपज अनुपात (औसत = सीमात) है। समीकरण (10) का दायाँ पक्ष निजी एवं सरकारी कुल बचत तथा बायाँ पक्ष निजी प्रेरित निवेश का प्रतिनिधित्व करता है।

समीकरण (10) से हमे पूर्ण-क्षमता विकास की दर प्राप्त होती है, जो निजी एवं सरकारी बचत अनुपात तथा पूंजी-निपज अनुपात के तकनीकी सम्बन्ध पर निर्भर करती है :

$$\frac{\triangle Y}{Y} = G_k = \frac{s + z - r - g}{b} = \sigma\,(s + z - r - g), \tag{11}$$

जो यह स्पष्ट करता है कि अन्य सभी स्वतन्त्र परिवर्त्तियो के स्थायी रहने पर, पूर्ण-क्षमता विकास दर मे धनात्मक सरकारी बचत अनुपात, $(z-r) > g$ के परिणाम स्वरूप वृद्धि होगी। फिर भी, जैसा कि समीकरण (11) सूचित करता है, यदि निजी बचत-अनुपात सामाजिक आदर्शतम विकास की दर g_m (तृतीय अध्याय मे वर्णित) के लिए अपेक्षित दर की तुलना मे बहुत कम है, तो सरकारी बचत-अनुपात को बढ़ाने के लिए वास्तव मे z, r एवं g पर वैकल्पिक राजकोषीय क्रियाएँ हैं। अतएव, $G_k = G_m$ के समग्र उद्देश्य को वैसी विशिष्ट राजकोषीय अधिकारियों के सर्वोत्तम निर्णय के अनुरूप हो, पूर्ण किया जा सकता है और यह अवश्य करना चाहिए।

पूर्ण-क्षमता विकास की दर से सामाजिक आदर्शतम विकास की दर की अधिकता $G_m > G_k$ के दिया हुआ रहने पर $G_k = G_m$ करने के लिए विकासात्मक राजकोषीय नीति का उद्देश्य G_k में वृद्धि करना होना चाहिए। ऐसा निरन्तर बजट-सम्बन्धी आधिक्य को निम्नांकित उपाय द्वारा बनाये रख कर किया जा सकता है :— (क) सरकार के बचाने की औसत क्षमता g में कमी करके, (ख) कर लगाने की औसत क्षमता z में वृद्धि के द्वारा, अथवा (ग) अन्तरण-रूप अदायगी के लिए सरकार की औसत क्षमता में कमी के द्वारा। किन्तु इनमें से किसी एक क्रिया पर दबाव को कम करने के लिए शायद तीनों क्रियाओं का सम्मिश्रण उचित होगा।

किन्तु, इस बात को ध्यान में रखना होगा कि किसी भी प्रकार से प्राप्त निरन्तर बजट-सम्बन्धी आधिक्य, सरकार के विनियोक्ता एवं बचानेवालों के रूप में राजकोषीय कार्य के अनुरूप है ; क्योंकि राजकोषीय अधिकारी को कुल सरकारी व्यय $gY = G$ के उस भाग को कम करने की ? जो उपभोक्ता वस्तुओं (C_g) के क्रय पर व्यय किया जाता है और इस प्रकार जैसा कि समीकरण (1) से स्पष्ट है, सरकारी निवेश में वृद्धि ($I_g = G - C_g$) करने की छूट है। साथ ही, इस बात पर भी ध्यान देना हैं कि बचाने वाले के रूप में सरकार की राजकोषीय भूमिका केन्स के इस सुझाव के अनुरूप है कि यदि और जब कभी 'उपभोग की वैयक्तिक क्षमता, इतनी अधिक है कि शुद्ध बचत बहुत कम होती है और इसलिए पूंजी की पूर्ति भी कम होती है, तो भी "राज्य के माध्यम से सामुदायिक बचत का स्तर पर बनाये रखना सम्भव है, जिस पर पूंजी में वृद्धि सम्भव हो सकेगी···।'[1] बजट के लिए आधिक्य के द्वारा प्राप्त की जाने वाली इस प्रकार की सामुदायिक बचत की मात्रा सामाजिक आदर्शतम विकास की दर (G_m) के सम्बन्ध में वास्तविक निजी बचत अनुपात (s) एवं पूंजी-निपज अनुपात (b) के अनुमित मूल्य पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, यदि $G_m = .03, s = .05$, एवं $b = 5$, 'सामुदायिक बचत' $(s^r - s)\,y$ होगी, जिसमें $s^s = bG_m = .15$ (आदर्शतम विकास की दर के लिए अपेक्षित बचत अनुपात), यानी राष्ट्रीय आय के किसी भी स्तर का 10 प्रतिशत $(= .15 - .05)$। इस प्रकार की 'सामुदायिक बचत' की अनुपस्थिति में अर्थ-व्यवस्था $s_r/b = .03$ की जगह $s/b = .01$ की दर से विकसित होगी। 'विवृत' व्यवस्था में पूंजी के आयात के द्वारा सामुदायिक बचत पर इस प्रकार के दबाव को बहुत अधिक कम किया जा सकता है।[1]

1. जनरल थियरी, पृ० 376।
2. देखें मेरा 'ग्रोथ एॅनेलिसिस एन्ड दि प्रोब्लेम्स ऑफ केपिटल एकुमुलेशन इन अंडर-डिवेल्पड कन्ट्रीज', पूर्व उद्धृत।

आय के पुनर्वितरक के रूप में सरकार

उपर्युक्त विवेचन में हम कर की दर एवं अंतरणरूप दर की बनावट से पृथक् रहे, किन्तु यह दिखलाना आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न आय-वर्गों पर लगाये गये विभिन्न प्रकार के करों की दरों तथा अंतरणरूप दरो से निजी बचत अनुपात मे परिवर्तन होता है और इसलिए पूर्ण-क्षमता से विकास की दर प्रभावित होती है। तदनुसार, अब हम लोग विकास-कार्यक्रम की सामान्य योजना के अन्तर्गत आय के पुनर्वितरक के रूप मे सरकार के राजकोषीय कार्यों पर विचार करेंगे।

वितरित की जानेवाली वास्तविक राष्ट्रीय आय को दो भागों में विभक्त किया जाय—पहली वह, जो निम्न आय वाले वर्ग को प्राप्त होती है (Y_1) और दूसरा वह, जो उच्च आय वालो (Y_2) को प्राप्त होती है, यानी—

$$Y = Y_1 + Y_2, \qquad (12)$$

जिसका वितरण अनुपात निम्नांकित है :

$$\frac{Y_1}{Y} = d, \; \frac{Y_2}{Y} = 1 - d. \qquad (13)$$

और आगे बढ़ने के पूर्व यह मान लिया जाय कि दो पृथक्-पृथक् आय-वर्ग हैं, जिनके बीच किसी प्रकार की गतिशीलता नही पाई जाती है तथा जिनके बीच करों, अंतरणरूप अदायगियो तथा बचत की क्षमता के संबंध मे पूर्ण विभेद पाया जाता है। इन वर्गों से बाहर सभी आय-उपार्जित करने वालो को छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार की सहज मान्यता निम्नांकित विश्लेषण मे सन्निहित आय एवं करों, अंतरणरूप अदायगियो तथा बचतो के स्थायी, किन्तु विभिन्न अनुपातो को न्यायोचित करार करने के लिए की गई है।

कुल करों को दो वर्गों में विभक्त किया जाय—एक वे, जो निम्न आयवर्गों पर लगाये जाते है (T_1), तथा दूसरे वे जो उच्च आय वर्गों पर लगाये जाते हैं (T_2)। भुगतान की योग्यता सिद्धांत के अनुसार यह मान लिया जाता है, कि पहले वर्ग पर कर की दर दूसरे वर्ग से निम्न है :

$$T = T_1 + T_2 = z_1 Y_1 + z_2 Y_2 \qquad (14)$$

जिसमें z_1 निम्न आय वर्ग पर एवं Z_2 उच्च आय वर्ग पर औसत (=सीमांत) कर की दर है।

इसी प्रकार, अंतरणरूप अदायगियो को भी दो वर्गों मे विभक्त किया जाता है, जो निम्न आय वाले वर्गों को जाती है (R_1), तथा वह जो ऊँची आय वाले

वर्गों को जाती हैं (R_2)। अंतरणरूप दर, मुख्य रूप के प्रति कल्याण से सचेत अर्थ-व्यवस्थाओं में पहले वर्ग में दूसरे की अपेक्षा साधारणतया अधिक है :

$$R = R_1 + R_2 = r_1 Y_1 + r_2 Y_2, \tag{15}$$

जिस में r_1 निम्न आय वाले वर्ग के लिए तथा r_2 ऊँची आय वाले वर्गों के लिए औसत (=सीमांत) अंतरणरूप दर हैं। $r_1 >< r_2$, यह Y_1 एवं Y_2 वर्गों के लिए उपदान को दिये जाने वाले महत्त्व पर निर्भर करता है।

करों एवं अंतरणरूप अदायगियों के पश्चात् निम्न आय वाले वर्गों की निजी बचत निम्नांकित है :

$$S_1 = s_1 (Y - T_1 + R_1) = s_1 (i - z_1 + r_1) Y_1, \tag{16}$$

जिसमें s_1 व्यय की जाने वाली आय में से निम्न आय वाले वर्ग के बचाने की औसत (=सीमांत) क्षमता है। इसी प्रकार, ऊँची आय वाले वर्ग की बचत इस प्रकार है :

$$S_2 = s_2 (Y_2 - T_2 + R_2) = s_2 (I - z_2 + r_2) Y_2, \tag{17}$$

जिसमें s_2 व्यय की जाने वाली आय में से ऊँची आय वाले वर्ग के बचाने की औसत (=सीमांत) क्षमता है। यह मान लेना सत्य प्रतीत होता है कि निम्न आय वाले वर्ग की तुलना में ऊँची आय वाले वर्ग की बचाने की सीमांत क्षमता अधिक है, अथवा $s_2 > s_1$।

(12) से (17) समीकरणों से हमें पूर्ण-क्षमता विकास की दर प्राप्त होती है, जिसमें निजी बचत-अनुपात पर राजकोषीय पुनर्वितरण के प्रभाव का समावेश है।

$$G = \frac{[s_1(i - z_1 + r_1)d + s_2 (i - z_2 + r_2) (i - d)] + z - r -}{b} \tag{18}$$

जिसमें $s_1 (i - z_1 + r_1)d$ तथा $s_2(i - z_2 + r_2) (i - d)$ राष्ट्रीय आय में से क्रमश: निम्न आय एवं ऊँची आय वाले वर्गो की बचाने की औसत (=सीमांत) क्षमता है।

समीकरण (18) यह बतलाता है कि यदि व्यय-योग्य आय में से (s_1, s_2) दोनों आयवाले वर्गो की बचाने की औसत क्षमता स्थिर रहती है, तो सरकारी बजट संतुलित हो अथवा असंतुलित, $(z - r)g$ इससे स्वतंत्र रूप में, सापेक्ष कर की दरों (z_1, z_2), सापेक्ष अंतरण-दरों (r_1, r_2) तथा वितरण अनुपात (d और इसलिए $i - d$) में परिवर्त्तन से राष्ट्रीय आय में से बचाने की कुल औसत क्षमता और इसलिए पूर्ण क्षमता-विकास दर (G_k) में परिवर्त्तन हो सकता है। और स्पष्ट बनाने के लिए, $G_k = G_m$ करने के लिए पूर्ण क्षमता विकास की दर में वृद्धि के प्रयास के लिए—(क) z_2, में कमी, (ख) r_2 में वृद्धि, (ग) z_1 में वृद्धि, तथा (घ) r_1 में कमी अथवा थोड़े में एक कम प्रगतिशील कर एवं अंतरणरूप रचना की आवश्यकता होगी। साथ ही, इसी प्रकार के प्रयास के लिए कम प्रगतिशील उत्तराधिकार अथवा मृत्यु-करों एवं अन्य तरीकों से वितरण अनुपात d में कमी की आवश्यकता होगी।

यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की जाती है कि अधिक निजी बचत के उद्देश्य से निम्न से उच्च वर्गों मे आय के पुनर्वितरण की ये राजकीय क्रियाएँ किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे प्रचलित समानता के उद्देश्य के विरुद्ध जा सकती हैं। साथ ही, यह भी स्वीकार किया जाता है कि निम्न आय वाले वर्गों से ऊँची आयवाले वर्गों मे आय के राजकोषीय पुनर्वितरण से, प्रतिस्पर्धात्मक कारणो के परिणामस्वरूप, समुदाय की उपभोग की इच्छा मे वृद्धि हो सकती है और इसलिए कुल निजी बचत में भी कमी होगी, जो पूंजी-सचय तथा निपज मे वृद्धि के लिए अहिततर सिद्ध होगी। क्योकि, यह विचारणीय बात है कि मज़दूरी उपार्जित करनेवाले परिवारो अथवा व्यक्तियो को, जो लाभ उपार्जित करने वालो की तुलना मे बहुत ही कम आय प्राप्त करते है, 'जोन्सो की बराबरी करने' का प्रबल प्रलोभन हो और जो स्वय दूसरे को 'स्मिथो से आगे बढने' के लिए प्रेरित कर सकता है। यदि ऐसा है, तो दोनो निजी बचत अनुपात (s_1, s_2) मे ह्रास होगा, जिससे उपर्युक्त राजकीय क्रियाओ का समग्र निजी बचत-अनुपात पर जो वृद्धिशील प्रभाव पड़ेगा, वह विस्थित हो जायगा। इस प्रकार, अशत इस समाजशास्त्रीय सघटन (तथाकथित 'प्रदर्शन-प्रभाव') को छोड कर तथा अशत. पूर्ण रोजगार की मान्यता पर ही कोई व्यक्ति अधिक विकास के लिए आय की विषमता की अनिवार्यता-सम्बन्धी सस्थापको की तर्क-संगति को स्वीकार कर सकता है।[1]

स्थायी विकास के लिए राजकीय क्रियाएँ*

हम लोग देख चुके है कि किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था मे दीर्घकालीन राजकोषीय कार्यों का आशय मुख्य रूप से उत्पादन-क्षमता के विकास की दर को अधिकाधिक बनाना होता है। इसके विपरीत एक विकसित बाजारी अर्थ-व्यवस्था मे दीर्घकालीन राजकोषीय क्रियाओ का निरूपण इस प्रकार की दर को स्थायी बनाने के लिए किया जाता है। अब हम एक दूसरे प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे स्थिरता प्रदान करने वालेके रूप मे सरकार की राजकोषीय क्रियाओ पर विचार करेंगे।[1]

---

1. इसके लिए पाठक का ध्यान अध्याय 7 की ओर आकृष्ट किया जाता है।

* यह अंश मुख्यत. हमारे 'ग्रोथ मॉडल्स एंड फिसकल पॉलिसी पैरामीटर्स' फाइनान्सेज पब्लिक (निदरलैंड) सं० 2/1956 पर आधृत है।

2. ए० एच० हैनसेन पहले व्यक्ति है, जिन्होंने विशुद्धतः चक्रीयविरोधी क्रियाओं के अतिरिक्त दीर्घकालीन राजकोषीय नीति की आवश्यकता पर जोर दिया। (देखें, इनकी **फिस्कल पालिसी एंड बिजिनेस साइकिल**, नोरटन, न्यूयार्क, 1941)। हेरोड, डोमर, केलेकी तथा हबलामो के तटस्थ विकास-मॉडलो में सन्निहित राजकोषीय तटस्थता की मान्यता ने बाजारी अर्थ-व्यवस्थाओ के विक्षुब्ध

गतिशील साम्यावस्था का अस्थायित्व

विशिष्ट प्राचलीय क्रियाओं को अर्थपूर्ण बनाने के लिए हम लोग विशुद्ध अवैध-नीति की परिस्थितियों में गतिशील साम्यावस्था (परिवर्तन की धनात्मक स्थायी दर के साथ) में अन्तर्निहित अस्थायित्व के विश्लेषणों से प्रारम्भ करेंगे। एक विकसित बाज़ार अर्थ-व्यवस्था मूलतः निरन्तर प्रगति के पथ से दीर्घकालिक रूप में इसलिए विचलित होती है कि निजी बचत एवं निवेश से संगत विकास की दर जनसंख्या की वृद्धि एवं तकनीकी प्रगति से संगत विकास की दर के कदाचित् ही अनुरूप होती है। इस विवेचन के उद्देश्य से हम बग़ैर उच्चावचन के निरन्तर प्रगति की साम्यावस्था की दर को निपज में वृद्धि (वास्तविक शुद्ध) की उस दर से निर्दिष्ट करेंगे, जो श्रम को बढ़ती हुई उत्पादकतावाली वृद्धिशील श्रम-संख्या को पूर्ण नियुक्ति की स्थिति में रखने के लिए अपेक्षित होती है। किसी भी समाज में प्राप्त करने योग्य विकास की यह सम्भावित अधिकतम दर है। हम इस प्रकार की दर का निम्नांकित तरीके से सन्निकट अनुमान कर सकते हैं :

औसत वास्तविक मजदूरी की दर को दिया हुआ तथा निपज एवं श्रम के

विकास की मौलिक अंतर्दृष्टि के प्रति प्रबल अनुतोष लानेवाले के रूप में कार्य किया है। हेरोड नीति के सम्बन्ध में अत्यधिक सचेत हैं, किन्तु रॉबिन्सन ने इनकी नीति-सम्बन्धी विवेचना को, इनके नये योगदानों पर बहुत कम निर्भर बतलाते हुए आलोचना की है।' (देखें इनका '**मि० हेरोड्स डायनामिक्स**', पूर्व-उद्धृत)।

स्पष्ट राजकोषीय नीति-सम्बन्धी प्राचलवाले विकास मॉडल बहुत ही कम हैं। इस सम्बन्ध में जे० बी० गुर्ले का 'फिस्कल पॉलिसी इन ए ग्रोईंग, इकॉनामी '**जरनल ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी**', दिसम्बर, 1953 ई०, एक अपवाद है। गुर्ले ने यद्यपि कि अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा उपेक्षित विकास अर्थशास्त्र के महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर ध्यान दिया है, तथापि इसकी आलोचना इन बातों को लेकर की जाती है—गतिशील साम्यावस्था की अस्थिरता-सम्बन्धी स्थिति के अपारदर्शकत्व के लिए जिसे सम्भवतः राजकोषीय नीति दूर कर सकती है; दीर्घकालिक विकास पर दीर्घकालीन राजकोषीय क्रियाओं के पुनर्वितरणात्मक प्रभावों की उपेक्षा के लिए; और विकासशील अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालिक अस्थायित्व के बदले चक्रीय अस्थायित्व पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए (यानी हैरोड के विभेद के अनुसार, 'अपेक्षित' दर एवं 'प्राकृतिक' दर में अन्तर से उत्पन्न अस्थायित्व की जगह 'वास्तविक' विकास की दर एवं 'अपेक्षित' विकास की दर में अन्तर से उत्पन्न अस्थायित्व पर)।

अनुपात को तकनीक की दृष्टि से स्थायी मानकर, हमे निम्नांकित सम्बन्ध प्राप्त होते है :

$$\frac{N}{Y}=v,\ \ N=vY,\ \ Y=\frac{N}{v}, \tag{19}$$

जिनमे N पूर्ण नियुक्त रहने पर श्रम की मात्रा है, Y वास्तविक शुद्ध राष्ट्रीय निपज और v औसत (=सीमात) श्रम-निपज अनुपात है ।

समीकरण (19) से और चूंकि श्रम की औसत उत्पादकता श्रम-निपज अनुपात का व्युत्क्रम है, निपज एव श्रम के सम्बन्ध को निम्नाकित रूप मे व्यक्त किया जा सकता है :

$$Y=pN,\left(p=\frac{1}{v}=\frac{Y}{N}\right), \tag{20}$$

जिसमे p श्रम की औसत उत्पादकता को मापनेवाला गुणाक है । यहाँ $\Delta Y=p\Delta N$ अन्तर्निहित है ।

समीकरण (19) एव (20) से तथा अतिरिक्त श्रम एवं निपज के अनुपात ($\Delta N/Y$) को n से सूचित करने पर हमे निपज मे वृद्धि की पूर्ण रोजगार-सम्बन्धी दर (G_n) प्राप्त होती है :

$$G=\frac{\Delta Y}{Y}=\frac{\Delta N}{Y}p=np \tag{21}$$

जो दर 'तटस्थ तकनीकी प्रगति' की सहज मान्यता, एव इसलिए स्थायी पूंजी-निपज अनुपात के अनुरूप स्थायी श्रम-निपज पर आधृत हैरोड के विकास की 'प्राकृतिक' दर के तुल्य है । केवल इसी मान्यता के चलते, नही तो पिछले अध्याय की 'सामाजिक आदर्शतम' विकास की दर इसके लिए अच्छा सन्निकटतम मान होती । चूंकि, हैरोड विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए 'प्राकृतिक' एवं 'अपेक्षित' विकास की दरों को पास-पास रखते है, अतएव अधिक जटिल सामाजिक आदर्शतम विकास की दर की तुलना मे समीकरण (21) द्वारा दी गई पूर्ण रोजगार-सम्बन्धी विकास की दर प्रयोग करने के लिए अधिक उचित धारणा जान पड़ती है । इस प्रकार, पूर्ण रोजगार-सम्बन्धी विकास की दर को प्राप्त करने तथा बनाए रखने के लिए पूंजी-सचय की एक निश्चित दर की आवश्यकता होती है । इस अनुकूल मान्यता पर कि तकनीकी परिस्थितियों एव साधनो के सापेक्ष मूल्य इस प्रकार हैं कि वास्तविक पूंजी एव वृद्धिशील श्रम-सख्या मे शीघ्रतापूर्वक समायोजन स्थापित हो जाता है, यह कहा जा सकता है कि G_n ही पूर्ण रोजगार को बनाये रखने की गारन्टी प्रधान करता है । किन्तु, G_n आवश्यक रूप मे पूंजी के प्रयोग की गारन्टी नही देता । यही पर हमे पूर्ण क्षमता विकास की दर, अथवा हैरोड की शब्दावली मे 'अपेक्षित दर' की ओर ध्यान देना चाहिए ।

हम जानते हैं कि पूर्ण क्षमता-दर निम्नांकित द्वारा दी जाती है :

$$G_k = \frac{s}{b} = s\sigma; \left(\sigma = \frac{1}{b} = \frac{Y}{K} \right), \qquad (22)$$

जो वृद्धिशील पूंजी के कोष के साथ श्रम-संख्या के उचित समायोजन की पूर्व कल्पना करता है। श्रम की पूर्ति को सदा लोचदार मानकर यह कहा जा सकता हैं कि G_k पूंजी के वर्तमान कोष के पूर्ण प्रयोग की गारन्टी प्रदान करता है। किन्तु, चूंकि वास्तव में जनसंख्या की वृद्धि एवं तकनीकी प्रगति सदा इस प्रकार की नहीं होती, जिससे कि पूंजी के साथ मिलाई जानेवाली श्रम की माँग के अनुरूप श्रम की लोचदार पूर्ति की व्यवस्था कर सके, अतएव G_k आवश्यक रूप से श्रम की पूर्ण नियुक्ति की गारन्टी नहीं प्रदान करता।

मान लिया जाय कि अर्थ-व्यवस्था वास्तव में G_n, यानी पूर्ण नियुक्ति की दर से बढ़ रही है अब कोई कारण नहीं है कि सिवाय संयोग अथवा निश्चित प्रायोजन के, पूर्ण-क्षमता विकास की दर G_k पूर्ण नियुक्ति-संबंधी विकास दर के सदा अनुरूप हो। किन्तु तर्क के लिए यह मान लिया जाय कि अर्थ-व्यवस्था प्रारंभ में जैसा कि जोन रॉबिन्सन ने कहा है, स्वर्णयुग में है, जिसमें पूंजी-संचय की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर में ठीक अनुरूप है, जिससे पूंजी एवं श्रम दोनों की पूर्ण नियुक्ति है। ऐसा होने पर, स्वर्णयुग को बनाये रखने के लिए आवश्यक शर्त इस प्रकार से है :

$$G_k = G_n; \frac{s}{b} = np. \qquad (23)$$

समीकरण (23) के तुल्यांक दीर्घकालिक विषमरूपता के बगैर स्थायी विकास को बनाये रखने के लिए आवश्यक शर्तों को दिखलाते हैं। मानलिया कि प्रारम्भिक काल के कुछ समय बाद किसी समय बचत-अनुपात s में स्थायी रूप से ह्रास हो जाता है, जिससे समीकरण (22) के अनुसार पूर्ण क्षमता-विकास की दर G_k पूर्ण नियुक्ति-संबंधी विकास की दर G_m से निम्न हो जाती है। $G_k < G_n$ के रूप में अंतर्जनित आघात से दीर्घकालीन स्फीति की एक पृथक् प्रवृत्ति की शुरूआत होती है; क्योंकि अब पूर्ण क्षमता विकास-दर के अनुरूप बचत-अनुपात जनसंख्या एवं तकनीक की वास्तविक प्रवृत्ति से अभिप्रेरित निवेश की दर से कम है, यानी—$bG_k = s < bG_n$; $dY_m/dt = f\ (I_m \cdot S_m)$ की तरह से यंत्र के अनुसार दीर्घकालिक स्फीती की वास्तविक अपसारी हानि मौद्रिक राष्ट्रीय आय की वृद्धिशील प्रवृत्ति से विशेषित होगी। इसमें Y, I एवं s क्रमश: आय, निवेश एवं बचत हैं तथा नीचे का लेख m मुद्रा के रूप में मापे गये परिवर्त्तियों को सूचित करता है।

इसके विपरीत, यह मान लिया जाय कि किसी खास समय में बचत-अनु

स्थायी रूप से वृद्धि हो जाती है। तो पूर्ण-क्षमता-विकास-दर पूर्ण-नियुक्ति-संबंधी विकास-दर से निश्चय ही बढ जायगी $Gk > Gn$। Gn से Gk का यह आधिक्य दीर्घ-कालिक स्थिरता की एक विपरीत पृथक् प्रवृत्ति को जन्म देता है; क्योंकि इस बार पूर्ण-क्षमता-विकास-दर के अनुरूप बचत-अनुपात जनसंख्या एव तकनीक से वास्तविक वृद्धि से अभिप्रेरित निवेश की दर से अधिक है, यानी $bGk = s > bGn$। अब $dY/dt = F\ (S - i)$ की तरह के यत्र के अनुसार, दीर्घकालिक स्थायित्व की अपसारी गति वास्तविक आय की घटती हुई प्रवृत्ति मे विशिष्ट होगी। प्रति सतुलन-नीति के अभाव मे बचत-अनुपात मे स्थायी परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप प्रारम्भिक बाधाएँ (अथवा इसके लिए, पूँजी-निपज-अनुपात मे जिसे अभी हम लोग स्थायी मानते हैं, G_k तथा Gn के बीच सदा बढने वाले विकास-सबधी अतर का सर्जन करेगी। इसमे सन्निहित दीर्घकालिक अस्थायित्व की स्फीति-जनक अथवा स्थायित्व की प्रकृति $Gk > < G_n$ पर निर्भर करेगी। अतएव, हम गतिशील साम्यावस्था के अस्थायित्व की स्थिति को बढते हुए विकास-सबधी अतर के रूप मे समझ सकते है, यानी

$$\triangle\ (G_n\text{-}G_k) = \psi\ (G_n - G_k) \qquad (24)$$

जहाँ फंकशन α की विशेषताएँ $\psi\ (0) = 0$ और $\alpha' > 0$ है (जिसमें $\psi' = dX/dt$; $X = Gn - G_k$)।

सक्षेप मे एक विशुद्ध अबंध विकासशील अर्थ-व्यवस्था में सन्निहित दीर्घकालिक अस्थायित्व की इस तरह की ही अतर्निहित प्रकृति है।

स्थायित्व प्रदान करने वाले के रूप मे सरकार

स्थायी विकास के लिए गतिशील राजकोषीय नीति के सामान्य उद्देश्यो को बतलाने के लिए उपर्युक्त विवेचन पर्याप्त है। क्योकि, $Gk < Gn$ के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न दीर्घकालिक स्फीति की सभावित स्थिति मे राजकोषीय नीति का आशय यह है कि कर एव व्यय-सबंधी क्रियाओ के द्वारा बचत-अनुपात मे इस प्रकार वृद्धि की जानी चाहिए, जिससे की $bG_k = s = bG_m$ हो जाय। दूसरी ओर, यदि $G_k < G_n$ के परिणाम-स्वरूप अर्थ-व्यवस्था मे दीर्घकालिक स्थायित्व की प्रवृत्ति की आशंका है, तो बचत-अनुपात में कमी की जानी चाहिए। किन्तु अब हमें विशिष्ट प्राचलीय क्रियाओ के विचार पर ध्यान देना चाहिए।

समीकरण (22) के अनुसार किसी समय $t > _0$ निजी बचत अनुपात s में स्थायी ह्रास के परिणाम-स्वरूप मान लिया जाय कि पूर्ण क्षमता-विकास की दर पूर्ण नियुक्ति-संबंधी विकास-दर से घट जाती है, $G_k = G_n$। यदि $G\ k = Gn$ करना है, तो आवश्यक दीर्घकालीन प्रतिकरात्मक राजकोषीय नीति धनात्मक सरकारी बचत-अनुपात को प्राप्त करने तथा बनाये रखने की होनी चाहिए। इसके विपरीत, यदि ... अनुपात मे स्थायी वृद्धि के परिणाम-स्वरूप $G_k > G_n$ के हो, तो राज-

कोषीय नीति को ऋणात्मक सरकारी बचत-अनुपात (यानी बजट-संबंधी घाटा रखने) को प्राप्त करने एवं बनाये रखने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि, निरंतर बजट-संबंधी आधिक्य के परिणाम-स्वरुप पूर्ण-क्षमता-विकास की दर के अनुरूप बचत में इतनी मात्रा में वृद्धि होती है, जिससे यह जससंख्या एवं तकनीकी वास्तविक प्रवृत्तियों से अभिप्रेरित विकास की दर के बराबर हो जाय। इसके विपरीत निरंतर बजट-संबंधी घाटे के परिणामस्वरुप पूर्ण क्षमता-विकास की दर के अनुरूप बचत की मात्रा में इतनी कमी हो जाती है। समीकरण (11) को ध्यान रखते हुए हम समीकरण (23) को निम्नांकित प्रकार से पुन: लिख सकते हैं :

$$\frac{s+z-r-g}{b}=np, \qquad (25)$$

जो गतिशील साम्यावस्था की एक नई स्थिति, जिसे राजकोपीय क्रियाओं द्वारा पूरा किया जाता है, को व्यक्त किया करता है। समीकरण (25) यह बतलाता है कि यदि $G_k < G_n$ के परिणाम-स्वरूप दीर्घकालिक स्फीति का भय है, तो इसे निरंतर बजट-संबंधी अधिक्य $(z-r) > g$ के द्वारा दूर किया जा सकता है। और इसी प्रकार यदि $G_k > G_n$ के परिणाम स्वरुप दीर्घकालिक स्थायित्व की आंशका है, तो इसे निरंतर बजट-संबंधी घाटे $(z-r) < g$ के द्वारा दूर किया जा सकता है।

साथ ही. समीकरण (25) यह प्रस्तावित करता है कि अपूर्ण अथवा अत्यधिक निजी बचत को पूरा करने के लिए बजट-सम्बन्धी आधिक्य अथवा घाटे को प्राप्त करने के लिए राजकोपीय अधिकारी द्वारा राजकोपीय नीति-प्राचलों—Z, r एवं g के लिए वैकल्पित क्रियाएँ की जा सकती हैं। यदि निजी बचत के अनुरूप पूर्ण-क्षमता-विकास की दर पूर्ण रोजगार-सम्बन्धी विकास-दर से सामान्यत: ऊँची है, तो जैसा कि हैरोड का प्रस्ताव है, $G_k = G_n$ करने के उद्देश्य से निम्नांकित की आवश्यकता होगी—(क) सरकार के व्यय करने की औसत क्षमता g में वृद्धि, (ख) कर लगाने की औसत क्षमता z में कमी, तथा (ग) अन्तरण-रूप की औसत क्षमता r में वृद्धि— संक्षेप में लगातार बजट-सम्बन्धी घाटे के द्वारा ऐसा किया जा सकता है। इस प्रकार, विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की तरह यदि निजी पूँजी-संचय की दर की प्रवृत्ति जनसंख्या में वृद्धि एवं तकनीकी प्रगति की दर का अतिक्रमण करने की होती है, तो बजट-सम्बन्धी घाटे को बनाये रखने का प्रयास, अनैतिक होने के बजाय, दीर्घकालिक स्थायित्व के वग़ैर, श्रम एवं पूंजी दोनों की पूर्ण नियुक्ति से युक्त स्थायी विकास को प्रोत्साहित करने के सामान्य उद्देश्य के पूर्णतया अनुरूप है। यदि करों में कमी, सरकारी व्यय तथा अन्तरण-रूप अदायगी के उचित सम्मिश्रण के द्वारा लगातार उत्प्लावन अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखा जा सकता है, तो बजट-सम्बन्धी घाटा-विपयक सामान्य आक्षेप बहुत हद्द तक तथ्यहीन हो जायेंगे।

समीकरण (12) से लेकर (18) तक से हम यह जानते हैं कि निजी

बचत दर को प्रभावित करने और इसलिए दी हुई पूर्ण रोजगार-सम्बन्धी विकास-दर की तुलना मे पूर्ण-क्षमता-विकास-दर को स्थायी बनाने के लिए राजकोषीय अधिकारी कर एव अन्तरणरूप की दरो मे परिवर्तन कर सकते है। इन समीकरणो को ध्यान मे रखते हुए, हम लोग गतिशील साम्यावस्था की मौलिक शर्तों को विस्तृत रूप मे इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं .

$$\frac{[s_1(I-z_1+r_1)d+s_2(I-z_2+r_2)(I-d)]+z-r-g}{b}=np, \quad (26)$$

जो यह बतलाता है कि यदि $G_k < G_n$ के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न दीर्घकालिक स्फीति को टालना है, तो z_2 एवं r_1 मे कमी तथा r_2 एव z_1 मे वृद्धि-यानी कम प्रगतिशील कर एव अन्तरण-रूप सरचना के द्वारा समग्र निजी बचत अनुपात मे वृद्धि की जा सकती है। ठीक इसके विपरीत यह बतलाता है कि यदि $G_k > G_n$ के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न दीर्घकालिक अस्थायित्व को रोकना है, तो z_2 एवं r_1 मे वृद्धि तथा r_2 एवं z_1 मे कमी, यानी अधिक प्रगतिशील कर एवं अन्तरण-रूप सरचना के द्वारा समग्र निजी बचत-अनुपात मे कमी की जा सकती है। पहले की ही तरह, पृथक् की जाने योग्य प्रकृति की ये प्राचलीय क्रियाएँ $s_2 > s_1$ की पूर्व कल्पना करती है।

हमारी इस सम्भावना पर भी स्वीकृति देनी चाहिए कि उन व्यक्तिगत फर्मों अथवा उद्योगो, जो सम्भवतः 'पूंजी प्रयोग करने वाले' अथवा 'पूंजी-बचाने वाले' तकनीको को अपना सकते है, को चयनात्मक उपादान (अन्तरणरूप दर r मे अन्तर्निहित) की नीति के द्वारा, r के समग्र आकार को प्रभावित किये बग़ैर, पूंजी-निपज अनुपात b मे जान-बूझ कर परिवर्तन किया जा सके। इस प्रकार की चयनात्मक उपादान की नीति को 'पूंजी-प्रयोग' अथवा 'पूंजी बचाने' के आधार पर औद्योगिक विकास के पक्ष मे करों की छूट, यानी करों की दर z की संरचना मे परिवर्तन, से सम्बद्ध किया जा सकता है। अन्तत., एक अधिक विस्तृत दीर्घकालीन राजकोषीय नीति के अन्तर्गत जनसख्या की वृद्धि की दर[1] को प्रभावित करने और इसलिए

---

1. इस सम्बन्ध मे एन० कालडोर का कहना है कि उसने (हैरोड) ने जो स्वीकार नही किया था, वह यह है कि विकास की प्राकृतिक दर को निर्धारित करने वाली 'मौलिक शर्ते' आकाश के द्वारा निर्धारित नही होती। ये अनम्य (विस्तृत सीमाओ के अन्दर) है और आर्थिक व्यवस्था की अन्तर्जनित शक्तियो से बाहर ढकेली जा सकती हैं या अन्दर लाई जा सकती हैं। (देखें इनका 'दि रिलेशन ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ ऍड साइक्लिकल फ्लक्चुएशन्स', इकॉनामिक जनरल, मार्च 1954)। इसी प्रकार का विचार हैब्लेनो के 'ए स्टडी इन दि थियरी ऑफ इकॉनामिक इवोल्यूशन' में व्यक्त किया गया है किन्तु, इनमें से किसी ने भी।

केवल G_h से सम्बद्ध क्रियाओं पर ध्यान केन्द्रित करने की बजाय पूर्ण-रोज़गार-सम्बन्धी विकास दर G_n को परिवर्तन करने की सम्भावनाओं पर भी विचार किया जाना चाहिए। स्थायी विकास के लिए एक अधिक विस्तृत दीर्घकालीन राजकोषीय नीति की उपलब्धि केवल और अधिक सैद्धान्तिक विश्लेषण पर ही निर्भर नहीं करती, वरन् इस बात पर भी निर्भर करती है कि राजकोषीय नीति की आर्थिक सम्भावनाओं को इसकी राजनीतिक सीमाओं के साथ कहाँ तक समन्वित किया जा सकता है।[1]

इस प्रकार का सुझाव नहीं दिया है कि जनसंख्या की वृद्धि अथवा श्रम-निपज-अनुपात पर राजकोषीय नीति के उद्देश्य के रूप में विचार करना चाहिए। इस प्रकार के सुझाव की ओर जनाधिक्य वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं तथा जनाभाव वाली विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं—दोनों का ध्यान आकृष्ट था।

1. राजकोषीय क्रियाओं में सन्निहित कुछ राजनीतिक एवं सांस्थानिक कठिनाइयों के लिए पोस्ट केन्सीयन इकॉनामिक में देखें एच० आर० बोवेन एण्ड जी० एम० मायर 'इन्स्टिच्यूशनल एस्पेक्ट्स ऑफ फ्लक्चुऐशन्स।'

अध्याय 10

विदेशी व्यापार एवं आर्थिक विकास*

विश्लेषण की गहनता के लिए सवृत मॉडल जिस प्रकार अनिवार्य है, उसी प्रकार विश्लेषण की व्यापकता के लिए विवृत मॉडल लाभदायक है। वर्तमान अध्याय मे विदेशी व्यापार एव घरेलू विकास के बीच प्राविधिक सम्बन्ध के स्पष्टीकरण के लिए हम आर्थिक विकास के विवृत मॉडल का निर्माण करेंगे। इस अध्याय मे एक विवृत अर्थ-व्यवस्था, के सदर्भ मे जिसमे मॉग मे, क्षमता से अधिक वृद्धि की प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप निरन्तर स्फीति तथा असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न होती रहती है, विशिष्ट रूप से निम्नलिखित की व्याख्या की जायगी —(क) विदेशी व्यापार एव मॉग की वृद्धि मे सम्बन्ध, (ख) विदेशी व्यापार एव क्षमता की वृद्धि मे सम्बन्ध, तथा (ग) सन्तुलन विकास के लिए प्राचल क्रिया।[1]

इस समस्या का यह विशिष्ट उपचार वर्तमान व्याख्या को घरेलू विकास एव

---

*यह अप्रैल, 1958 के मेट्रोकोनोमिका (Metroeconomica) के 10-वें वॉल्यूम मे प्रकाशित मेरे 'इकॉनामिक डिवेलपमेंट ऐंड दि बैलेंस आफ पेमेंट्स' का बहुत कुछ रुपातरित रूप है।

1. डॉलर-क्षेत्र के बाहर अधिकाश अर्थ-व्यवस्थाओ को घरेलू स्फीति एवं विदेश भुगतान-सम्बन्धी कठिनाइयो के बीच चिर-कालिक विकास की युद्धोत्तरकालीन समस्या का सामना करना पड रहा है। उदाहरण के लिए—देखें 'यू० एन० इकॉनामिक कमिशन फॉर लेटिन अमेरिका', इकानामिक सर्वे ऑफ लेटिन अमेरिका,' 1954, कोलबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1955, तथा नवम्बर, 1955 ई० के रिव्यू ऑफ इकॉनॉमिक स्टेटिस्टिक्स मे प्रकाशित मेरा लेख 'जापान ट्रेड पोजिशन इन ए चेंजिग वर्ल्ड मार्केट'।

भुगतान सन्तुलन के सम्बन्ध में केन्सोत्तर विवाद से सम्बद्ध करने के लिए चुना गया है।[1] इस सम्बन्ध में दो भिन्न विचार-धाराएँ दृष्टिगोचर हैं। इनमें से एक विचार-धारा भुगतान-सन्तुलन पर इसकी प्रतिक्रिया को ध्यान में रखे बिना घरेलू उन्नति पर जोर देती है। दूसरी विचार-धारा भुगतान को साम्यावस्था पर जोर देती है, चाहे वह बाह्य सन्तुलन आंतरिक विकास में सहायक हो अथवा नहीं। पेशेवर मत में *यह अन्तर विदेशी व्यापार के आय-उत्पादन पहलू (माँग-पद) अथवा क्षमता सर्जनात्मक* पहलू (पूर्त्ति-पक्ष) के सम्बन्ध में एक पक्षीय पूर्वधारणा का परिणाम जान पड़ता है।

आंतरिक स्फीति एवं बाह्य असन्तुलन के बग़ैर सन्तुलित विकास के लिए आवश्यक शर्तों को स्पष्ट बनाने के लिए यहाँ विदेशी व्यापार के इन दोनों क्षेत्रों के समायोजन का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार का प्रयत्न अधिक मुक्त व्यापार एवं चतुर्दिक् उच्च जीवन-स्तर के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय उपायों पर भी कुछ प्रकाश डाल सकता है।

विदेशी व्यापार एवं माँग में वृद्धि

पूर्ति की दशाओं को दिया हुआ मानकर, विदेशी व्यापार एवं माँग में वृद्धि के प्राविधिक सम्बन्ध के विश्लेषण से प्रारम्भ किया जाय। समर्थ माँग की वृद्धि पर विदेशी व्यापार-सम्बन्धी क्रियाओं के प्रभाव को दिखाने के लिए केन्स के गुणक सिद्धान्त को निम्न प्रकार से गति प्रदान करना तथा लौकिक कार्य में लगाना अनिवार्य है :—

$$\triangle Y^d = \frac{I}{s' + m' - b'}(\triangle I + \triangle G + \triangle E), \qquad (1)$$

जिसमें Y^d *समर्थ माँग द्वारा निर्धारित वास्तविक शुद्ध राष्ट्रीय आय अथवा* केवल समर्थ माँग है, I स्वतः प्रेरित शुद्ध निजी निवेश है, G सरकारी व्यय, E स्वतः प्रेरित निर्यात (जिसमें अदृश्य उधार मदें भी शामिल हैं), s' बचत की सीमांत

1. तुलना करें—फरवरी 1955 के **'बुलेटिन ऑफ ऑक्सफोर्ड इन्स्टीच्यूट ऑफ स्टेटिस्टिक्स** में प्रकाशित "ग्रोथ ऐंड दि बैलेंस ऑफ पेमेंट्स : सिम्पोजियम", मई 1956 के **रिव्यू ऑफ इकॉनामिक स्टेटिस्टिक्स** में प्रकाशित आर० नक्से का लेख 'दि रिलेशन बिटवीन होम इन्वेस्टमेंट एंड एक्सटर्नल बैलेंस इन दि लाईट ऑफ ब्रिटिश इक्सपीरियेंस 1954-55, अप्रैल 1956 के **इकॉनमिक स्टडीज क्वाटर्ली** (जापान) में प्रकाशित एफ० मैथुलुप का 'दि फाइनांस ऑफ डिवेलपमेंट इन दि पूअर कन्ट्रीज : फारेन कैपिटल एंड डोमेस्टिक इन्फ्लेशन।'

प्रवृत्ति, m' आयात की सीमांत प्रवृत्ति तथा b' विनियोग की सीमात प्रवृत्ति हैं। यहाँ पर $\triangle I$, $\triangle G$ तथा $\triangle E$ गुण वहिर्जनित प्राचल, तथा बचत करने, आयात करने एवं निवेश की सीमात प्रवृत्तियाँ s', m', b' अन्तर्जनित प्राचल है। $\triangle I$, $\triangle G$ एवं $\triangle E$ का सापेक्षिक महत्त्व विचार की जाने वाली अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति पर निर्भर करता है। अवलोकन से ऐसा स्पष्ट होता है कि निर्यात गुण्य $\triangle E$ विकसित अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे परिमाणात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] कहने की आवश्यकता नही है कि $\triangle I$ एव $\triangle G$ का सापेक्षिक महत्त्व मुख्यतः अवन्ध नीति की परम्परा से प्रस्थान की मात्रा पर निर्भर करता है। बचत, आयात एवं विनियोग की सीमात प्रवृत्तियाँ अनिवार्यत· अपने औसत प्रतिरूप की ही तरह नही है और न इनका राष्ट्रीय आय से सम्बन्ध ही है। साथ ही, s', m' एवं b' मे विकसित तथा अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ मे स्पष्ट रूप से अन्तर होता है। यहाँ पर b' को शामिल करने से स्वत प्रेरित निवेश के साथ-साथ प्रेरित निवेश की सभावित उपस्थिति भी स्पष्ट होती है।

समीकरण (1) के दोनो पक्षो को Y^d से भाग देने एव नये क्रम मे रखने से, हम समर्थ माँग (G^d) मे वृद्धि की दर पाते है:

$$G^d = \frac{\triangle Y^d}{Y^d} = \frac{\alpha+\beta+y}{s'+m'-b'}, \qquad (2)$$

जिसमे $\alpha = \triangle I/Y^d$, $\beta = \triangle G/Y^d$ और $Y = \triangle E/Y^d$ के है। समीकरण (2) से यह स्पष्ट होता है कि समर्थ माँग-सम्बन्धी वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय की तुलना मे स्वत· प्रेरित निवेश, सरकारी व्यय एव निर्यात से प्राप्त आय मे परिवर्तन के साथ प्रत्यक्ष रूप मे तथा बचत, आयात एव विनियोग की सीमात उत्पादन-क्षमता के प्रतिलोमी दिशा मे परिवर्तन होने मे सक्षम है। यह वृद्धिशील विवृत अर्थ-व्यवस्था के माँग-पक्ष को बतलाता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि अन्य बातों के समान रहने पर, राष्ट्रीय आय (y) की तुलना मे निर्यात मे वृद्धि या आयात की सीमात प्रवृत्ति (m') मे कमी होने से समर्थ माँग मे वृद्धि की दर मे और वृद्धि होगी। फिर भी, समर्थ माँग में अधिक उच्च दर से वृद्धि प्राप्त करना तथा बनाये रखना है अथवा निम्न दर से, इस सम्बन्ध मे कोई भी निर्णय उत्पादन-क्षमता मे *वृद्धि की दर, जिसे अभी तक हम स्थिर मानते है, के उल्लेख के बगैर* नही किया जा सकता है। इस बात पर हम लोग आगे चलकर विचार करेंगे। इसी बीच

---

1. देखें, 1951 ई० मे मैकमिलन (न्यू० या०) द्वारा प्रकाशित एच० सी० वालिच की पुस्तक 'मनि, ट्रेड एंड इकोनामिक ग्रोथ' मे 'अन्डरडिवेल्पड कन्ट्रीज एंड दि इण्टरनैशनल मोनेटरी मेकेनिज्म'।

एक विवृत अर्थ-व्यवस्था के भुगतान-सन्तुलन की स्थिति के लिए दूसरे समीकरण का क्या आशय है, इस पर विचार करना अधिक रोचक होगा।

$\triangle i = o$, $\triangle G = o$ तथा $\triangle E = i$ मानकर हम लोग प्रेरित आयात से इस निर्यात-सम्बन्धी परिवर्तन की तुलना के लिए निर्यात में परिवर्तन होने के गुणक प्रभाव पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। क्योंकि, हम जानते हैं कि घरेलू आय में निर्यात-जनित वृद्धि के परिणाम-स्वरूप अतिरिक्त आयात निम्नांकित प्रकार से प्रेरित होती है—

$$\triangle M = m' \triangle Y^d = m' \frac{i}{s' + m' - b'} \triangle E = \frac{m'}{s' + m' - b'} \triangle E \quad (3)$$

भुगतान-सन्तुलन की साम्यावस्था के मूल स्थान $E - M = \triangle R = o$ (जिसमें M विकलन के अदृश्य मदों को शामिल करते हुए वास्तविक आयात एवं $\triangle R$ विदेशी विनिमय-कोष में कमी या वृद्धि है) से प्रारम्भ करने पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन उद्गमन तीसरे समीकरण के निम्नलिखित निर्देशनों से स्पष्ट होता है—

यदि $o < s' > b' = o$, तो $\triangle M < \triangle E$ (अपूर्ण हानिपूर्ति की स्थिति)।
यदि $o < s' < b' > o$, तो $\triangle M > \triangle E$ (अधिक हानिपूर्ति की स्थिति)।
यदि $o < s' = b' > o$, तो $\triangle M = \triangle E$ (समान हानिपूर्ति की स्थिति)।

इनमें से पहली स्थिति केन्स द्वारा दी गई है तथा जो अधिक क्षमता की मान्यता पर आधृत है, जो प्रेरित विनियोग को कम या निष्फल बनाती है। इसके परिणामस्वरूप प्रेरित आयात सदा निर्यात में किसी भी मौलिक वृद्धि से कम होता है तथा विदेशी विनिमय कोष में निम्नलिखित रक़म के बराबर संचयन होता है—

$$\triangle R_n = (\triangle E_{n-1} + E_0) - (\triangle M_{n-1} + M_0).$$

दूसरी स्थिति एक अस्थायी व्यवस्था की ओर संकेत करती है, जिसमें विनियोग की सीमांत प्रवृत्ति बचत की सीमांत प्रवृत्ति से अधिक होने की ओर प्रवृत्त होती है। जिस तरह, युद्ध-विनष्ट अथवा अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में, जिनमें पूंजी का आम-तौर पर अभाव पाया जाता है अथवा व्यापार-चक्र की बढ़ती हुई स्थिति, जिसमें निष्कार्य संयत्र एवं उपकरण समाप्तप्राय होते हैं, पाई जाती हैं। अधिक हानि पूर्ति की स्थिति में विदेशी कोष में असंचयन निम्न प्रकार से होता है—

$$-\triangle R_n = (\triangle M_{n-1} + M_o) - (\triangle E_{n-1} + E_o).$$

अन्तिम, यानी समान हानि पूर्ति की स्थिति बचत की सीमांत प्रवृत्ति के विनियोग की सीमांत प्रवृत्ति के बराबर होने से उत्पन्न होती है, जिससे विनिमय-कोष में न कोई संचयन होता है और न असंचयन ही, जिसमें $\triangle R = o$। इस अन्तिम स्थिति

को विशुद्ध घरेलू दृष्टिकोण से अपेक्षित नहीं माना जा सकता ; क्योंकि इसका तात्पर्य यह है कि स्वत प्रेरित निर्यात मे वृद्धि किसी-न-किसी समय आयात मे समान वृद्धि से समाप्त हो जाती है। साथ ही, विकासशील पूंजी के सम्भावित साधन के रूप मे विदेशी विनिमय के कोष मे भी कोई वृद्धि नहीं होती है। फिर भी, यदि कोई एक अर्थ-व्यवस्था असन्तुलित भुगतान के मूल स्थान से प्रारम्भ होती हो, तो उसके लिए इसे अपेक्षित समझा जा सकता है।

विदेशी व्यापार एव माँग मे वृद्धि मे इसी प्रकार का पारस्परिक एव अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। माँग के साधन के रूप मे निर्यात मे वृद्धि से चिन्ता केवल इसीलिए उचित है कि पूर्ति की दी हुई स्थिति मे राष्ट्रीय आय मे वास्तविक वृद्धि माँग के ही द्वारा निर्धारित होती है। इस प्रकार की चिन्ता बिल्कुल केन्स की परम्परा पर आधृत है, जो इस सस्थापकीय धारणा, कि पूर्ति स्वय अपने माँग का सर्जन करती है, को अस्वीकार करती है। फिर भी, इस प्रकार की चिन्ता बिल्कुल एकपक्षीय है; क्योंकि विदेशी व्यापारिक सम्बन्ध एक वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था के पूर्ति-पक्ष को भी प्रभावित कर सकता है। यही पर हमें केन्स की समर्थ माँग की पूर्ण धारणा का परित्याग कर पुन: एक बार, से के नियम (Say's Law) के बगैर पूर्ति एव उत्पादकता पर सस्थापकों की दृढ तीव्रता की ओर उन्मुख होना चाहिए।

विदेशी व्यापार एवं क्षमता में वृद्धि

अब माँग की परिस्थितियो को दिया हुआ मानकर, हम विदेशी व्यापार एव क्षमता मे वृद्धि के अन्य सम्बन्ध का विश्लेषण कर सकते हैं। प्राकृतिक साधनों के आकार एव श्रम की सख्या दी हुई होने पर, किसी अर्थ-व्यवस्था की कुल पूर्ति अथवा उत्पादन-क्षमता मुख्यतः वास्तविक पूंजी की मात्रा एव गुण पर निर्भर करती है। कुल उपलब्ध पूंजी के पूर्ण उपयोग के परिणामस्वरूप उत्पादन-क्षमता मे वृद्धि को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते है—

$$\Delta Y^{s} = \sigma \Delta K = \sigma i, \qquad (4)$$

जिसमें Y^{s} उत्पादन-क्षमता द्वारा निर्धारित शुद्ध राष्ट्रीय निपज अथवा केवल उत्पादन क्षमता है, K पूर्ण उपयोग की स्थिति मे पूंजी की मात्रा, । शुद्ध निवेश ($I_t = K_t - K_t - 1$) एवं σ प्राविधिक रूप मे दी गई पूंजी की सीमान्त (औसत) उत्पादकता।

किन्तु सामान्यावस्था में, एक विवृत अर्थ-व्यवस्था का शुद्ध विनियोग असाधारण अर्थ मे बचत के बराबर होता है, यानी

$$i = S + M - E; \quad i + E = S + M, \qquad (5)$$

[illegible] S घरेलू बचत है और अन्य परिवर्ती पहले की ही तरह हैं।

पाँच को चार से प्रतिस्थापित करने पर आयात एवं निर्यात से युक्त उत्पादन क्षमता में वृद्धि प्राप्त होती है—

$$\Delta Y^s = \sigma\ (S+M-E). \qquad (6)$$

पुनः हम S, M एवं E को इस प्रकार से परिभाषित करते हैं $S=sY^s$, $M=m\ Y^s$, एवं $E=e\ Y^s$ जिसमें s बचत कम अनुपात, m आयात अनुपात एवं e निर्यात अनुपात हैं, (यानी औसत बजत एवं आयात की प्रवृत्ति तथा दिये हुए आन्तरिक उत्पादन एवं स्वतःप्रेरित निर्यात का अनुपात) उपर्युक्त परिभाषाओं को ध्यानमें रखते हुए पुनर्व्यवस्थित करने पर, उत्पादन-क्षमता (G^s) में वृद्धि की निम्नलिखित दर प्राप्त होती है—

$$G^s = \frac{\Delta Y^s}{Y^s} = \sigma\ (s+m-e), \qquad (7)$$

जो एक विवृत अर्थ-व्यवस्था के पूर्ति-पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। समीकरण (7) यह बतलाता है कि जैसे-जैसे पूँजी की उत्पादकता (σ) बदलती है और आंतरिक बचत के अनुपात जोड़ व्यापार-संतुलन के अनुपात ($s+m-e$) बदलते है, वैसे-वैसे उपलब्ध पूँजी के पूर्ण प्रयोग से प्राप्त उत्पादन-क्षमता की वृद्धि की दर प्रत्यक्ष अनुपात में परिवर्त्ती होने के लिए सक्षम है। समीकरण (7) का परिचालन-सम्बन्धी महत्त्व निम्नलिखित लोकप्रिय संख्यात्मक उदाहरणों[1] से स्पष्ट होता है—

---

1. σ के मूल्य का अनुमान विकसित एवं अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के औसत पूँजी-निपज अनुपात से लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, देखें डब्ल्यू० फेलर का पूर्व-उद्धृत 'दि कैपिटल आउटपुट रेशियो इन डाइनामिक इकॉनामिक्स'; आई० यामडा का जुलाई, 1956 के इकानामिक रिव्यू में 'दि फाइव ईयर इकॉनामिक प्लान इन जापान ऐंड दि एनालिसिस ऑफ पोस्ट वार जेपेनीज इकॉनामी'; वाई० ओजेकी का मार्च, 1957 के इकॉनामी स्टडीज क्वाटरली में 'ऑन दि कैपिटल-कोएफिसियण्ट इन अंडर-डिवेल्पड इकॉनामीज'। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में पूँजी निपज अनुपात साधारणतया कम होता है, जिससे श्रेष्ठ टेक्नोलॉजी पर आधृत पूँजी गुणक की अधिक क्षमता का आभास होता है। तुलनात्मक बचत-अनुपात के लिए देखें 'एस० कुजनेण्ट्स का पूर्व-उद्धृत इकॉनामिक ग्रोथ ऐंड इनकम इनइक्वेलिटी'। जहाँ तक कि निर्यात एवं आयात-अनुपात का सम्बन्ध है, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की निम्न उत्पादन एवं निर्यात-क्षमता इनके निर्यात-अनुपात के आयात-अनुपात के निरन्तर अधिक होने की एक आवश्यक प्रकल्पना है। निरपेक्ष रूप में तुलनात्मक निर्यात-आयात-अंकों एच० वालिच का पूर्व उद्धृत लेख देखें।

यदि $\sigma = \cdot 5,\ s = \cdot 10,\ m = \cdot 05,\ e = \cdot 07$, तो $G' = \cdot 04$
(विकसित अर्थ-व्यवस्था)

यदि $\sigma = 2,\ s = \cdot 05,\ m = \cdot 015,\ e = \cdot 10$, तो $G' = \cdot 02$
(अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि उच्च पूंजी-उत्पादकता गुणक एवं उच्च बचत अनुपातवाली विकसित अर्थ-व्यवस्था धनात्मक विदेशी संतुलन-अनुपात $(e-m>0)$ द्वारा उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की उच्च दर प्राप्त कर सकती है। इसके विपरीत निम्न उत्पादकता एवं निम्न बचतवाली एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था ऋणात्मक विदेशी संतुलन-अनुपात $(e-m \angle 0)$ के परिणामस्वरूप उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की निम्न दर ही प्राप्त कर पाती है। ये इस बात को भी लक्षित करते हैं कि यदि एक विकसित अर्थ-व्यवस्था में उसकी मांग से अधिक वृद्धि होती है, तो इससे उसके धनात्मक विदेशी संतुलन अनुपात में अवश्य वृद्धि होगी और यदि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था की क्षमता में उसकी मांग की तुलना में धीरे-धीरे वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती हो, तो इससे उसके ऋणात्मक विदेशी संतुलन-अनुपात में अवश्य वृद्धि होगी।

इस प्रकार, प्रकल्पना है कि एक विकसित अर्थ-व्यवस्था में साधारणतया अनुकूल भुगतान-संतुलन होता है, जो $eY'-mY'=\triangle R>0$ से स्पष्ट होता है जब कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था में व्यवहारत प्रतिकूल भुगतान-संतुलन होता है, जो $eY'-m\ Y'=\triangle R \angle 0$ से ज्ञात होता है। किन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को संतुलित भुगतान-संतुलन को ध्यान में रखे बगैर अपनी उत्पादन-क्षमता में वृद्धि का प्रयास नहीं करना चाहिए; क्योंकि आगे का विश्लेपण इसके ठीक विपरीत बतलाता है। अब स्फीति एवं असंतुलन के बगैर संतुलित विकास की प्राचलीय क्रिया पर विचार किया जाय।

संतुलित विकास के लिए प्राचलीय क्रियाएँ

संतुलित विकास आगे बढने की आदर्श नीति है, जो पूर्ण होने पर ऐसी बढती हुई वास्तविक आय की गारन्टी प्रदान करता है, जो न बढते हुए मूल्य से कम होती है, न भुगतान के संतुलन की दीर्घकालिक कठिनाइयों से ही समाप्त होती है। पूर्ववर्त्ती विश्लेपण से यह स्पष्ट है कि संतुलित विकास की स्थिति को प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिए निम्नलिखित आधारभूत शर्त की पूर्ति अनिवार्य है।

$$\frac{\alpha+\beta+\gamma}{s'+m'+b'}=\sigma\ (s+m-e) \text{ या } G^{d}=G' \qquad (8)$$

समीकरण (8) यह बतलाता है कि यदि $G^d = G^s$ के, तो मौद्रिक राष्ट्रीय आय ($Y^d m$) में निम्नलिखित घातीय रूप में वृद्धि होगी—

$$Y^d_m = Y^d = P(t) \; Y^s = Y^d_{mo} (1 + g_m)^t,$$

जिसमें P समय में मूल्यसूक्ष्म हैं, Ymo^d मौद्रिक आय का प्रारम्भिक मूल्य है, और gm मौद्रिक आय में वृद्धि की दर ($\triangle Ym^d / Ym^d$) है। यदि अर्थ-व्यवस्था $G^d = G^s$ संतुलन की प्रारम्भिक स्थिति से बढ़ी हो, तो $t > o$ समय में, $G^d > G^s$ के रूप में एक आकस्मिक आघात पूर्ण क्षमता-विकास के अपरिवर्त्ती पथ से स्फीतिजनक अन्तर की सृष्टि करेगा। जैसा कि दूसरे समीकरण से स्पष्ट है $G^d > G^e$ के रूप में प्रारम्भिक आघात α, β, γ या B' में साधारणतया स्थायी वृद्धि अथवा विकल्पतः s' एवं m' में इसी प्रकार की कमी के परिणामस्वरूप हो सकता है। $G^d > G^s$ की स्थिति केवल स्फीति की ओर की निरन्तर प्रवृत्ति का ही नहीं, वरन् भुगतान-संतुलन की दीर्घकालिक कठिनाई का भी सूचक है। क्योंकि, उच्च G^d से बड़े पैमाने पर प्रेरित आयात तथा निम्न G^s से छोटे पैमाने पर किये गये निर्यात की सम्भावना का बोध होता है।

इससे प्रश्न यह होता है कि $G^d > G^s$ के रूप में विषमता से युक्त एक विवृत अर्थ-व्यवस्था इस विषमता में निहित आंतरिक स्फीति एवं बाह्य असंतुलन को किस प्रकार से दूर कर सकती है ? इसका सामान्य उत्तर यह है कि यदि $G^d = G^s$ के रूप करना है, तो G^s में साथ-ही-साथ कमी किये बग़ैर G^d में कमी, या G^d में वृद्धि के बग़ैर G^s में वृद्धि की जाय। यह वास्तव में एक बड़ी बात है, किन्तु फिर भी समीकरण (8) द्वारा व्यक्त शर्तों की पूर्ति के लिए दूसरे तथा सातवें समीकरणों के प्राचल के साथ संभावित क्रियाओं का पता लगाया जाय।

समर्थ माँग का नियंत्रण

G^d को कम करने की परिचालन-सम्बन्धी सम्भावना, विदेशी भुगतान-शेष के संतुलन को भंग किये बग़ैर आंतरिक आर्थिक उन्नति को पोषित करने के मूल उद्देश्य से आवश्यक रूप में सीमित है। इस सीमा को ध्यान में रखते हुए, अन्तर्जनित प्राचल s', m' एवं b' को दिया हुआ मानकर, पहले बहिर्जनित प्राचल α, β एवं y में कमी की सम्भावना पर विचार किया जाय।

किसी दिये हुए राष्ट्रीय आय के स्तर पर, स्वतः प्रेरित निवेश की कितनी मात्रा से सरकारी व्यय या निर्यात-संबंधी आय में कमी होगी, यह गुणक तथा सम्बद्ध समर्थ माँग में वांछित कमी पर निर्भर करता है; क्योंकि पहले समीकरण से हम यह जानते हैं कि इनमें से किसी भी गुण में इच्छित कमी निम्नलिखित रूप से स्पष्ट

होती है : $\triangle I = \triangle Yd/k, \triangle G = \triangle Yd/k$, अथवा $\triangle E = \triangle Yd/k$ जिसमें, $k = i/(s^1 + m^1 - b^1)$ । उदाहरण के लिए, मान लिया जाय कि $s^1 = \cdot 05$, $m^1 = \cdot 3$, $b^1 = \cdot i$, $\triangle Yd = i$ है, तो $\triangle i = Yd/k$ के अनुसार माँग के सम्बन्ध साधन के रूप में स्वतः प्रेरित निवेश में $1/4 = \cdot 25$ से कमी होगी । अन्य किसी भी गुण्य के लिए यही सत्य होता है ।

इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण यह है कि माँग के किसी विशेष साधन में कमी के लिए चुनाव-भुगतान शेष तथा उत्पादन-क्षमता के दीर्घकालिक विकास के सम्भावित प्रतिघात से प्रभावित होना चाहिए । जहाँ तक भुगतान-शेष का सम्बन्ध है, अन्य बातों के समान रहने पर, माँग के किसी दिये हुए स्तर (y) से सम्बन्ध निर्यात में स्वत. प्रेरित कमी बाह्य असतुलन को उत्तेजित किये बगैर Gd में कमी करेगी । किन्तु, ऐसा तभी होगा, जबकि साथ-ही साथ b' से सम्बद्ध s' में भी वृद्धि हो । किन्तु, चूँकि Y में परिवर्तन का s' पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नही पड़ता, अतएव Y में कमी अधिक माँग को अवमदित करने के लिए भुगतान शेष को संतुलित करने के उद्देश्य के अनुरूप समझकर छोड देना चाहिए । इसके अतिरिक्त, चूँकि किसी एक अर्थ-व्यवस्था के निर्यात की माँग मुख्यत दूसरे देशों की आय के स्तर पर निर्भर करती है, इसलिए कोई भी एक अर्थ-व्यवस्था y में अपने इच्छानुसार हेर-फेर नही कर सकती है । (केवल सयुक्तराज्य के सम्भावित अपवाद को छोड़कर, जो अपने निर्यात की विदेशी माँग को ऋण एवं अनुदान के द्वारा बहुत अधिक प्रभावित कर सकता है, जैसा कि मार्शल प्लान ने स्पष्ट कर दिया था) । जहाँ तक उत्पादन-क्षमता में दीर्घकालिक वृद्धि का सम्बन्ध है, α अथवा β में कमी, यदि यह स्वतः प्रेरित निजी निवेश के अनुत्पादक अग अथवा राजकीय व्यय (जैसे पिरामिड का निर्माण अथवा शस्त्रीकरण) में कमी के द्वारा की जाती है, से पूँजी की उत्पादन-क्षमता में (σ) कमी नही होनी चाहिए । यदि α अथवा β में कमी महँगी मुद्रा-नीति के द्वारा हुई हो, तो यह उत्पादन के चक्करदार तरीके को हतोत्साहित कर सकती है और इस प्रकार दीर्घकाल में पूँजी की उत्पादकता में कमी कर सकती है । (यह अंतिम प्रभाव श्रम की उत्पादन-क्षमता पर सभवतः पूँजी एव श्रम के निम्न अनुपात के माध्यम से पड़ता है, जैसा कि $Y/K = (Y/N)/(K/N)$ से स्पष्ट है ।

अब σ, β एवं Y को दिया हुआ मानकर तथा भुगतान शेष एवं उत्पादन-क्षमता में दीर्घकालिक वृद्धि को ध्यान में रखते हुए, हम समर्थ माँग को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से ही s', m' एव b' की सम्भावित क्रियाओं का अध्ययन करेंगे ।

s' में वृद्धि के द्वारा भुगतान-शेष के सतुलन को प्रोत्साहित करने तथा उत्पादन-क्षमता में विस्तार के उद्देश्यो को समाप्त किये बगैर Gd में कमी की जा सकती है । क्योंकि, जैसा कि पूर्व विश्लेषण से स्पष्ट है, एक ओर $s' \leqslant b'$ से

$\triangle M \leq \triangle E$ होता है तथा दूसरी ओर s' में समान वृद्धि से दीर्घकाल में s एवं σ में वृद्धि होती है और इस प्रकार $m>e$ के अनुपात में बड़े वाह्य घाटे पर अत्यधिक निर्भरता के बगैर Gs में वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में यहाँ एक आवश्यक आरक्षण यह है कि s' में वृद्धि के उपाय, उपभोग में मितव्ययिता को आवश्यकता से अधिक बतलाने के कारण, अनुचित सिद्ध हो सकते हैं।

बचत की सीमांत प्रवृत्ति के निवेश की सीमांत प्रवृत्ति के बराबर अथवा अधिक होने की स्थिति में आयात की सीमांत प्रवृत्ति m' में वृद्धि भी अपेक्षित हो सकती है। क्योंकि, जैसा कि पूर्ववर्णित है, $s' \leqslant b'$ से $\triangle M \geq \triangle E$ होता है। m' वृद्धि से Gd में कमी के अतिरिक्त दीर्घकाल में m में वृद्धि होती है, जिससे Gs की वृद्धि में भी सहायता मिलती है। पुनः यदि उच्च m' का, आय विपाक में किसी क्षतिपूर्ति के परिणामस्वरूप, प्रविस्थापन विपाक उत्पादित उपभोक्ता की वस्तुओं की माँग में ह्रास होता है, तो इससे उस स्तर तक s' एवं s में वृद्धि होगी, जिससे Gd में कमी तथा Gs में और अधिक वृद्धि होगी।

निवेश को सीमांत प्रवृत्ति, b' में कमी पर भी एक वैकल्पिक परिचालन-सम्बन्ध सम्भावना के रूप में विचार किया जा सकता है। b' में ह्रास भुगतान-शेष की स्थिति को और खराब किये बगैर Gd' में कमी उत्पन्न करता है; क्योंकि हम लोग पहले ही देख चुके हैं कि शून्य या लघु b' से केन्स के अपूर्ण क्षति-पूर्ति के सिद्धांत की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। साथ ही, चूंकि b' में ह्रास ऐसे उपायों द्वारा किया जाता है, जिनका उद्देश्य नवीन क्रिया-निवेश के क्षेत्र में वृद्धि तथा प्रेरित निवेश में अत्यधिक निर्भरता में कमी (त्वरण-सिद्धांत की तरह) होता है, अतएव इससे दीर्घकाल में σ में वृद्धि होती है और इसलिए Gs में भी वृद्धि होती है।

इस प्रकार, $Gd>Gs$ से उत्पन्न स्फीतिजनक परिस्थितियों में, भुगतान-शेष के असंतुलन को प्रोत्साहित तथा उत्पादन-क्षमता में दीर्घकालिक विकास में बाधा उत्पन्न किये बगैर माँग में वृद्धि को निम्नलिखित उपायों से नियंत्रित किया जा सकता है—(1) s' में वृद्धि, (2) m' में वृद्धि, (3) b' में ह्रास, (4) α में ह्रास, (5) β में ह्रास तथा/या (6) γ में ह्रास। उत्पादन-क्षमता में नियंत्रण का अभी वर्णन करना बाकी है।

उत्पादन-क्षमता का नियंत्रण

उत्पादन-क्षमता के विकास की दर में वृद्धि निश्चय ही समर्थ माँग में विकास की दर में कमी की तुलना में अधिक कठिन है। यह कठिनाई प्राचलीय क्रिया पर इस निरोध पर कि Gs में इस प्रकार से वृद्धि नहीं करनी चाहिए, जिससे Gd में वृद्धि हो तथा $\triangle R<o$ हो जाय, के परिणामस्वरूप और भी बढ़ जाती है। इस प्रतिबंध

को ध्यान मे रखते हुए समीकरण (7) की सम्भावित प्राचलीय क्रिया की खोज की जाय।

पूंजी की कार्य-क्षमता (σ) मे वृद्धि का लाभ मांग मे वृद्धि के आत्माघाती सहायक तथा बाह्य शेष की स्थिति को और अधिक खराब किये बगैर Gs की स्थिति को बढ़ाना होता है। क्योंकि, यह एक दी गयी पूंजी के कोष के अधिक योग्य उपयोग, न कि पूंजी मे वृद्धि, जिससे अनपेक्षित मांग का सर्जन हो अथवा अनपेक्षित आयत की आवश्यकता हो, के द्वारा अधिक उत्पादन एव निर्यात-सम्बन्धी क्षमता को सूचित करता है। हम इसे निम्नांकित प्रकार से देख सकते है।

मान लिया कि पूंजी का सपूर्ण कोष (K) दो भागों में विभक्त है—एक वह, जो स्वदेश-प्रधान उद्योगों, यानी जो केवल घरेलू बाजार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, के द्वारा स्वीकृत तथा प्रयोग किया जाता है (Kh), तथा दूसरा वह, जो निर्यात-प्रधान उद्योगो, यानी जो केवल विदेशी बाजार की आवश्यकताओं की पूर्ति करते है, के द्वारा स्वीकृत तथा प्रयोग किया जाता है (Ke) है। अतएव—

$$K = Kh + Ke, \tag{9}$$

जिसके वितरण का अनुपात है—

$$\frac{K_h}{K} = \eta, \frac{K_e}{K} = I - \eta. \tag{10}$$

पुन. हम उत्पादन-क्षमता (Y^s) को स्वदेश प्रधान-विपज (Y_h^s) तथा निर्यात-प्रधान निपज (Y_e^s) के योग के रूप मे परिभाषित कर सकते हैं, जिससे—

$$Y^s = Y_h^s + Y_e^s, \tag{11}$$

इस समीकरण के दायें पक्ष को विशेष रूप से इस प्रकार कहा जा सकता है—

$$Y_h^s = \sigma_h K_h, \tag{12}$$

$$Y_e^s = \sigma_e K_e, \tag{13}$$

जिसमे σ_h समस्त स्वदेश-प्रधान उद्योगों की पूंजी की औसत एवं सीमात उत्पादकता तथा σ_e निर्यात-प्रधान उद्योगो मे पूंजी की औसत तथा सीमात उत्पादकता हैं।

यहां हम इस स्वीकार्य आधार पर कि ह्रास-मान लागत (वर्द्धमान-प्रतिफल) वाले उद्योगो को स्वदेशी बाजार के साथ-साथ साधारणतया वृद्धि-शील निर्यात-बाजार (विशेषत वृद्धिशील स्वदेशी सीमा तथा बाजार के अभाव मे) की आवश्यकता होती, $\sigma_e > \sigma_h$ मानते हैं। यह मान्यता वितरण के अनुपात, $I - \eta$ मे वृद्धि के पक्ष मे वर्त्तमान तर्क प्रस्तुत करने एवं सपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूंजी की

उत्पादकता तथा निर्यात-प्रधान उद्योगों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के लिए निर्णायक महत्त्व का है।

अब 10वें, 12वें तथा 13वें समीकरणों को ध्यान में रखते हुए, हम 11वें समीकरण को पुनः इस प्रकार लिख सकते हैं—

$$Y^s = \sigma_h K_h + \sigma_e K_e = \sigma_h \eta K + \sigma_e \ (i - \eta) \ K. \qquad (14)$$

14वें समीकरण से संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी की औसत उत्पादकता प्राप्त होती है—

$$\frac{Y^s}{K} = \sigma = \sigma_h \eta + \sigma_e (i - \eta), \qquad (15)$$

जिससे यह स्पष्ट होता है कि $\sigma_e > \sigma_h$ होने पर, संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए पूँजी की औसत उत्पादकता वितरण के अनुपात $(i-\eta)$ में वृद्धि के परिणामस्वरूप वृद्धि के सक्षम है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वितरण के अनुपात $(i-\eta)$ में इस वृद्धि से निर्यात-प्रदान-निपज में भी $Y_e^s = \sigma_e (i-\eta) K$ के द्वारा वृद्धि होती है।[1] साथ ही, पूँजी-उत्पादकता गुणक (σ) में वृद्धि का एक अतिरिक्त लाभ यह है कि स्वदेशी बचत अनुपात (S) को संपूरित करने के लिए छोटे आयात-अनुपात (m) की आवश्यकता पड़ती है।

बचत-अनुपात (s) में वृद्धि से m यदि इससे m में भी वृद्धि का प्रतिनिधित्व होता है, G_3 में वृद्धि हो जिससे समर्थ-माँग में वृद्धि की दर कम हो जाय, तो यह G_a में साथ-ही-साथ वृद्धि के बग़ैर G_s में वृद्धि कर सकता है। साथ ही, सातवें समीकरण के अनुसार, उच्च पूँजी उत्पादकता की ही तरह, उच्च स्वदेशी बचत-अनुपात स्वदेशी वास्तविक पूँजी के संपूरक के रूप में आयात पर निर्भता में कमी करता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उच्च बचत-अनुपात उच्च

---

1. किन्तु, निर्यात-संबंधी वस्तुओं की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि से निर्यात की माँग में आवश्यक रूप से वृद्धि नहीं होती; क्योंकि निर्यात विदेशी आय, सापेक्षिक मूल्य विनिमय-दर एवं संभवतः ग़ैर-आर्थिक वैदेशिक नीति पर निर्भर करता है। आर० नर्से ब्रिटेन के निर्यात उद्योगों में इस प्रकार की वृद्धि की सिफ़ारिश करते हैं, यह अधिक-से-अधिक उस विशेष परिस्थिति का परिचायक है, जिसमें यू० के० (U.K.) से निर्यात की विदेशी माँग ठीक उसके अनुरूप होगी जिसकी ब्रिटेन पूर्ति कर सकता है। किन्तु अधिकांश व्यापारी राष्ट्रों (जैसे जापान) के साथ प्रधान कठिनाई निर्यात की क्षमता का अभाव न होकर विदेशी बाजार (माँग) का अभाव है। अतएव, निर्यात-प्रधान उद्योगों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि, संपूर्ण एवं विकास के क्षेत्र में योगदान करते हुए भी वृद्धिशील विदेशी बाजार के अभाव में निराशजनक सिद्ध हो सकती है।

बचतवाले आय-वर्गों के पक्ष मे स्वायत्त आय के पुनर्वितरण या लगातार बजट-आधिक्य का परिणाम होता है।

यदि आयात-अनुपात (m) मे वृद्धि m' मे वृद्धि का भी प्रतिनिधित्व करता है, तो इससे G_d मे वृद्धि के बगैर G^s मे वृद्धि हो सकती है। किन्तु दीर्घ-कालीन भुगतान-शेप के सतुलन के दृष्टि-कोण से उपभोक्ता वस्तुओं के आयात की औसत प्रवृत्ति (mc) को स्थायी रखकर पूंजीगत वस्तुओं के आयात की औसत प्रवृत्ति (mi) मे वृद्धि को प्रोत्साहित करना चाहिए। क्योंकि, आयात-अनुपात वास्तव मे इन्ही प्रवृत्तियो का योग है, यानी $m = mc + mi$। इसका तात्पर्य यह है कि यदि m स्थायी है, तो mi मे वृद्धि mc मे कमी के द्वारा ही होगी। और यदि $= mc$ के स्थायी है तो m मे वृद्धि mi मे वृद्धि का सूचक है। यदि m मे वृद्धि की जगह mc की जगह mi मे वृद्धि का परिणाम है, तो यह स्वदेशी पूंजीगत वस्तुओं के उद्योग में प्रत्यक्ष रूप से योगदान देगा।[1] व्यापारिक नीति के संदर्भ में इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि शुल्क-दर तथा अन्य प्रकार के आयात-नियन्त्रण की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए कि उपभोक्ता वस्तुओ के आयात की सीमांत प्रवृत्ति में किसी प्रकार की वृद्धि न हो।

अतत: एक दिये हुए m की तुलना मे e में ह्रास से, Gd में वृद्धि के अन्य उद्देश्यो का विरोध किये बगैर, Gs मे वृद्धि होगी; क्योंकि अति अल्पकाल मे e मे ह्रास y मे ह्रास का भी प्रतिनिधित्व कर सकता है। फिर भी, e में इस ह्रास का भुगतान-शेप के सतुलन पर हानिकारक प्रभाव पड सकता है। कोई एक अर्थ-व्यवस्था अपने दीर्घकालीन भुगतान सतुलन की स्थिति को सुरक्षित करने के लिए अधिक-से-अधिक Y मे वृद्धि के e पर वृद्धिशील प्रभावो पर आश्रित रह सकती है। इससे Gs मे वृद्धि के लिए, अन्यथा बड़े घाटे के अनुपात $e-m<o$ को टाला जा सकता है। इससे अधिक एक अकेला निर्यातक देश केवल यह आशा कर सकता है कि दिये हुए सापेक्षिक मूल्य एवं विनिमय-दर पर शेप विश्व अपनी आय अथवा अपनी आयात की औसत प्रवृत्ति मे वृद्धि करेगा। एक दिये हुए m की तुलना मे e में किस मात्रा तक कमी होनी चाहिए, यह o एव s के प्रचलित मूल्यो पर निर्भर करता है; क्योंकि जब कोई अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था अधिक उत्पादक एवं मितव्ययी हो

1. इसका तात्पर्य यह नहीं कि आयात की गई उपभोक्ता-वस्तुएँ अनुत्पादक होती है, क्योंकि ये वैसे उत्पादक साधनो को, जो अन्यथा उपभोक्ता-वस्तुओ के उद्योग मे लगे होते हैं, मुक्त कर स्वदेशी पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों को परोक्ष रूप मे योगदान देती है। किन्तु साधनो की सापेक्ष निश्चलता एव अपर्याप्त विनिमय-कोपवाली अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए पूंजीगत वस्तुओं के आयात पर ध्यान केंद्रित करना ही अधिक व्यावहारिक और महत्त्व की बात है।

जाती है, तो यह अपनी उत्पादन क्षमता को अपने निर्यात से अधिक विदेशी वस्तुओं एवं पूंजी के आयात के वग़ैर ही विकसित कर सकती है।

अंतिम टिप्पणी

एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था के केवल माँग-पक्ष पर जोर देने का तात्पर्य विदेशी व्यापार के क्षमता-सर्जनात्मक पहलू, जिसकी चर्चा आदमस्मिथ के 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' से अब तक के संस्थापक सिद्धांतों में मिलती है, की उपेक्षा करना होगा। इसी प्रकार केवल पूर्ति-पक्ष पर जोर देने का तात्पर्य विदेशी व्यापार के आय-सर्जनात्मक पहलू की, जिसे केन्स के सिद्धांतों ने वताया है, अपेक्षा करना तथा संस्थापकों की 'पूर्ति' स्वयं अपनी माँग का सर्जन करती हैं—"इस वात की मान्यता-संवंधी भूल को दोहराना है। तदनुकूल पूर्ण रोज़गारी (श्रम एवं पूंजी दोनों की) के साथ, किन्तु आंतरिक स्फीति एवं वाह्य असंतुलन के वग़ैर संतुलन विकास की प्राप्ति एवं उसे वनाये रखने के लिए समर्थ माँग एवं उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की दरों को एक-दूसरे के समरूप वनाना अनिवार्य है। $G^d > G^s$ से उत्पन्न स्फीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम लोगों ने माँग में वृद्धि-संवंधी समीकरण एवं क्षमता में वृद्धि-संवंधी समीकरण की संभावित प्राचलीय संक्रियाओं का पता लगाया है, जिससे $Gd = Gs$ होता है, यानी उन उपायों एवं साधनों का पता लगाया है, जिससे कि Gs में कमी किये वग़ैर Gd में कमी तथा Gd में साथ-ही-साथ वृद्धि के वग़ैर Gs में वृद्धि की जा सकती है।

यदि स्वदेशी विकास एवं भुगतान-शेष संतुलन के बीच निश्चित रूप में चुनाव करना हो तो अधिकांश अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ पिछले की तुलना में पहले को ही अधिमान देगी। इसके कारण भी स्पष्ट हैं। क्षमता में वृद्धि धीरे-धीरे उन्नतिशील भुगतान-संतुलन की एक प्रकल्पना है, किन्तु भुगतान-शेष की समस्याओं में अत्यधिक पूर्वग्राह्यता से संपूर्ण उद्योगीकरण की जगह विनिमय उपार्जन-संवंधी उद्योगों के एक पक्षीय विकास को प्रोत्साहन मिलता है। उपनिवेशी इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं।

अपूर्ण रोज़गार की ही तरह, अल्प विकास की मुक्त ग़ैर-भेदमूलक व्यापार के विरुद्ध एक प्रवल प्रकल्पना है। क्योंकि, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाएँ सदा स्वदेशी उद्योगों को, विदेशी वस्तुओं की वास्तविक या संभावित प्रतियोगता से सुरक्षित रखने का प्रयास करतीं हैं और ऐसा करना साधारणतया उनके लिए उचित भी होता है। फ्रेडरिक लिस्ट के संक्षरण के द्वारा उद्योगीकरण के सिद्धांत[1] में सत्य की यही प्रधान मात्रा है जिसे हावेल्मो (*Haavelmo*) के वाक्यांश[2] "अंतर्राष्ट्रीय सम-

---

1. देखें इनकी पुस्तक 'दस नेशलन सिस्टम देर पोलिटिशेन ओकनोमी।,
2. टी. हावेल्मो, 'ए स्टडी इन दि थियरी ऑफ इकोनामिक इवोल्युशन,।

स्थितिकरण के उद्देश्य की पूर्ति के संदर्भ मे मुक्त व्यापार के समर्थकों के अतिरिक्त सभी स्वीकार करते है। विश्व के अल्प-विकसित क्षेत्रो को विकसित किये बगैर बहु-पक्षीय व्यापार की आशा करना उतना ही निष्फल है, जितना कि सर्वव्यापी पूर्ण रोजगारी को प्रोत्साहित किये बगैर मुक्त व्यापार की चर्चा करना निरर्थक है। इस अंतिम तथ्य का हम लोगो ने अभी केन्स के सिद्धांत मे अध्ययन किया है। इस संबंध मे यह स्मरण करना शिक्षाप्रद होगा कि केन्स के निश्चित रूप में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को पूर्ण रोजगार की नीति से सम्बद्ध किया था। साथ ही, उसने विश्व बैंक के एक प्रधान रूप मे, विश्व के साधनों को संपूर्ण मानवता के लिए और अच्छी तरह से उपलब्ध बनाना तथा इस उद्देश्य से अपनी क्रियाओं को इस प्रकार संपादित करना माना था, जिससे सभी सदस्य-राष्ट्रों के अंतर्राष्ट्रीय भुगतान-शेष के संतुलन मे वृद्धि हो सके।[1] अब हमारा विश्लेषण यह सूचित करता है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं को भुगतान-शेष के असंतुलन के अनुचित भय के बगैर, उद्योगीकरण के कार्यक्रम को चलाना चाहिए।[2]

---

1. देखें, 23 मई, 1944 को हाउस ऑफ लार्डस के समक्ष केन्स का व्याख्यान तथा 3 जुलाई, 1944 ई० को वर्ल्ड-बैंक पर द्वितीय आयोग की प्रथम बैठक मे उसकी प्रारंभिक चर्चा।
2. उद्योगीकरण के संभावित विरोध के संबंध में हम निम्नलिखित विशेष टिप्पणी कर सकते हैं . (1) उद्योगीकरण के परिणाम-स्वरूप निर्मित वस्तुओं का अधिक उत्पादन तथा निर्यात से आयात (या उद्योगीकरण अर्थ-व्यवस्था के निर्यात) के लिए विदेशी मांग के आय का लचीलापन इकाई से भी बहुत अधिक बढ़ जायगा $(\triangle M_w/M_w)/(\triangle Y_w/Y_w) > 1$, जिसमे M_W शेष विश्व का आयात तथा Y_W इनकी सम्मिलित राष्ट्रीय आय है। ऐसी स्थिति मे निर्यात करने वाली अर्थ-व्यवस्था अपने विदेशी संतुलन में संभवत: अत्यधिक अस्थायित्व और विशेषतः संपूर्ण विश्व की राष्ट्रीय आय में कमी आने पर अपने निर्यात मे अत्यधिक हानि का अनुभव करेगी। (2) यदि उद्योगीकरण की ओर उन्मुख अर्थ-व्यवस्था के आयात मे पूँजीगत मालों की प्रधानता है, तो आयात को आय मे परिवर्तन की दर पर आश्रित माना जा सकता है, यानी $M_k = \beta \triangle Y$, जिसमे M_k पूँजीगत वस्तुओं का आयात तथा β सम्बद्ध पूँजी-निपज का अनुपात (आयातित पूँजीगत मालो की उत्पादकता का उल्टा) है। इस आयात-संबंधी समीकरण के दोनों पक्षों को Y से भाग देने पर निम्नलिखित आयात अनुपात मिलता है : $M_k/Y = \beta(\triangle Y/Y$। इससे स्पष्ट है कि स्वदेशी आय वृद्धि की दर से बढने से आयात-अनुपात मे एक दिये हुए निर्यात-अनुपात (E/Y) से अधिक वृद्धि हो सकती है, जब तक कि पूँजी-निपज अनुपात (β) में आयातित पूँजीगत मालों की बढ़ती हुई उत्पादकता से

कमी न हो जाय। (3) श्रम की बढ़ी हुए उत्पादकता के परिणाम-स्वरूप मौद्रिक मजदूरी की उच्च दर से औसत आयात-मूल्य (P_m) की तुलना में औसत निर्यात-मूल्य P_e में वृद्धि हो सकती है, जिससे निर्यात में कमी तथा आयात में वृद्धि होगी। यह अंतिम प्रभाव $\triangle m = m\triangle Y = mkt\triangle E$, के माध्यम से होता है, जिसमें k' विदेशी व्यापार गुणक, $t = Pe/Pm$ या व्यापार की शर्तों का सूचनांक तथा E निर्यात हैं। किन्तु t में इस प्रकार की वृद्धि साधारणतया निर्यातकों को सरकारी उपदान, अथवा निर्यातकों के बीच निर्यात मूल्य नहीं बढ़ने के एकाधिकार-संबंधी समझौते के द्वारा समाप्त कर दी जाती है। (4) पूर्ण रोज़गार-के विन्दु तक निर्यात-प्रधान उद्योगों के विस्तार से सामान्य मूल्य (निर्यात मूल्य-सहित) में वृद्धि होती है, जो निर्यात-व्यापार के लिए हानिकारक होता है। किन्तु इन्हीं के पूर्ण रोज़गार के विन्दु से कम विस्तार से स्वदेशी वास्तविक आय एवं प्रेरित आय में वृद्धि होती है और आयात के लिए विदेशी माँग की कीमत-लोच जितनी अधिक तथा आयात की स्वदेशी सीमांत-प्रवृत्ति जितनी ही उच्च होगी, विदेशी संतुलन पर इसका शुद्ध प्रभाव उतना ही प्रतिकूल होगा।

अध्याय 11

केन्सीयोत्तर विकास-सिद्धांतों पर उपसंहार

इस अध्याय में हम पूर्वगामी अध्यायों में विकसित सिद्धान्त की अन्य केन्सीयोत्तर विकास के सिद्धान्तों से तुलना कर, इसे समाप्त करेंगे। यह तुलना इस बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से की जायगी कि इनमें प्रमुख अन्तर कहाँ से पाये जाते हैं तथा ये अन्तर, कहाँ तक अल्प-विकसित देशो के आर्थिक विकास से सम्बन्ध रखते हैं। यह तुलना दो शीर्षकों के अन्तर्गत की जायगी : (क) राज्य के विकासात्मक कार्य, तथा (ख) सन्तुलित विकास की प्रकृति एवं यन्त्र।

राज्य के विकासात्मक कार्य

हमारे विचार मे, सबसे पहिले अल्प-विकसित देशो के विशेष सन्दर्भ मे, केन्स के नाम से सम्बद्ध राज्य के स्थायित्व प्रदान करने के कार्य को, इससे विकासात्मक कार्य से, पहिले की अपेक्षा और अधिक पैमाने पर, मिलाना चाहिए। हैरोड, डोमर एवं रॉबिन्सन के अबध-विकास-सम्बन्धी माडलो मे इस बात को स्पष्ट करने का निषेधात्मक गुण पाया जाता है कि किसी अर्थ-व्यवस्था के दीर्घकालिक विकास को, निजी बचत एव निवेश की मरजी, लाभ से प्रेरित आविष्कार एव नवीन क्रियाओं के संयोग तथा बाजार की अनियन्त्रित शक्तियों की कार्यवाही पर छोड़ना, कितना अनिश्चित एवं निष्फल है। इन सभी विकास मॉडलो से अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ को यह सकारात्मक शिक्षा मिलती है कि आज की औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं ने अबध नीति के वातावरण मे जिस गति से विकास किया था, उससे यदि इन अर्थ-व्यवस्थाओ का अधिक प्रभाव-पूर्ण एवं द्रुतगति से उद्योगीकरण करना है, तो राज्य को केवल स्थायित्व प्रदान करने वाले कार्यों के रूप मे ही नही, वरन् विकासात्मक कार्य करने चाहिए।

अधिक स्पष्टतः, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को हैरोड के स्वतःप्रेरित निवेश-अनुपात (k) पर उससे अधिक गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा, जितना कि वह स्वयं एक विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में करता है। क्योंकि, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में, जैसा कि हैरोड स्वेच्छा से मान लेता है, स्वतः प्रेरित निवेश अनिवार्यतः केवल एक आय-उत्पादक, बचत को समाप्त करने वाला शस्त्रीकरण-सम्बन्धी व्यय ही नहीं, वरन् सम्भवतः क्षमता-वर्द्धक सार्वजनिक निवेश-सम्बन्धी व्यय है। स्वतःप्रेरित निवेश के निर्णायक महत्त्व को कम आंकने से ही हैरोड के निजी निवेश को अभिप्रेरित करने के लिए आय में वृद्धि की अपेक्षित दर को महत्त्व दिया है। अल्प-विकसित परिस्थितियों में, जहाँ किसी प्रकार भी पर्याप्त मात्रा में उत्पादक निवेश लाने के लिए निजी अभिप्रेरणा एवं जोखिम वहन करने की बहुत न्यूनता होती है, वहाँ, स्वतःप्रेरित निजी निवेश का प्रेरित निवेश पर समावेश, अन्यथा असह्य बोझ को बहुत कम कर देता है। यह दिखलाया जा चुका है कि स्वतःप्रेरित निवेश को हटा देने के परिणाम-स्वरूप, हैरोड के अवस्फीति झुकाव को विकास-समीकरणों में स्पष्ट सार्वजनिक नीति-सम्बन्धी प्राचल के रूप में स्वतःप्रेरित निवेश को अपनाने से दीर्घकालिक विकास के प्रारम्भ करने वाले आधार के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। सरकारी निवेश के रूप में निर्दिष्ट किया हुआ रहने पर स्वतःप्रेरित निवेश उन वाह्य मितव्ययिताओं के सर्जन का कारण होता हैं, जो निजी उपक्रम को प्रोत्साहित करने तथा सामान्य उत्पादकता को बढ़ाने में बहुत अधिक सहायक होती हैं। निजी प्रकृति के स्वतःप्रेरित निवेश की अपेक्षा सार्वजनिक प्रकृति के निजी निवेशों को बहुत अधिक स्थायी होने का अतिरिक्त लाभ होता है।

डोमर द्वारा जोर दी गई निवेश की दुहरी प्रकृति ऐसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में, जो राज्य को केन्सीयन तरीके से बचत एवं निवेश को नियंत्रित करने का कार्य सौंप देती है, एक नया अर्थ-ग्रहण कर लेती है। क्योंकि, केवल अबंध बचत एवं निवेश की मान्यता पर ही निवेश के क्षमता-सूचक सर्जनात्मक पहलू को अधिकाधिक उत्पादकता एवं मूल्य-स्थायित्व के लिए एक शक्ति के रूप में अभिनन्दन करने की बजाय, निवेश की लाभदायकता को और अधिक कम करने के लिए निन्दा की जा सकती है। एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था, जो केन्स के कुछ अंशों में निवेश के समाजीकरण और राज्य के माध्यम से सामुदायिक बचत के प्रस्ताव को गम्भीरता पूर्वक मानती है,[1] समर्थ माँग के उत्पादन-क्षमता से अधिक अथवा कम होने के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न स्फीति अथवा अवस्फीति की आशंका के स्थायी भय से मुक्त हो जायगी। हम ने आर्थिक विकास में राज्य के मौद्रिक एवं राजकोषीय महत्त्व की विवेचना में केन्स के उन सुझावों का प्रयोग किया है।

---

1. जेनरल थियरी, पृ० 378 एवं पृ० 376।

निवेश की माँग एवं वृद्धिशील बाजार के महत्त्व पर आर० नर्क्स[1] द्वारा दिया गया जोर केवल अबध नीति के अन्तर्गत ही कुछ अर्थ रखता है। आर्थिक विकास में सरकार के कार्य के निरोध से ही नर्क्स के एक ओर घरेलू निवेश के सम्बन्ध में अत्यधिक निराशा-वादी तथा दूसरी ओर 'बचत सम्भाव्य' के सम्बन्ध में अत्यधिक आशा-वादी विचार को प्रोत्साहन मिला है। क्योंकि 'प्रदर्शन-प्रभाव,' जिसे नर्क्स अल्प-विकसित विवृत अर्थ-व्यवस्था के घरेलू निवेश के लिए सम्भावित रुकावट मानता है, वास्तव में, यदि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था मे प्रभाव-पूर्ण आयात-नियन्त्रण हो, तो शास्त्रीय है। इसी तरह सम्बद्ध अर्थ-व्यवस्था में 'बचत सम्भाव्य' के रूप में छिपे हुए बेरोजगारो की लामबन्दी भी, प्रभावपूर्ण सार्वजनिक कार्यक्रम अथवा लोकश्रम-नियोजनालयों के अभाव में पूर्णतः शास्त्रीय है। इस प्रकार, उपभोग में कमी के द्वारा बचत एव निवेश मे वृद्धि की सस्थापक सीमा (पूर्ण रोजगार की मान्यता पर) एव उपभोग तथा निवेश दोनों में साथ-साथ वृद्धि (पूर्ण रोजगार से कम की मान्यता पर) केन्सीयन सीमा के बीच मध्यम मार्ग के अवलबन करने का नर्क्स का प्रयास, केवल अबध नीति के परित्याग, यानी राज्य द्वारा बाह्य रूप से 'प्रदर्शन-प्रभाव' के नियन्त्रण तथा आतरिक रूप मे सार्वजनिक कार्यक्रम अथवा श्रम के विनिधान की सार्वजनिक प्रणाली मे सुधार के अधिक सक्रिय कार्यक्रम अपनाने से ही सम्भव हो सकता है।

किन्तु, एच० एच० हैनसेन, जोन रॉबिन्सन, तथा डब्ल्यू० ए० लीविस[2] के विकास-सम्बन्धी विवेचन इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अपवाद हैं। आर्थिक विकास में अन्य लेखकों की अपेक्षा लीविस सरकार के महत्त्व पर अधिक जोर देता है, यद्यपि *वह सरकार के कार्य को उत्पादन के साधनों के नियन्त्रण की केन्सीयन नीति, न कि* इन साधनो को अपने स्वामित्व मे लाने की मार्क्सीयन नीति के द्वारा अमल मे लाना चाहता है। अन्यत्र लीविस इस बात की ओर सकेत करते हैं कि कोई अपूर्ण रोजगारी वाले श्रम की अधिकता वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था, स्फीति-जनक दबाव मे वृद्धि के बगैर अपेक्षाकृत श्रम प्रयोग करने वाले एवं शीघ्र फल देने वाले विकासात्मक कार्यक्रमो के लिए वित्त-प्रबन्ध के उद्देश्य से साख का विस्तार कर सकती

---

1. देखें इनका 'प्रोब्लेम्स ऑफ कैपिटल फारमेशन, एटसेट्रा'।
2. देखें हैनसेन, दि अमेरिकन इकॉनामी, मैकग्रीऊ-हिल, न्यूयार्क, 1957 ; रॉबिन्सन, 'दि एकुमुलेशन ऑफ कैपिटल,' इरविन होमवुड, 1956; लीविस, 'दि थियरी ऑफ इकॉनामिक ग्रोथ,' एलेन एड अनवीन, लन्दन, 1955 ; हैनसेन की पुस्तक एवं लीविस की पुस्तक के सम्बन्ध मे क्रमशः करेंट इकॉनामिक कमेंट (1957 नवम्बर,) तथा इकोनोमैट्रिका (जनवरी, 1957); मे हमारी समीक्षाओ की तुलना करें।

है ।[1] पूंजी-वृद्धि के सम्बन्ध में जोन रॉबिन्सन की विवेचना का अति सूक्ष्म प्रभाव यह पड़ता है कि इससे आर्थिक विकास जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या को 'खेल के पूँजीवादी नियमों,'[2] पर छोड़ देने का सम्पूर्ण विचार अविश्वसनीय सिद्ध हो जाता है । क्योंकि, अबंध नीति-सम्बन्धी इनका विकास-मॉडल, हैरोड एवं डोमर के मॉडलों से भी अधिक निश्चयता पूर्वक, इस बात को दिखलाता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं तथा उन्नतिशील तकनीक की संभावनाओं के अनुरूप किसी अर्थ-व्यवस्था के स्थायी विकास जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य को निजी मुनाफ़ा प्राप्त करने वालों को सौंपना कितना संदिग्ध, अयोग्य एवं अनिश्चित है । अतएव यह बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है कि जोन रॉबिन्सन ने अन्यत्र यह सुझाव दिया है कि अपने उद्योगीकरण-सम्बन्धी कार्य-क्रम के निर्धारण में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को समाजवादी राज्य का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा ।[3] इनके इस बयान पर विचार कर कि "प्रजातन्त्र के पारम्परिक तरीकों को नियन्त्रण की आवश्यक मात्रा के साथ मिलाना वर्तमान समय

---

1. डब्ल्यू० ए० लीविस, 'इकॉनामिक डिवेलपमेंट विथ अनलिमिटेड सप्लाइज ऑफ लेबर', **दि मान्चेस्टर स्कूल ऑफ इकोनामिक एंड सोशल स्टडीज,'** मई 1954 ।
2. देखें इनकी पुस्तक **'दि एकुमुलेशन ऑफ कैपिटल ।'**
3. हितोत्सुबासी यूनिवर्सिटी (जापान) के समक्ष इनका व्याख्यान, जैसा कि 30 मई, 1955 के **हितोसुबासी सीनबन** द्वारा सूचित किया गया था; इस सम्बन्ध में एवं भारतीय अर्थ-शास्त्री के बयान के रूप में अत्यधिक रोचक जान पड़ता है । व्याख्यान का एक अंश इस प्रकार है—"जापान के आर्थिक विकास के इतिहास से हम लोगों को यही शिक्षा मिलती है । हम लोग पाते हैं कि 1868 से 1879 के बीच जापान की सरकार ने उद्योगीकरण को प्रोत्साहित करने के लिए सभी प्रकार की सुविधाओं की व्यवस्था में मार्ग-दर्शन का कार्य किया था । इन्होंने पोत-प्रांगणों, लोह-ढलाई घरों, पश्चिमी यन्त्रों से सुसज्जित आदर्श कारखानों, रेलवे-लाइनों तथा टेलीग्रापस आदि का निर्माण किया तथा नई तकनीकी के सम्बन्ध में शिक्षा-प्रदान करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया । जापान की सरकार द्वारा प्रदान किया गया यह प्रोत्साहन जापान के आर्थिक विकास के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी था तथा इसने उद्योगीकरण के लिए आवश्यक समय में कई दशाब्दियों की कमी कर दी । आज भारत भी उन्हीं परिस्थितियों से गुजर रहा है, जिनसे जापान उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में अपने द्रुतगति से विकास की प्रेरणा में से गुजर रहा था । अतएव, सरकार को मार्ग-प्रदर्शन का कार्य करना है तथा देश में आर्थिक विकास के लिए संवेग का सर्जन करना है । (डी० झा 'फिस्कल पालिसी ऐंड दि इकॉनामिक डिवेलपमेंट ऑफ अंडरडिवेलप्ड कन्ट्रीज,' **इंडियन जनरल ऑफ इकॉनामिक,** जुलाई, 1956.)

की प्रधान राजनीतिक समस्या है" ।[1] कोई केवल यह सन्देह व्यक्त कर सकता है कि अल्प विकसित अर्थ-व्यवस्था के उद्योगीकरण के लिए तैयार की गई समाजवादी राज्य की जोन रोबिन्सन की धारणा अनिवार्यतः उत्पादक सुविधाओ के केन्द्रीय नियन्त्रण पर आधृत तथा विकसित अर्थ-व्यवस्था के स्थायित्व के लिए अनुशसित केन्स के 'राज्य समाजवाद की व्यवस्था[2] की ही तरह है ।

यद्यपि हैनसेन स्पष्ट रूप से विकसित अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध मे व्याख्या करता है, तथापि वह बहुत सी ऐसी बातें बतलाता है, जो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए बहुत ही शिक्षा-प्रद है ।[3] 'प्रजातन्त्रोय कल्याणकारी राज्य' के साथ-साथ 'मिश्रित सार्वजनिक-सह-निजी-अर्थ-व्यवस्था', को जिसका हैनसेन अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था के स्थायी विकास के लिए समर्थन करता है, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अधिकतम विकास के लिए और प्रबल रूप में प्रभावित किया जा सकता है । क्योंकि, जैसा कि हैनसेन मानते हैं, मिश्रित अर्थ-व्यवस्था का प्रधान अस्त्र राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति है, जिसे पूंजी-सचय एव तकनीकी प्रगति को तीव्र बनाने तथा समर्थ माँग को स्थायी बनाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है । इसी प्रकार प्रजातन्त्रात्मक कल्याणकारी राज्य को केवल 'तैयार स्थायित्व प्रदान करने वाले साधनों' (जैसे सामाजिक बीमा-सम्बन्धी भुगतान, कृषि को समर्थन देने के कार्यक्रम, सार्वजनिक इमारतो, सामुहिक शिक्षा, एव अन्य, जिनका समर्थन उसने विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ मे किया है) की व्यवस्था करने वाले के रूप मे ही नही, वरन् सामान्य उत्पादकता को बढाने के लिए अनिवार्य 'सामाजिक पूंजी' (जैसे विद्यालयों, अस्पताल, सार्वजनिक मनोरजन केन्द्रो, सार्वजनिक पुस्तकालयो, सार्वजनिक कल्याण-

---

1. देखें इनका कलेक्टेड इकॉनामिक पेपर्स, पृ० 113. ।
2. देखें जेनरल थियरी, पृ० 378. वहाँ केन्स; जैसा कि कभी-कभी कहा जाता है, केन्सीय समाजवाद एवं पारम्परिक समाजवाद मे सावधानी पूर्वक निम्नाकित तरीके से विभेद करते हैं : "राज्य के लिए उत्पादन के साधनों के स्वामित्व को प्राप्त करना उतना महत्त्वपूर्ण नही है । यदि राज्य उपकरणो को बढाने में लगाये जाने वाले साधनों की कुल मात्रा तथा इनके स्वामित्व के लिए आधारभूत पारिश्रमिक की दरें निर्धारित करने मे सफल हो जाता है, तो यह सभी अपेक्षित चीजों को प्राप्त कर लेता है । साथ ही, समाजीकरण के लिए आवश्यक उपायो को क्रमशः तथा समाज की सामान्य परम्पराओं को भंग किये बगैर अपनाया जा सकता है ।"
3. हैनसेन की मिश्रित 'अर्थ-व्यवस्था एवं कल्याणकारी राज्य' की योजना की विस्तृत विवेचना के लिए देखें मेरा निबन्ध 'प्रोफेसर हैनसेन ऑन अमेरिका इकॉनामिक रिवोल्यूशन,' इकानामिक जनरल, सितम्बर, 1958. ।

विभाग एवं राज्य द्वारा नियन्त्रित जीवन की अन्य सुविधाओं) प्रदान करने वाले के रूप में समझा जा सकता है। अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सन्दर्भ में, हैनसेन की 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं कल्याणकारी राज्य' की धारणा के अन्तर्गत सम्भवतः प्रत्यक्ष नियन्त्रण (जैसे विनियोग की प्राथमिकता की नीति, मूल्य-नियन्त्रण एवं आयात-नियन्त्रण) तथा परोक्ष राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों का भी समावेश करना पड़ेगा। साथ ही, अल्प-विकसित देशों के द्रुतगति से उद्योगीकरण के लिए सम्भवतः हैनसेन की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था एवं कल्याणकारी राज्य की योजना तथा केन्स के 'राज्य-समाजवाद' की कुछ अधिक विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता पड़ेगी, जिससे इनके अन्तर्गत कुछ ऐसे उद्योगों एवं उद्यमों, जिनका जन-कल्याण एवं निजी उपक्रम के प्रोत्साहन में महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है (उदाहरण के लिए, जनोपयोगी सेवाएँ तथा बैंकिंग की सुविधाएँ) का सरकारी स्वामित्व एवं संचालन के अन्तर्गत समावेश किया जा सके।

हैनसेन एवं हमारे बीच प्रधान अन्तर यह है कि वह अधिक परम्परा-निष्ठ केन्सीय तरीके से राज्य को मुख्यतः त्रुटि-पूरक संस्था मानता है, जबकि हम उत्पादन-क्षमता को अधिकाधिक बनाने के अतिरिक्त कार्य को राज्य के जिम्मे सुपुर्द करते हैं। क्योंकि, अल्प-विकसित देशों में राज्य का निर्णायक कार्य समर्थ माँग के स्थायित्व को प्रोत्साहित करना नहीं है। वरन्, ऐसे देशों में राज्य का प्रधान आर्थिक कार्य समर्थ माँग में वृद्धि के दिये हुए स्तर अथवा दी हुई दर की तुलना में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसकी उत्पादन-क्षमता को विकसित करना है। इस उपर्युक्त कार्य को पूरा करने के लिए केन्द्रीय नियन्त्रण एवं केन्द्रीय स्वामित्व को कार्य के अनुसार उचित अनुपात में तथा सम्बद्ध अल्प-विकसित देश के सामाजिक दर्शन के अनुरूप मिश्रित करना अनिवार्य है। अनन्य नियन्त्रण के सिद्धान्त एवं अनन्य स्वामित्व के सिद्धान्त के बीच अव्यावहारिक विलगाव कम-से-कम ऐसे समाज के लिए जिसमें केन्द्रीय अधिकारी की बुराइयों के विरुद्ध प्रजातन्त्रात्मक बचाव उपलब्ध है, बिल्कुल अर्थहीन है। किन्तु यह एक ऐसा कार्य है, जिसमें तकनीकी अर्थ-शास्त्रियों को राजनीति-शास्त्र के विद्वानों, दार्शनिकों, समाज-शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों का सह-योग मिलना चाहिए, यदि हमें मानव-मूल्यों के रूप में अर्थपूर्ण एवं लाभदायक तक-नीकी सलाह देते हैं।

संतुलित विकास की प्रकृति एवं यंत्र

आर्थिक विकास के लेखकों में संतुलित विकास शब्द के जिक्र करने का रिवाज-सा हो गया है। किन्तु, अधिकांश लेखक इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाते हैं कि किस वस्तु को संतुलित किया जाता है तथा इस बात को नहीं समझ पाते हैं कि जहाँ तक अबंध-नीति संबंधी अर्थ-व्यवस्था का संबंध है, संतुलित विकास, यदि पद के

रूप मे नहीं, तो सार रूप मे, परस्पर-विरोधी है। इसी प्रकार वे लोग उस निश्चित विधि को भी स्पष्ट नही करते, जिसके द्वारा 'संतुलित विकास' (कुछ परिभाषाओं के आधार पर) को प्राप्त किया जा सकता तथा बनाये रखा जा सकता है। अतएव, 'सतुलित विकास' की विभिन्न धारणाओ तथा इनमे सन्निहित विकास-सबधी विधियो की आलोचनात्मक समीक्षा लाभदायक जान पडती है।

आधुनिक विकास-सबधी अर्थशास्त्र दीर्घकालीन विकास की विक्षुब्ध प्रकृति एव अल्पकालीन साम्यावस्था की अस्थायी प्रकृति, यानी पूँजीवाद के चक्रीय विकास में केन्स एव शुम्पीटर की अतःप्रज्ञा व अतर्दृष्टि को परिचालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनाने की व्याख्या के प्रयास से प्रारभ होता है। मुख्य रूप से अवध-नीति की स्थिति मे एक विकसित अर्थ-व्यवस्था के अस्थायी विकास के लिए निवेश की दोहरी प्रकृति पर ध्यान देने के सबध मे हैरोड एव डोमर ने नया मार्ग तैयार किया। केन्स के समर्थ माँग के अल्प-कालीन सिद्धात की तरह, बचत एवं निवेश की समानता को साम्यावस्था की पर्याप्त शर्त तभी समझा जा सकता है, जब कि पूँजी के कोप को स्थायी मान लिया जाता है। किन्तु, यदि पूँजी के कोप में वृद्धि होने दी जाय, जैसा कि दीर्घकाल मे अवश्य ही होगा, तो क्षमता मे परिवर्तन के परिणाम-स्वरूप निवेश के धनात्मक अथवा ऋणात्मक होने की सभावना उत्पन्न हो जाती है, जिससे निवेश एव बचत की अस्थायी समानता भग हो जाती है। इस प्रकार वृद्धिशील पूँजी के कोप वाली विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था मे बचत एव निवेश को किस प्रकार संतुलित किया जाय, यही प्रधान समस्या है, जिसके समाधान का हैरोड तथा डोमर ने औपचारिक रूप से प्रयास किया था।

हैरोड तथा डोमर मे उभयनिष्ठ सतुलित विकास का सार यह है कि यदि किसी अर्थ-व्यवस्था को बेकार क्षमता अथवा अतिरिक्त श्रम के बगैर निपज मे निरतर वृद्धि को बनाये रखना है, तो समर्थ माँग एव उत्पादन-क्षमता को किसी भी प्रकार सतुलित बनाये रखना अनिवार्य है। हैरोड के विकास-सबंधी सिद्धात मे, स्थायी विकास की एक आधारभूत शर्त यह है कि यदि बचत-अनुपात (s) एवं पूँजी-निपज-अनुपात (b) दिये हुए है, तो शुद्ध राष्ट्रीय वास्तविक आय (Y) मे उत्पादन-क्षमता के बराबर ही वृद्धि होनी चाहिए .

$$\triangle Y=\frac{s}{b}Y,$$

जिसका दायाँ पक्ष उत्पादन-क्षमता तथा बायाँ पक्ष समर्थ माँग मे वृद्धि है। इसी समीकरण से आय मे वृद्धि की निम्नांकित अपेक्षित दर (हैरोड की शब्दावली मे— प्रमाणित दर) प्राप्त होती है :

$$\frac{\Delta Y}{Y} = \frac{s}{b},$$

जो यह बतलाता है कि यदि अधिक अथवा कम क्षमता के बग़ैर उत्पादन-क्षमता को पूर्ण रूप से प्रयोग करना है तो आय में निश्चित रूप से s/b की स्थायी दर से वृद्धि होनी चाहिए। क्योंकि, उपर्युक्त समीकरण से यह स्पष्ट है कि यदि $\Delta Y/Y < s/b$, जो कि नियमित रूप से समग्र विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रचलित प्रवृत्ति मालूम पड़ती है, तो समर्थ माँग के उत्पादन-क्षमता से अधिक धीरे-धीरे बढ़ने के कारण, यानी $\Delta Y < s/bY$ के परिणामस्वरूप दीर्घकालीन अस्थायित्व की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में प्रयोग करने पर माँग से धीरे-धीरे क्षमता में वृद्धि $\Delta Y/Y > s/b$ की विपरीत प्रवृत्ति में स्फीतिजनक झुकाव ही अंतर्निहित है, जो दीर्घकाल में सम्मिलित होने वाले अल्पकालों में $\Delta Y > (s/b)Y$ को सूचित करता है। यदि स्फीतिजनक प्रवृत्ति को छोटे-से-छोटा बनाना है, तो एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को समर्थ माँग के विस्तार (ΔY) को मंद बनाना या उत्पादन क्षमता में वृद्धि ($(s/b)Y$) को तीव्र बनाना या दोनों कार्यों को करने के लिए उचित उपायों को अपनाना होगा। फिर भी, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के स्फीति-जनक दबाव को कम करने की अपेक्षा वास्तविक पूँजी के संचय एवं दीर्घकालिक अपूर्ण रोज़गारी को दूर करने के लिए उपर्युक्त समीकरण की पूर्ति अथवा क्षमता-पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। दूसरे शब्दों में, एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को केवल समर्थ माँग में वृद्धि की दर तथा स्थायी विकास के लिए उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की दर को ही समान नहीं बनाना चाहिए, वरन् उत्पादन-क्षमता में वृद्धि की दर एवं जनसंख्या में वृद्धि की दर को भी बढ़ती हुई उत्पादकता के साथ बराबर करना चाहिए, यानी—

$$\frac{\Delta Y}{Y} = \frac{s}{b} = n + h,$$

जिसमें n श्रम-संख्या में वृद्धि की दर, h श्रम की उत्पादकता में वृद्धि की दर है, और अतएव $n+h$ 'विकास की अधिकतम सामाजिक दर' है, जिसकी व्याख्या इस पुस्तक में पहले की जा चुकी है। वहाँ पर यह दिखलाया गया है कि हैरोड की 'प्राकृतिक' दर श्रम की परिवर्तनशील उत्पादकता (अथवा परिवर्त्तनशील श्रम-निपज अनुपात) से युक्त सामान्य स्थिति की एक विशेष स्थिति है; क्योंकि इनकी 'प्राकृतिक' दर के अनुरूप इनकी 'प्रमाणित' दर पूर्ण रोजगार की व्यवस्था तभी कर सकती है, जबकि श्रम-निपज-अनुपात में इसी प्रकार कमी नहीं होती (अथवा श्रम की उत्पादकता में वृद्धि नहीं होती), जिससे कि निपज की प्रति इकाई को कम श्रम की आवश्यकता पड़े। दूसरे शब्दों में, जैसा कि स्थायी श्रम-निपज अनुपात की मान्यता पर होता

है, यदि उत्पादन-क्षमता में उसी दर से वृद्धि-विषयक श्रम-संख्या मे वृद्धि होती है, तो एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था दोनो पूंजी के अभाव से दीर्घकालिक अपूर्ण रोजगारी तथा वृद्धिशील उत्पादकता के कारण स्थायी जीवन-मान का अनुभव करेगी। अतएव, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के लिए हम लोगों की सतुलित विकास की धारणा मे समर्थ मांग, उत्पादन क्षमता एवं श्रम, जिसकी उत्पादकता समय के क्रम से बढ रही हो, के विकास की दरें (हैरोड की प्राकृतिक दर की विवेचना की तरह स्थायी रहने के बजाय) सन्निहित हैं।

जहाँ तक डोमर के 'सतुलित विकास' की धारणा का संबध है, एक वृद्धिशील अर्थ-व्यवस्था के मांग-पक्ष की ओर हैरोड की अपेक्षा वह अधिक स्पष्ट है; क्योंकि डोमर ने मांग-पक्ष के गुणक पहलू की विवेचना की है, जबकि हैरोड ने ऐसा नही किया है। पूर्ति पक्ष की ओर, डोमर एव हैरोड के पूंजी-निपज अनुपात के व्युत्क्रम के प्रयोग यानी निवेश की उत्पादकता के प्रयोग को लेकर हैं: इस प्रकार, नि सदेह समर्थ मांग के स्तर के रूप में $Y = I/\alpha$ तथा उत्पादन-क्षमता के स्तर के रूप मे $Y' = \sigma K$ और इसलिए $Y = Y'$ अथवा $I/\alpha = \sigma K$ को स्थायी साम्यावस्था की शर्त के रूप में प्रारभ करते हुए (जिसमे Y समर्थ मांग, Y' उत्पादन-क्षमता है। शुद्ध निवेश, K पूंजी का कोष, α बचाने की सीमात (=स्वीकृत औसत) क्षमता एव σ निवेश की सीमात (=स्वीकृत औसत) क्षमता हैं), डोमर स्पष्ट रूप से गत्यात्मक साम्यावस्था शर्त की ओर आगे बढता है।

$$\frac{\triangle 1}{1} = \alpha\sigma$$

जो मांग-पक्ष की ओर से $\triangle Y = \triangle 1/\alpha$ तथा पूर्ति-पक्ष की ओर से $\triangle Y' = \sigma \triangle K = \sigma 1$ और अतएव $\triangle Y = \triangle Y'$ या $\triangle 1/\alpha = \sigma 1$ का अनुकरण करता है।

डोमर का विकास-सम्बन्धी समीकरण $\triangle 1/1 = \alpha\sigma$ हैरोड के विकास की 'प्रमाणित' दर की ही तरह है; क्योंकि डोमर के $Y = 1/\alpha$ से हमे निम्नांकित प्राप्त होता है:

$$\frac{\triangle Y}{Y} = \frac{\triangle 1/\alpha}{Y} = \frac{\triangle 1/\alpha}{1/\alpha} = \frac{\triangle 1}{1} = \alpha\,\sigma = \frac{s}{b}.\ (\alpha = s,\ \sigma = 1/b)$$

इस प्रकार, डोमर के सतुलित विकास की धारणा समर्थ मांग एव उत्पादन क्षमता को सतुलित रखने की है, जिससे कि कोई अर्थ-व्यवस्था अतिरिक्त अथवा न्यून क्षमता के उत्पन्न हुए बगैर, सतत रूप से विकास कर सके। हैरोड की तुलना मे डोमर द्वारा सूत्र के रूप मे इसे वर्णित करने का लाभ यह जान पडता है कि सार्वजनिक निवेश के रूप मे इसकी व्यवस्था को सम्भव बनाने के लिए डोमर ने मांग-पक्ष की ओर स्पष्ट रूप से स्वतःप्रेरित गुण्य ($\triangle 1$) को शामिल किया है। इसके विप-

रीत इसका दोष हैरोड की तरह की 'प्राकृतिक' दर की व्याख्या का अभाव जान पड़ता है, जो पूर्ण रोजगार एवं पूर्ण क्षमता की व्याख्या कर सके। साथ ही, डोमर के 'संतुलित विकास' के विरुद्ध भी वे ही आलोचनाएँ दी जा सकती हैं, जो हैरोड के स्थायी तकनीकी गुणांकों (उदाहरण के लिए, स्थायी पूँजी-निपज अनुपात, स्थायी पूँजी-श्रम अनुपात तथा स्थायी श्रम-निपज) की मान्यता के विरुद्ध दी जाती है। अंशतः, इसी प्रकार की आलोचनाओं को सन्तुष्ट करने के लिए हमने गत्यात्मक तकनीकी प्राचलों की व्याख्या से सम्बद्ध एक अध्याय (इस पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय) को सम्मिलित किया है। फिर भी, तकनीकी प्राचलों को इच्छित दिशा में परिवर्तनीय बनाने में बाजार की शक्तियों तथा साधनों के सापेक्ष मूल्य को परिवर्त्तनों की विश्वस्तता के प्रति हम ने पर्याप्त मात्रा में संशय व्यक्त किया है। इसके विपरीत इस बात पर हमने कुछ आशा व्यक्त की है कि सार्वजनिक नीति विचारपूर्वक उन तथ्यों को प्रभावित कर सकती है, जो बाजार की शर्तों से स्वतन्त्र रूप में तथा अन्य प्रचलित विकास-सम्बन्धी परिवर्त्तियों के सन्दर्भ में तकनीकी गुणांकों को प्रभावित करते हैं।

हैरोड तथा डोमर ने विकास के संयंत्रों की अनिवार्य प्रकृति को परिचालन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनाया है; क्योंकि लोग विकास की अपेक्षित दर की जाँच तथा सम्भवतः हेर-फेर के लिए बचत-अनुपात एवं पूँजी-निपज-अनुपात (या इसके व्युत्क्रम) पर मापनीय महत्त्वपूर्ण परवर्त्तियों के रूप में जोर दिया है। इन महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तियों की व्यापक प्रकृति के चलते हैरोड तथा डोमर द्वारा वर्णित विकास संयंत्र सभी अर्थ-व्यवस्थाओं में, यद्यपि कुछ सुधार के साथ, लागू होता है। इसके विपरीत, जोन रॉबिन्सन का विकास-सम्बन्धी संयन्त्र है। जिसमें विशेष रूप से पूँजीवादी प्रकृति के मूल्य एवं वितरण-सम्बन्धी प्राचल सन्निहित हैं। यद्यपि जोन रॉबिन्सन का विकास-सम्बन्धी संयंत्र पूँजीवादी व्यवस्था के ऐतिहासिक विकार को अधिक यथार्थवादी तरीके से व्यक्त करता है, तथापि इसमें कम अनुकूलता है, अतएव इसमें व्यापक आकर्षण का अभाव है। हम ने यह अनुमान लगाया है कि जोन रॉबिन्सन का उद्देश्य यह दिखलाना हो सकता है कि आज की किसी अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को उत्पादन के अन्य साधनों की तुलना में श्रम के लिए अधिक प्रतिकूल विकास की पद्धति को अपनाना कितना व्यर्थ एवं असह्य होगा। जोन रॉबिन्सन के पूँजी-संचय-सिद्धान्त का आशय यह जान पड़ता है कि आर्थिक विकास की ऐसी पद्धति के लिए, जो पूर्ण रोजगारी एवं मजदूरी कमानेवाले वर्गों के उपभोग की ऊँची आकांक्षाओं के लिए कम-से-कम हानिकारक सिद्ध हो सकती है, 'खेल के पूँजीवादी नियमों' को सार्वजनिक नीति से प्रतिस्थापित करना चाहिए। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि जोन रॉबिन्सन 'श्रमवाद'-सम्बन्धी केन्सीय रूपान्तर से सहमत हैं।

अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं से अधिक प्रत्यक्ष रूप में सम्बद्ध आर० नर्स्के

का पूंजी-निर्माण का सिद्धान्त एव 'संतुलित विकास है' ।[1] नर्क्स की सतुलित विकास धारणा इस प्रकार जान पडती है कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को मुख्यत', स्वतन्त्र समाज के ढांचे के अन्तर्गत आतरिक नीतियो एवं विदेशी व्यापार-सम्बन्धी नीतियो के सम्मिश्रण के द्वारा निवेश की मांग एव पूंजी की पूर्ति के बीच सतुलन स्थापित करना चाहिए। पूंजी-सचय के मांग-पक्ष पर इनका जोर संस्थापकों की इस धारणा कि 'पूर्ति स्वय अपनी मांग का सर्जन करती है' के विरुद्ध केन्स की प्रतिक्रिया को प्रतिबिम्बित करता है। अल्प-विकसित अर्थ व्यवस्था के आर्थिक विकास के स्पष्ट उद्देश्य मे निवेश की मांग के विस्तार के लिए इनकी चिंता अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के बाज़ार अथवा कच्चे माल के साधन के रूप मे समझने की परम्परावादी प्रवृत्ति से एक प्रकार का सुखद अपसरण है। किन्तु निवेश की मांग के लिए इनकी उस चिंता के परिणाम-स्वरूप बचत की पूर्ति के लिए इनकी दूसरी चिंता, जो किसी भी दीर्घकालीन विश्लेषण-सस्थापक अथवा केन्सीयन के लिए अधिक सारभूत है, शक्तिहीन हो जाती है। साथ ही, नर्क्स की निवेश-मांग विषयक धारणा की एक प्रधान कमी 'प्रेरित' एव 'स्वतन्त्र' निवेश के बीच विभेद का अभाव है, जिससे वह विकासात्मक कार्यों के लिए प्रत्यक्ष रूप से निवेश-सम्बन्धी कार्यक्रमों के सगठन मे सरकार के स्पष्ट महत्त्व को छोड देता है। वह विवादास्पद ही रह जाता है कि क्या एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था निवेश-सम्बन्धी निर्णयों को मुख्यतः निजी उपक्रमियो के हाथ मे छोडकर उत्पादक कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा मे निजी निवेश को प्रेरित करने की बाजार-सम्बन्धी प्रारम्भिक कठिनाइयो को दूर कर सकती है, अथवा नही। जहां तक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का सम्बन्ध है, 'संतुलित विकास' (आय का), जैसा कि नर्क्स मानता है, की इच्छा निजी निवेश को प्रेरित करने के लिए नही, वरन् स्वय इसी के लिए की जाती है। क्योंकि, स्वतन्त्र निवेश की उपेक्षा कर प्रेरित निवेश पर हैरोड द्वारा अत्यधिक जोर देने के विरुद्ध आलोचना मे बतलाया जा चुका है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था के सकुचित बाजारों एव निम्न वास्तविक आय के चलते निवेश की प्रेरणा के मार्ग मे अवरोध के विरुद्ध नर्क्स की शिकायत बिल्कुल अनावश्यक हो जायगी, यदि क्षमता-वर्द्धक एव आय-उत्पादक प्रकृति के स्वतन्त्र सार्वजनिक निवेश को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जायगा।

पूंजी-सचय के पूर्ति-पक्ष की ओर नर्क्स, छिपी हुई बेरोज़गारी से मिले हुए 'प्रदर्शन-प्रभाव' को 'बचत सम्भाव्य' मानता है। हम इन विषयों की व्याख्या पहिले ही कर चुके हैं. अतएव यहां पुन इस पर जोर देने की कोई आवश्यकता नही है। फिर भी, यहां कुछ अतिरिक्त विचार व्यक्त किया जा सकता है। प्रथमतः, जनसख्या की वृद्धि तथा पूंजी के विकास के फलनीय सम्बन्ध के विश्लेषण, जैसा कि हम ने विकास की सामाजिक श्रेष्ठ दर तथा दीर्घकालिक अपूर्ण रोज़गारी की विवेचना मे तथा हैरोड

---

[1] देखे इनकी पुस्तक 'प्रोब्लेम्स ऑफ कैपिटल फॉरमेशन इन अंडर डिवेलपड कन्ट्रीज'।

एवं जोन रॉबिन्सन ने अपने 'प्रगतिशील साम्यावस्था' तथा 'स्वर्णयुगीय साम्यावस्था' की विवेचना में किया था, के वग़ैर नर्क्से द्वारा जनसंख्या की व्याख्या छिपी हुई बेरोज़गारी को 'बचत सम्भाव्य' मान लेने तक सीमित है। द्वितीयत:, नर्क्से के 'संतुलित विकास' की विवेचना में तकनीकी प्रगति के महत्त्व की बिल्कुल उपेक्षा की गई है। इसी तकनीकी महत्त्व की उपेक्षा के कारण नर्क्से ने पूँजी-संचय की आवश्यकता पर अत्यधिक जोर दिया था, जबकि तकनीक में शुम्पीटर की तरह थोड़ी और दिलचस्पी से उसे यह पता लग सकता था कि एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था किसी दी हुई बचत अनुपात की तुलना में पूँजी-निपज अनुपात को घटाकर विकास की दर में वृद्धि कर सकती है। तृतीयत:, नर्क्से राजकोषीय नीति के कार्यक्षेत्र को अतिरिक्त 'बचानेवाले', 'विनियोग करनेवाले', 'नवीन क्रिया के संचालनवाले' तथा 'पुनर्वितरक' के रूप में, विभिन्न प्रकार के कार्यों को सौंपने के बजाय, इसे केवल वर्तमान बचतों को गतिमान करने तक ही सीमित रखता है। हम ने उन अल्प-विकसित देशों के लिए, जिनमें निजी उपक्रम, निजी स्वेच्छिक बचत तथा निजी नवीन क्रिया का प्रभाव पाया जाता है, राजकोषीय नीति के इन बादवाले कार्यों के महत्त्व की व्याख्या की है। अंतत:, यद्यपि नर्क्से पूँजी के आयात को विकासात्मक पूँजी का एक अतिरिक्त साधन मानता है, तथापि 'प्रदर्शन-प्रभाव' के सम्बन्ध में उसका संशययुक्त विवरण तथा 'बचत सम्भाव्य' के रूप में उसकी छिपी हुई बेरोजगारी के आशापूर्ण विवेचन का सम्भवत: ऐसा अनभिप्रेरित प्रभाव पड़ता हुआ दीखता है कि पूँजी के विदेशी साधनों पर निर्भरता महत्त्वहीन हो जाती हैं। हम ने केन्स के 'अन्तर्राष्ट्रीय समस्थितिकरण' की भावना के अनुरूप सम्भवत: राष्ट्र के अभिकरणों के द्वारा विदेशी उधारकरण के अति विस्तृत क्षेत्र का निर्देशन किया है। किन्तु इन सीमाओं के बावजूद, नर्क्से के आर्थिक विकास का सिद्धान्त इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि इसने वास्तविक पूँजी को, जो विकास का एक-मात्र वृद्धि करने योग्य साधन है, अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया है।

यदि समग्र मानव-समुदाय के कल्याण के लिए अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है, तो हैरोड, डोमर, हैनसेन, जोन रॉबिन्सन, नर्क्से, लीविस एवं अन्य केन्सीय-उत्तर लेखकों के विकास-सम्बन्धी विश्लेषण में प्रकाशित सम्भावनाओं पर और अधिक अनुसंधान, अध्ययन तथा खोज करनी चाहिए। यदि वर्तमान पुस्तक इस प्रकार के अध्ययन एवं अनुसंधान के लिए कुछ अतिरिक्त प्रेरणा प्रदान करती है, तो लेखक का परिश्रम व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

परिशिष्ट

संयुक्त राष्ट्र एवं आर्थिक विकास*

अपने पूर्ण रोजगार के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय उपायों के परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र ने अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के तरीकों पर एक विवरण प्रकाशित किया है, जो ए० बी० कोज (चिली), डी० आर० गैडगिल (भारत), जी० हकीम (लेबनन), डब्ल्यू० ए० लीविस (इंगलैंड) तथा टी० डब्ल्यू० सस्ज (यू० एस०)[1] द्वारा तैयार किया गया था। इस विवरण के अध्ययन से शीघ्र ही बहुत बड़ी सद्भावना, कल्पना पूर्ण परिज्ञान एवं विस्तृत सूझ प्रकट होती है। किन्तु प्रतिवेदन के इन प्रशंसनीय पहलुओं के बावजूद, इस बात की आशंका की जाती है कि तकनीकी पाठक इसमें प्रस्तावित विभिन्न उपायों के सैद्धान्तिक आधार से पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हो सकते। शायद विशेषज्ञ उन लोगों के विरुद्ध, जिन्होंने पूर्ण रोजगार के सम्बन्ध में प्रतिवेदन तैयार किया था, दी गई इस आलोचना कि वे अपने समक्ष समस्याओं को बहुत कुछ इस प्रकार समझते थे, मानो वे गणितीय समस्याएँ हों, से बहुत अधिक सचेत थे।[2] वे इतना अधिक सचेत थे कि परिचालन की दृष्टि से

---

*यह हमारा समीक्षा-सम्बन्धी निबन्ध है, जो प्रारम्भ में 'इंडियन इकॉनामिक जनरल' अप्रैल, 1954 में प्रकाशित हुआ था।

1 संयुक्त राष्ट्र, आर्थिक मामलों का विभाग, न्यूयार्क, मई, 1951 :

2 देखें संयुक्त राष्ट्र के इकॉनामिक एंड सोशल कौंसिल ऑफिशियल रेकर्ड्स, 10-वाँ सत्र, 358-वी बैठक, 21 फरवरी, 1950, पृ० 98. । विश्लेषणात्मक, न कि रीति-विधानसम्बन्धी समालोचना के लिए—देखें मेरा निबन्ध 'दि यूनाइटेड नेशन्स एंड फुल एम्प्लायमेंट' जनरल ऑफ पोलिटिकल इकॉनामी,' अगस्त, 1950 ।

सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण फलनीय सम्बन्धों की उपेक्षा में बहुत हद्द तक वे आगे जा सकते थे। ऐसा निस्संदेह अंशतः आर्थिक विश्लेपण के प्रयोजन के लिए आर्थिक विकास की समस्या की जटिलता एवं कठिनाई के परिणाम-स्वरूप है। फिर भी, चूँकि प्रतिवेदन का अभिप्राय अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास की व्याख्या करना है, अतः मैं मुख्यतः आर्थिक दृष्टिकोण से इसकी समोलोचना करना तथा शायद इसे कार्यान्वित करना उचित समझता हूँ। ऐसा करने में मैं प्रतिवेदन के नीति-सम्बन्धी विचार को छोड़कर इसके विश्लेपणात्मक पहलू पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहता हूँ।

प्रथमतः प्रतिवेदन में निम्न 'प्रति-व्यक्ति वास्तविक आय' (जिसका संयुक्त राज्य एवं कैनाडा-जैसे 'धनवान' देशों को 'निर्धन देशों' से पृथक् करने का कार्य अपना ही महत्त्व रखता है), के रूप में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की एक सक्रिय परिभापा दी गई है। तब अल्प-विकसित स्थिति को (1) आर्थिक संगठन एवं नियोजन, (2) टेक्नोलाँजी, (3) जनसंख्या की वृद्धि, तथा (4) आंतरिक एवं वाह्य पूँजी से सम्बद्ध किया गया है। प्रतिवेदन इन परिवर्तियों पर, पृथक् रूप में तथा एक-दूसरे के सम्बन्ध में सदा व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी सिफारिशों के निर्माण के उद्देश्य से विवेचना करता है।

विशेपज्ञ सम्भवतः अल्प-विकास की स्थिति के हानिकारक सहायक के रूप में जोर देने के कार्य की व्याख्या, वेरोजगारी, विशेपतः उस प्रकार की वेरोजगारी, जो मुख्य रूप से पूँजीगत साधनों तथा अन्य औद्योगिक सुविधाओं के अभाव के कारण उत्पन्न होती है, यानी 'संरचनात्मक वेरोजगारी' से प्रारम्भ करते हैं। अतएव, वे 'उद्योगीकरण' को, इस प्रकार की वेरोज़गारी का अत्यधिक तार्किक उपचार वतलाते हैं। इसके विपरीत इसे स्वीकार किया जाता है कि विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में सवसे जटिल प्रकार की वेरोज़गारी समर्थ माँग के अभाव की प्रचलित धारणा के कारण उत्पन्न होती है। जैसा कि श्रीमती जोन रॉविन्सन ने वतलाया है, तथा-कथित 'संरचनात्मक वेरोज़गारी' जनसंख्या में पूँजी-संचय से अधिक वढ़ने की स्पष्ट प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न मार्क्स के प्रकार की वेरोजगारी की एक-मात्र दूसरी आकृति है।[1] यह प्रवृत्ति पूँजीवाद के प्रारम्भिक विकास की प्रमुख विशेपता थी और जो आज औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों में पाई जाती है। किन्तु, प्रतिवेदन में ऐसी सीमांत स्थिति की उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया गया है, जिसमें कोई देश मार्क्सियन वेरोजगारी के दानव तथा केन्सीयन वेरोजगारी के अथाह सागर के वीच हो। जापान इसका उदाहरण है; क्योंकि इसका द्रुतगति से उद्योगीकरण कृपि पर आश्रित जनसंख्या की तुलना में कृपि के अवपूँजीकरण, यानी अस्थायित्व एवं समर्थ माँग में कमी के परिणाम-स्वरूप वड़े पैमाने पर वेरोज़गारी के वढ़ते हुए खतरे पर ही सम्भव हुआ है। अतएव फिर भी, अपूर्व रोज़गार के मुख्य उपचार के रूप में आर्थिक विकास पर

1. देखें इनका निवन्ध 'मि. हैरोड्स डायनैमिक्स', इकॉनामिक जनरल, मार्च, 1949।

उचित रूप से जोर देने के पूर्व केन्स के इस आरक्षण का प्रयोग करना चाहिए कि जब कोई देश द्रुतगति से सपत्तिवान् बन रहा है, तो निबन्ध-नीति की स्थिति मे नवीन निवेश की प्रेरणाओं की अपर्याप्तता के प्रलोभन से, इस सुखद स्थिति मे, आने वाली प्रगति मे, सभवत:, कोई अवरोध हो सकता है।[1] निबन्ध-नीति की व्यावहारिक प्रवृत्ति तथा पूँजी के ह्रासमान फलन के रूप मे निवेश की सैद्धान्तिक लुप्ति—इन दोनो के विरुद्ध इसे चेतावनी के रूप मे समझना चाहिए।

'मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक शर्तों की प्रगति-विषयक पूर्वदशाओ' की दूसरी विवेचना प्राय सामान्य जान पडती है। निश्चय ही अल्प-विकसित देशो को यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि द्रुतगति से आर्थिक प्रगति तब तक नही हो सकती, जब तक कि जनता मे प्रगति की इच्छाओ के साथ-साथ देश के हर-एक स्तर के नेता-गण—राजनीतिज्ञ, शिक्षक, इंजीनियर, व्यावसायिक नेता, मजदूर-सघो के नेता, पुजारी तथा पत्रकार—देश की आर्थिक प्रगति की इच्छा नही करेंगे (पृ० 16)। सदियो की निर्धनता, बेरोजगारी, तथा सामाजिक सुविधाओं के सामान्य अभाव ने सभी पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं को इनके औद्योगिक पिछडेपन के प्रति इतना अधिक सवेदनशील बना दिया है कि निष्कपट तरीके से प्रयोग करने तथा भाव-रहित तरीके से बोलने पर भी 'पिछडे हुए' शब्द से ये लोग अप्रतिष्ठाजनक अर्थ लगाने लगते हैं। बात यह है कि विश्व के अधिकाश अल्प-विकसित क्षेत्रो मे दीर्घकाल तक 'उपनिवेशवाद' के परिणाम-स्वरूप, उद्योगीकरण, विशेषत: तीव्र राष्ट्रीयवादी एशियाई देशों[2] के साथ एक घरेलू शब्द तथा लुभानेवाला राजनीतिक नारा हो गया है। आकस्मिक प्रेक्षको को जो-कुछ सहज राष्ट्रीय विचित्र विचार जैसा दीख पडता है, उसके पीछे उनकी सर्व-प्रथम आर्थिक एव सर्वोपरि लक्ष्य की ओर बढने वाली दृढता, सकल्प एव इच्छा-शक्ति अवस्थित है। आर्थिक दृष्टि से 'आगे बढने की यह इच्छा', राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने अथवा बनाये रखने के अप्रतिहत आग्रह से और भी बलवती हो जाती है। इन सभी राष्ट्रीयवादी भावनाओ मे अल्प-विकसित देशो को अमेरिका के उद्योगीकरण तथा स्वतन्त्रता, जापान की अद्भुत औद्योगिक प्रगति तथा, अच्छा समझा जाय अथवा बुरा, रूस के साहसी आर्थिक प्रयोगों के ऐतिहासिक उदाहरणो से निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहता है। विशेषज्ञ शायद क्रम को पलट देना चाहते हैं, जब वे यह तर्क देते हैं कि द्रुतगति से आर्थिक प्रगति के पूर्व प्राचीन दर्शनो को खण्डित करना पड़ेगा, प्राचीन सामाजिक संस्थाओं को समाप्त करना पड़ेगा, एवं जाति, मत, प्रजाति आदि को तोड़ना पडेगा। इस बात की सम्भावना अधिक है कि

---

1. जेनरल थियरी, पृ० 355.।
2. उदाहरण के लिए देखें हमारी पुस्तक 'लेबर इन दि फिलिपाइन इकॉनामी' स्टेनफोर्ड यनिव० प्रेस०, 1945.।

यह 'दुःखदायी पुनःसमंजन' द्रुतगति से आर्थिक प्रगति के परिणाम-स्वरूप होगा, न कि इसकी एक महत्त्वपूर्ण 'पूर्व शर्त' के रूप में। इन तथा-कथित अवरोधों पर अधिक जोर देने से केवल इस कृत्रिम धारणा को बल मिलेगा कि अल्प-विकसित देशों को केवल इसलिए पिछड़ा रहना पड़ेगा कि उनके रहन-सहन की प्रणाली पिछड़ी है। यदि, जैसा कि जान पड़ता है, आर्थिक प्रगति में इन सब सामाजिक बाधाओं को समाप्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, तो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं द्वारा 'निर्धारकों के निर्धारक' को दिया हुआ मानकर अतिक्रमण करने तथा प्राचलीय दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारकों की ओर प्रत्यक्ष-रूप में जाने को न्यायोचित सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी, किसी को इस बात पर हठ करने की आवश्यकता नहीं है।

'आर्थिक संगठन' एवं 'विकास-सम्बन्धी नियोजन' की विवेचना से मुझे यह बात खटकती है कि जहाँ एकत्रीकरण की समस्या विचार प्रधान-वस्तु है, वहाँ हम अ-संग्रहण के विलास-भोग में फँसे हुए हैं और जहाँ निपज का आधार ही अत्यधिक आग्रही समस्या है, वहाँ दी हुई निपज की बनावट पर गलत ढंग से जोर दे रहे हैं। हमें ऐसी धारणा हो जाती है कि जहाँ स्थिति का तकाजा है कि 'आर्थिक संगठन एवं नियोजन' आर्थिक समष्टिभाव की नीति के अनुसार हो, वहाँ विशेषज्ञ लोग संस्थापकों के विनिधान-सिद्धान्त को वस्तुतः यंत्रवत् प्रयोग में लाते हैं। इस प्रकार, उन लोगों ने साधनों के अयोग्य विनिधान के खतरे पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है, मानो अधिकतम निपज एवं पूर्ण रोज़गार की समस्या का पूर्व ही समाधान हो चुका है। यहाँ दो बातें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं: (1) विकास के सन्दर्भ में विदेशी व्यापार की व्याख्या तथा (2) अनुकरणीय विकासात्मक नियोजन के माडल के रूप में जापान का चुनाव।

जहाँ तक पहले का सम्बन्ध है, प्रतिवेदन इस बात को स्वीकार करता है कि अपूर्ण रोज़गारी वाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त का सीमित प्रयोग होता है। इस प्रकार वे देसी शिशु-उद्योगों के संरक्षण के उपायों को न्यायोचित बतलाते हैं। साथ ही, विदेशी व्यापार पर अत्यधिक निर्भरता एक अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को केवल चक्रीय दृष्टि से ही अस्थायी नहीं बना देती, वरन् अनेकता एवं उद्योगीकरण की उपेक्षा कर कुछ लाभदायक व्यावसायिक फ़सलों की खेती पर स्थायी रूप से तत्पर कर देती है। पुनः भुगतान सन्तुलन-सम्बन्धी कठिनाइयाँ देश के आर्थिक विकास को ज़टिल एवं बाधा-पूर्ण बना देती हैं। इस तरह, अनुमानतः 'विदेशी विनिमय उपार्जन' एवं 'विदेशी विनिमय बचाने वाले' उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुछ 'प्राथमिकता' निर्धारण को दृढ़ बनाती हैं। किन्तु, आर्थिक विकास में 'बड़े पैमाने पर क्रय' तथा 'राजकीय व्यापार' के महत्त्व की विवेचना नहीं हुई—यह बिल्कुल स्पष्ट है।

जहाँ तक दूसरे का सम्बन्ध है, विशेषज्ञ पिछली आधी शताब्दी मे जापान के विकास को 'व्यापक तथा समाकलित' विकासात्मक नियोजन के सन्दर्भ मे 'अत्यधिक शिक्षाप्रद' मानते हैं (पृ० 60)। यहाँ उन लोगो ने जिस बात की उपेक्षा की, वह है सामंतवादी पितृत्व की भावना; यह एक ऐसी 'प्राचीन सामाजिक सस्था' है, जिसे वे विकास के लिए रुकावट मानते थे, तथा 'उत्पादन का एकाधिकारी सगठन', जिसे वे विकासात्मक प्रेरणा के प्रतिकूल मानते थे; ये दो ऐसे तत्त्व है, जिन्होने बाधा उत्पन्न करने के बजाय जापान के द्रुतगति से उद्योगीकरण मे सहायता की। दूसरे शब्दों मे, जहाँ तक जापान का सम्बन्ध है, 'व्यापक तथा समाकलित' नियोजन की प्रकृति के सम्बन्ध मे अधिक स्पष्ट होने की आवश्यकता है; क्योंकि वहाँ नियोजन बहुत सारे 'आधार-भूत' उद्योगों (उदाहरण के लिए इस्पात का निर्माण तथा वस्त्र का निर्यात) को सरकार द्वारा पितृवत् प्रोत्साहन, आधार-भूत यातायात सेवाओं (उदाहरण के लिए रेलवे) पर सरकारी एकाधिकार तथा निजी एकाधिकारों को सरकार द्वारा प्रारम्भिक अनुदान (उदाहरण के लिए 'जैबासु', यद्यपि यह प्राय: सैनिक कारणो से है) पर आधृत था। अतएव, जे० ए० शुम्पीटर की इस विरोधाभासी उक्ति को, कि एकाधिकार, न कि प्रतियोगिता से, उद्योगीकरण की प्रगति प्रोत्साहित होती है, जापान में सीमित परीक्षा हुई। साथ ही, यह सदिग्ध है कि अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ का भविष्य मे विकास समाकलित 'घरेलू एवं कारखाना-उद्योग' के आधार पर लाभदायक तरीके से किया जा सकता है। क्योंकि, यह किसी प्रकार भी स्पष्ट नही कि जापान की द्रुतगति से औद्योगिक प्रगति सरकार द्वारा प्रेरित कारखाना-उद्योग के 'युक्तीकरण' से हुई अथवा 'घरेलू एवं कारखाना-उद्योगों' के समाकलन से। मैं स्वय इनमे से पहले को अधिक महत्त्व देने के लिए तैयार हूँ।

तकनीकी तत्व की ओर ध्यान देने पर, विशेषज्ञ अल्प-विकसित देशो में 'तकनीक के निम्न स्तर' पर उतनी ही चिंता व्यक्त करते हैं, जितना कि वे विकास के लिए तकनीकी प्रगति की आकस्मिक संभावनाओं की खोज पर जोर देते हैं। यह *कहा गया है कि अल्प-विकसित देशों मे तकनीक की सामान्य प्रगति में सर्व-प्रथम* बाधा एक शैक्षणिक एव प्रशासनिक सगठन का अभाव है, जिसके द्वारा उत्पादक नई टेकनोलॉजी की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। (पृ०29) साधारणत., अधिक जोर के साथ यह तर्क दिया जा सकता है कि सस्ती एव प्रचुर मात्रा में श्रम की उपलब्धि सामान्य रूप से औद्योगिक प्रगति-एवं विशेष रूप से औद्योगिक युक्तीकरण के मार्ग में बडी बाधा सिद्ध हो सकती है; क्योंकि उत्पादको में आधुनिक आधार पर नवीन क्रिया अपनाने की प्रेरणा का तब तक अभाव पाया जाता है, जब तक कि वे, सही अथवा गलत, यह विश्वास करते है कि श्रम की प्रचुरता के चलते निम्न-मजदूरी-उत्पादन के ऐसे कम चमकदार तरीके, जिसमे पूँजी की अपेक्षा श्रम की अधिकता पाई

जाती है, की उत्पादक अकुशलता को विस्थित कर देती है। कृषि की सीमाकारी स्थिति में 'सहज एवं सस्ती तकरीकी प्रगति' (उदाहरण के लिए, रासायनिक खाद का प्रयोग एवं फसलों के उत्तम हेर-फेर) को बढ़ावा देना, प्रतिवेदन करना जैसा है, और मानो अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं की उत्पादन-कुशलता एवं उच्च जीवन-स्तर के लिए उद्योगों में अपेक्षाकृत जटिल एवं खर्चीले तकनीकी प्रयोगों पर अधिकाधिक मात्रा में निर्भर रहना, एक प्रकार का धोखा जान पड़ता है।

हमें यह बतलाया जाता है कि 'कुछ-एक अल्प-विकसित देशों में जहाँ पर श्रम की अत्यधिक प्रचुरता रहती है, मुख्य समस्या पूँजी बचाने वाले नये लाभदायक तकनीकों का पता लगाना है' (पृ०31)। ऐसा संभवतः इसलिए होता है कि प्रचुर श्रम के परिणाम-स्वरूप निम्न मजदूरी की दर 'श्रम बचाने वाले' उपायों को बेकार तथा दुर्लभ एवं मूल्यवान पूँजी के प्रयोग में मितव्ययिता को आवश्यक बना देती हैं। फिर भी, ऐसा कहना उचित होगा कि जहाँ जनसंख्या की अत्यधिक प्रचुरता है, वहाँ पर बचत अनुपात के दिया हुआ होने पर, निपज में वृद्धि की दर में अपेक्षित वृद्धि उच्च पूँजी-निपज अनुपात की अपेक्षा निम्न पूँजी-निपज अनुपात से अधिक संभव है, चूँकि 'पूँजी प्रयोग करने वाले' औद्योगिक आधार (जैसे रेलवे) के निर्माण में अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्था को अपनी बचाने की सीमित शक्ति की तुलना में बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए ऐसा तर्क दिया जा सकता है कि इस प्रकार की अर्थ-व्यवस्था को 'पूँजी बचाने के' तरीकों के आधार पर तकनीकी प्रगति में रुचि रखनी चाहिए। प्रतिवेदन में अल्प-विकसित क्षेत्रों को अधिक तकनीकी सहायता की प्रबल आवश्यकता पर उचित रूप में जोर दिया गया है, किन्तु इसने तकनीकी सहायता के समग्र प्रश्न को फलनीय तरीके से या तो बचत-अनुपात या पूँजी-निपज-अनुपात और इसलिए प्रगति की तकनीक की दृष्टि से संभव दर से सम्बद्ध न करने की भूल के परिणाम-स्वरूप इसे आवश्यकता से कम ही महत्त्व दिया है। संक्षेप में, जब तक जनसंख्या में वृद्धि की दी हुई दर की तुलना में निपज में वृद्धि की दर के निर्धारक के रूप में तकनीक के प्रश्न को आकस्मिक रूप से महत्त्वपूर्ण प्रदर्शित नहीं किया जाता, तब तक 'पूँजी बचाने के' उद्योगों के पक्ष में तर्क निर्णयात्मक नहीं हो सकता।

जनसंख्या के संबंध में, प्रतिवेदन जनसंख्या में उत्पादन से अधिक होने की प्रवृत्ति की पारंपरिक निराशावृत्ति को अस्वीकार करता है। इसके विपरीत यह इस मान्यता को स्वीकृति प्रदान करता है कि उत्पादन में जनसंख्या से अधिक तीव्र गति से वृद्धि की जा सकती है। यह बिना संशय के मान लिया जाता है कि जीवन-स्तर प्रति व्यक्ति निपज की वृद्धि का फलन, यानी निपज की वृद्धि की दर में जनसंख्या की वृद्धि की दर के भाग के बराबर है। अतएव, जहाँ तक निपज में वृद्धि की दर बचत-अनुपात पर फलनीय तरीके से आश्रित है, जीतन-स्तर को उठाने का एक

निश्चित तरीका जनसख्या मे वृद्धि के साथ-साथ पूँजी-संचय की दर मे वृद्धि करना है। जहाँ जनसख्या की वृद्धि की तुलना मे पूँजी बहुत अधिक दुर्लभ है, वहाँ प्रतिवेदन में जनसंख्या मे वृद्धि से अधिक उत्पादन बढाने की धनात्मक नीति के साथ-साथ प्रसवन-दर मे कमी की ऋणात्मक नीति का अनुमोदन किया गया है (पृ०48)। विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के समर्थ मांग के सभावित प्रोत्साहन की तरह अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे जनसख्या की वृद्धि के सबध में जैसा कि हैरोड मानते है,[1] वैसा कोई भ्रम नही है। बाद मे प्रतिवेदन इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर देता है कि यदि सयुक्त राज्य की तरह, जनसंख्या कि वृद्धि की तुलना मे बचत-अनुपात बहुत उच्च हो तो उन्हे विशेषत: जनाधिक्यवाली अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ को, जिन्हे इसकी बहुत अधिक आवश्यकता है, अतिरिक्त रूप से प्रदान किया जाना चाहिए (देखें पृ० 77)।

'घरेलू पूंजी-निर्माण'-सबधी अध्याय पूँजी के अभाव तथा उद्योग की प्रगति के विरोध पर सस्थापकीय जोर के साथ-साथ पूर्ण रोजगार मे बहुत अधिक पूँजी की सभावित बाधा पर केन्स जितना जोर देता है, ठीक उसके विपरीत है। यह एक प्रकार से तर्क-सयुक्त विरोधाभास है, क्योंकि पहिला अल्प -विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के अनुरूप है, जबकि दूसरा विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ के लिए हैं। अन्य बातों के साथ-साथ आर्थिक प्रगति को नवीन पूँजी-निर्माण की दर का फलन मानते हुए, प्रतिवेदन पूँजी-सचय के मार्ग की उन सीमाओ तथा कठिनाइयों की चर्चा करता है; जैसे—बचाने एव विनियोग करने की अपेक्षा गुप्त सचय की प्रवृत्ति, प्रति व्यक्ति निम्न आय, बचत-सबधी संस्थाओं का अपूर्ण विकास, मध्यम एंव उच्च आयवाले वर्गो मे प्रदर्शन उपभोग की प्रवृत्ति। फिर भी इसमे पूँजी-निर्माण के मार्ग की कुछ प्रमुख कठिनाइयो की चर्चा नही की गई है; जैसे—मितव्यता को हतोत्साहित करने में राजनीतिक अस्थायित्व, टिकाऊ वस्तुओं से रुचि हटाने के लिए उत्तरदायी युद्धोत्तरकालीन अनिश्चयता, उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगो से पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगो मे साधनो की सापेक्ष अगतिशीलता तथा समानता के प्रति सामाजिक एव नैतिक प्रवृत्ति (विशुद्ध-वादी व्यष्टिवाद की तुलना मे जिसे मैक्स वेवर के पाठक पूँजी-निर्माण के आधार पर आर्थिक विषमता को ऐतिहासिक औचित्य के रूप मे जानते है)। ये बाद की कठिनाइयाँ अशत: उद्योग की सरचना एवं समग्र माँग की बनावट तथा अंशतः सहकारी जीवन की गहरी सामंतवादी परपराओं के परिणाम-स्वरूप हैं। जब इन बाधाओ को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है, तो पूँजी-सचय की दर मे वृद्धि का कार्य प्रतिवेदन में वर्णित तरीके से भी अधिक कठिन हो जाता है। सिद्धातत:, यह स्पष्ट है कि निपज में वृद्धि की दर को सभवत: बचत के अनुपात का नही, वरन् उसी

1. देखें, आर० एफ० हैरोड, 'टूवार्ड्स ए डायनेमिक इकॉनामिक्स,' मैकमिलन, लदन, पृ० 106-15।

परिवर्त्ती के, जो पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता को व्यक्त करता है तथा जो समुदाय की बचाने की इच्छा से अधिक उद्योग आदि की संरचना के द्वारा निर्धारित होता है, फलन बनाने की आवश्यकता होगी। तब यह समझने में सुविधा होगी कि क्यों, उदाहरण के लिए, युद्धोत्तर काल में जापान बचाने की अपेक्षाकृत ऊँची औसत क्षमता के बावजूद अपनी युद्धोत्तर-कालीन पूँजी की आवश्यकताओं के अनुरूप पूँजी-संचय की दर को प्राप्त करने में असफल रहा है[1]

प्रतिवेदन में उन अल्प-विकसित देशों के विकासात्मक कार्यों के लिए 'बलात् बचत' के निर्णायक महत्त्व पर उचित रूप में जोर दिया गया है, जहाँ संस्थानिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों से स्वेच्छिक बचत इतनी कम है कि सरकार को कर मुद्रा-स्फीति, साधनों के विनिधान की प्राथमिकता तथा विनिमय-नियन्त्रण (मुख्यत: पूँजी के बाहर जाने के विरुद्ध) आदि के द्वारा विकासात्मक पूँजी प्राप्त करनी पड़ती है। यह अनिच्छापूर्वक इस बात को स्वीकार करता है कि स्फीति के बग़ैर द्रुतगति से आर्थिक विकास सम्भव नहीं है (पृ० 42)। ऐसा अंशत: इसलिए है कि जहाँ पहिले से ही जीवन-स्तर बहुत निम्न है, वहाँ उपभोग में राजकोषीय तरीकों के द्वारा अनिवार्य कमी का विकल्प असह्य है और मुख्यत: इसलिए कि मूल्य-स्फीति के परिणाम-स्वरूप 'मौद्रिक भ्रम का प्रभाव' यह पड़ता है कि कागजी मुनाफाखोरों तथा कागज़ी मजदूरी उपार्जित करनेवाले की अपनी वास्तविक आय तथा वाँछित समृद्ध स्थिति के सम्बन्ध में भ्रम दूर होने के पूर्व पूँजीगत वस्तुओं की पूर्ति बढ़ जाती है। पूँजी-संचय पर स्फीति के उत्तेजक प्रभावों के विरुद्ध निम्न तथा मध्यम आयवाले वर्गों का स्वेच्छिक बचत पर हतोत्साहित करने वाला संघात प्रारम्भ हो जाता है। फिर भी, यह संदिग्ध है। प्रथमत:, अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में निम्न तथा मध्यम आयवाले वर्गों की बचत इतनी अधिक नहीं होगी कि उन्हें उच्च मूल्यों के परिणाम-स्वरूप इनके वास्तविक मूल्य में कमी के लिए चिन्ता करनी पड़े। दूसरी बात यह है कि सभी स्थायी आयवाले वर्गों में लगान-उपजीवी की बचत ही सर्वाधिक प्रभावित होगी तथा जिनकी बचाने की सीमान्त क्षमता किसी भी प्रकार साहसियों से कम होगी। इस स्थिति में विकासात्मक स्फीतिजनक वित्तीयकरण के परिणामस्वरूप उच्च मूल्यों के वितरणात्मक प्रभाव से स्वेच्छिक बचत में महत्त्वपूर्ण कमी नहीं होगी।

उपभोग में कमी के बग़ैर पूँजी-संचय में वृद्धि की सम्भावना विशेषत: उन देशों में स्वीकार की गई है, जिनमें अपेक्षाधिक कृषि-मजदूर होते हैं और जिनके पूँजीगत उद्योगों में स्थानांतरण से उपभोक्ता वस्तुओं की निपज में कमी की सामान्य रूप से कोई आशा नहीं की जाती है; किन्तु, 'अपूर्ण रोजगारवालों' को गतिशील

---

1. तुलना कीजिए के० ओकावा का 'दि ग्रोथ रेट ऑफ जापानीज इकॉनामी, हायरम, फरवरी, 1952।

बनाने में सन्निहित सम्भावित अवरोधों—जैसे श्रम की अगतिशीलता (यदि पारिवारिक सम्बन्धो के कारण नही तो अपर्याप्त परिवहन-सम्बन्धी कठिनाइयो के परिणाम-स्वरूप) तथा 'कम-मजदूरी वालो' को पर्याप्त काम दिलाने में 'किसी कारण-विशेष' के अभाव की कोई चर्चा नही की गई है।

घरेलू पूंजी के अभाव को पूरा करने के लिए पूंजी के आयात के पक्ष मे अपने तर्क मे विशेषज्ञों ने उन तकनीकी तथा गैर-तकनीकी कठिनाइयो को, जो रास्ते मे रुकावटें उपस्थित करती हैं, उचित मान्यता दी है। इस प्रकार वे अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ की 'वर्तमान राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध मे इनके जोखिमपूर्ण अनुमान' तथा 'अल्प-सांख्यिकीय' सूचना के सम्बन्ध मे चर्चा करते है। किन्तु वे उन प्रत्यायात्मक कठिनाइयो के महत्त्व पर, जो बचत की समग्र धारणा मे सन्निहित है, जोर नही देते। उदाहरण के लिए, कॉलिक क्लॉर्क की आलोचना जापान के उस बचत-अनुपात के अत्यकन के लिए की गई है, जिसके अन्तर्गत कितनी ही उपभोक्ता-सम्बन्धी पूंजी की मदें (उदाहरण के लिए, अर्द्ध-टिकाऊवस्त्र सम्मिलित है), जिन्हे साधारणतया अलग रखा जाता है। वास्तविक राष्ट्रीय सम्पत्ति आंकडो पर आधृत बचत की इतनी विस्तृत धारणा के प्रयोग से सांख्यिकी के ऊर्ध्व विस्तार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे सम्बद्ध देश को भूल से पूंजी आयात करने वाले के बजाय 'अतिरिक्त' बचत को निर्यात करने योग्य समझा जाने लगता है। दूसरी ओर, चूंकि देश को भ्रमवश समुदाय की बचत की क्षमता के अनुरूप पूंजीगत वस्तुओ को उत्पन्न करने योग्य समझा जाता है, इसलिए उपर्युक्त उद्योग की सरचना के प्रभाव तथा समग्र मांग की रचना की उपेक्षा से अधोमुख सांख्यिकी के झुकाव की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय और एव व्युत्पन्न घरेलू बचत-अनुपात के सम्बन्ध मे 'जोखिमपूर्ण' अनुमान भी लगाने के पूर्व ही इन प्रत्यआत्मक समस्याओ को ठीक कर लेना चाहिए। एक दूसरे अर्थ मे भी प्रतिवेदन कमजोर जान पड़ता है, अर्थात् अल्प-विकसित देशों की पूंजीगत आवश्यकताओ और विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के अत्यधिक पूंजी की इति-हास-प्रसिद्ध ह्रासमान सीमांत-क्षमता से परिसीमित वर्तमान निवेश-सम्बन्धी अवसरो के अनुपात मे अधिक बचाने की प्रवृत्ति से उत्पन्न स्थायित्व-जनित खतरे के बीच सम्बन्ध जोडने की सम्भवत इच्छित असफलता ही वह कमजोरी है। यह भूल उन लोगो के द्वारा, जो केन्स एव हैन्सेन के स्थायित्व-सम्बन्धी परिकल्पना का दृढतापूर्वक विरोध करते है, दुर्बलता की बजाय कदाचित् दृढता समझी जायगी। मेरा विचार केवल यह है कि जब प्रतिवेदन विकसित अर्थ-व्यवस्थाओ से अविकसित अर्थ-व्यवस्थाओं मे पूंजी के निर्यात की सिफारिश, उन विकसित देशो के लिए जिनकी प्रवृत्ति हैरोड के पूर्ण रोजगार के साथ 'प्रगतिशील साम्यावस्था' के मार्ग से विचलित होने की है, इस प्रकार के निर्यात के लाभो (उदाहरण के लिए सम्भावित अत्यधिक ...लू बचत के लिए अतिरिक्त विकास तथा निर्यात गुण्य के रूप मे कार्य करनेवाले

लाभाँश एवं ब्याज का अन्तिम अतःप्रवाह) का वर्णन किये वग़ैर, करता है, तो यह कम विश्वासजनक है।

ऐतिहासिक एवं राजनीतिक तथा कुछ हद तक आर्थिक कारणों से प्रतिवेदन अल्प-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए पूंजी-निर्यात में बहुत कम लाभ देखता है। इसके विपरीत, यह अन्तर-सरकारी उधारदान तथा बहुराष्ट्रीय विकासात्मक वित्त की वांछनीयता एवं सम्भावना पर अधिक विश्वास रखता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अन्तर-सरकारी उधारदान पर जोर देने के कारण, 'हस्तांरण-समस्या', जो विशेषज्ञों के अनुसार सफल विकास के क्रम में पूर्णरूप से सदा के लिए समाप्त हो जायगी; वे उसकी परम्परागत चिन्ता से प्रभावित होने के लिए तैयार नहीं होते। विश्व-बैंक कीआलोचना इसकी वर्त्तमान उधारदान नीति की विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं पर आधारित न होकर विदेशी मुद्रा की आवश्यकताओं के अनुमान पर आधृत होने के लिए की जाती है। इसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की उपलक्षित आलोचना समझा जा सकता है; क्योंकि कोष का उद्देश्य विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कठिनाइयों का समाधान करना है, जिससे बैंक अपना ध्यान दृढ़तापूर्वक केवल विकासात्मक उधारदान पर केन्द्रित कर सके, किन्तु केन्स द्वारा जोर दिये गये विशुद्धतः तकनीकी एवं ग़ैर-राजनीतिक आधार पर उधारदान के अभाव से दूर हटने के खतरे के विरुद्ध, विशेषतः आज के अन्तर्राष्ट्रीय तनाव एवं संघर्ष के विक्षुब्ध युग में, चेतावनी न देने के लिए प्रतिवेदन की आलोचना की जा सकती है।

ऊपर जो बातें कही गई हैं, उनमें किसी का भी ऐसा अर्थ नहीं लगाना चाहिए, जिससे संयुक्त राष्ट्र के विशेषज्ञों द्वारा समस्या के सामान्यतः सुन्दर विश्लेषण पर सन्देह प्रकट किया जा सके। सामान्य अधिमत के तौर पर यह कहना अनुचित न होगा कि समीक्षा से सम्बद्ध प्रतिवेदन आने वाले कई वर्षों के लिए आर्थिक विकास की अत्यावश्यक प्रवेशिका के रूप में कार्य करता रहेगा। किन्तु, इसकी नीति-सम्बन्धी सिफ़ारिशें गतिशील विश्व की अर्थ-व्यवस्था के लिए कम स्थायी महत्त्व की हैं। परन्तु सम्पूर्ण प्रतिवेदन में सबसे बड़ी बात आर्थिक क्षेत्र में सहयोग की नई भावना है, जो अर्थशास्त्रियों की संकुचित तकनीकी दृष्टि से बहुत दूर तथा युद्ध के पूर्व राष्ट्रीयता वादियों के 'साम्राज्यवादी' क्षितिज से बहुत ऊपर है।